# माण्डूकी शिक्षा का समीक्षात्मक अध्ययन
## (विशिष्ट शिक्षाग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में)

**बुन्देलखण्ड विश्व विद्यालय, झाँसी में**

**पी-एच०डी० (संस्कृत) उपाधि हेतु**

**प्रस्तुत शोध प्रबन्ध**
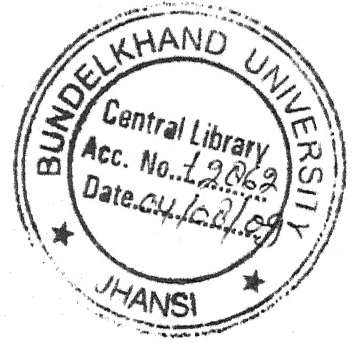


**2008**

*शोध निर्देशक:-*
*डॉ० धर्मेन्द्र पाल सिंह*
*रीडर, संस्कृत विभाग*
*कालपी (पी०जी०) कॉलिज,*
*कालपी (जालौन)*

*शोध कर्ता:-*
*धीरज दीक्षित*

*शोध केन्द्र*
**कालपी (पी०जी०) कॉलिज, कालपी (जालौन)**

# कालपी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कालपी

**डॉ. धर्मेन्द्रपाल सिंह**

एम.ए.,एम.फिल.,पी–एच.डी.,
प्रा.व्याकरणाचार्य,विद्यावाचस्पति
उपाचार्य(रीडर)
अध्यक्ष संस्कृत विभाग

दूरभाष:
कार्या0–05164 274605
मोबा. –9415943074
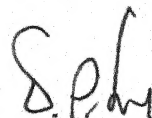
पत्रांक.

दिनांक...15/01/2008

## प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि धीरज दीक्षित पुत्र श्री अवधेश नारायण दीक्षित ने **"माण्डूकी शिक्षा का समीक्षात्मक अध्ययन (विशिष्ट शिक्षा ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में)** मेरे निर्देशन में 200 दिन उपस्थित रहकर उक्त सावधि में अपना शोध कार्य पूर्ण कर लिया है। यह सर्वथा मौलिक शोध प्रबन्ध है।

एतदर्थ अग्रिम कार्यवाही हेतु उक्त शोध–प्रबन्ध की संस्तुति कर अग्रसारित कर रहा हूँ। साथ ही मैं प्रार्थी के उज्जवल भविष्य की कामना करता हूँ।

(डॉ० धर्मेन्द्र पाल सिंह)

# प्राक्कथन

अध्ययन–पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होने की हार्दिक–अभिलाषा एवं वैदिक ज्ञान के प्रति उत्कट जिज्ञासावश जब मुझे बी०ए० तथा एम०ए० के अध्ययनकाल में वैदिक ग्रन्थों को पढ़ने का सुअवसर मिला तब मुझे यह किंचित् ज्ञान हुआ कि वास्तव में वेदाङ्गों में 'शिक्षा' का विशेष महत्व है। वेद विश्व–वाङ्मय का प्राचीनमत ग्रन्थ रत्न है। वेद भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान–कोष है। भारतीय प्राचीन परम्पराओं का सम्यगबोध वेदाध्ययन के बिना सम्भव नहीं है। वेदाध्ययन हेतु 'शिक्षा' वेदाङ्ग का अनुशीलन अपरिहार्य है।

इस पुनीत कार्य में अनेक विघ्न बाधाओं के उपस्थित होने पर जिन्होंने पग–पग पर मेरा पथ–प्रदर्शन किया, कार्याभिरूचि पूर्वक सतत् क्रियाशील रहने का जिन्होंने निर्देश दिया। उन परम पूज्य पाद गुरूवरेण्य डॉ0 धर्मेन्द्र पाल सिंह, रीडर एवं विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, कालपी (पी०जी०) कॉलिज, कालपी (जालौन) की सत्प्रेरणा से तथा जिनके सफल निर्देशन में मेरा यह शोध–प्रबन्ध **"माण्डूकी शिक्षा का समीक्षात्मक अध्ययन (विशिष्ट शिक्षा–ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में)"** सम्पन्न हुआ। मैं उनका हार्दिक आभार प्रकट करते हुए उनके कमल वत् चरणों की वन्दना करता हूँ। परन्तु आभार–प्रदर्शन मात्र से मैं ऋणमुक्त नहीं हो सकता हूँ।

पुनः मैं आभार व्यक्त करता हूँ, श्रद्धेय गुरूवर डॉ० रामेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, रीडर एवं विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, राम स्वरूप ग्रामोद्योग स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पुखरायाँ, कानपुर देहात, (उ०प्र०) के प्रति जिन्होंने मुझे यथावसर, यत्किंचित् निर्देश दिया एवं सत्प्रेरणा प्रदान की।

इस शोध–प्रबन्ध के पूर्ण होने में विद्वानों में अग्रगण्य परम श्रद्धेय डॉ० जगप्रसाद जी चतुर्वेदी, प्राचार्य श्री आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, उरई (जालौन) विद्वानों में वरेण्य डॉ० शिव सम्पत द्विवेदी, आचार्य, श्री कृष्ण संस्कृत उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, इटौरा (जालौन) उ०प्र० सम्मानित गुरूवर डॉ० दया शंकर त्रिपाठी, रीडर एवं विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, गांधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई (जालौन) का यथोचित मार्ग निर्देशन एवं सत्प्रेरणा रही है। मैं उनका आभारी हूँ। मैं उन सभी विद्वानों के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में किंचिदपि सहायता प्राप्त हुई है। उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति आभारी हूँ जिनकी कृतियों से मुझे शोध कार्य के सम्पादन में सहायता प्राप्त हुई है।

पुनः मैं अपने जीजा जी डॉ० प्रवीण कुमार पाण्डेय, प्रवक्ता सनातन धर्म इण्टर कालेज, उरई (जालौन) एवं स्हेनमयी बहिन श्रीमती शिल्पा पाण्डेय के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस पुनीत कार्य के प्रति मेरी शिथिलता को देखकर मुझे बारम्बार सतत् कर्तव्य–परायणता हेतु ऊर्जस्वित किया।

मैं अपने देवस्वरूप परमपूज्य पिता श्री अवधेश नारायण दीक्षित वात्सलमयी जननी श्रीमती उर्मिला दीक्षित एवं परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति विशेषरूप से आभारी हूँ जिन्होंने मुझे विविध घरेलू समस्याओं से मुक्त रखकर अध्ययन हेतु पूर्ण अवसर देकर शोधकार्य की सम्पन्नता में पर्याप्त सहयोग एवं अन्यविध विविध सहयोग प्रदान किया।

मैं अपने परमपूज्य पितृव्य इं० श्री कैलाश नारायण दीक्षित के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने शोध सम्बद्ध विविध सामग्री उपलब्ध कराने में भरपूर सहयोग किया। मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

अततः मैं इस शोध प्रबन्ध के टंकणकर्ता श्री मानवेन्द्र निरंजन को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने शीघ्रातिशीघ्र टंकण कार्य सम्पन्न किया।

ज्ञान के क्षेत्र में मानव जीवन में कभी पूर्णता नहीं आती है। इसलिए मेरा यह शोध प्रबन्ध मानव–कृति होने से इसमें कुछ अपूर्णता, कुछ त्रुटियाँ तथा कुछ नवीनताएँ आ सकती है। इस शोध प्रबन्ध में जो कुछ नवीनार्थता है वह सब मेरे गुरूजनों की महती कृपा से है, शेष के लिए मैं उत्तरदायी हूँ। अतः उन त्रुटियों के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

धीरज दीक्षित

(धीरज दीक्षित)

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग

कालपी (पी०जी०) कॉलिज

कालपी (जालौन) उ०प्र०

# विषयानुक्रमणिका

## द्वितीय अध्याय

## तृतीय अध्याय

## चतुर्थ अध्याय



## पंचम अध्याय

## षष्ट अध्याय



## सप्तम् अध्याय

## अष्टम् अध्याय

## नवम् अध्याय



## दशम् अध्याय

# संकेताक्षर सूची

| | | |
|---|---|---|
| अथ० सं० | – | अथर्व संहिता |
| अनु० | – | अनुवाकानुक्रमणी |
| अष्टा० | – | अष्टाध्यायी |
| अ० वे० | – | अथर्ववेद |
| अथ० परि० | – | अथर्व परिशिष्ट |
| अ० वृ० सर्वा० | – | अथर्ववेद वृहद् सर्वानुक्रमणिका |
| अ० को० | – | अमर कोश |
| अमो० शि० | – | अमोघानन्दिनी शिक्षा |
| अ० नि० शि० | – | अवसान निर्णय शिक्षा |
| आ० शि० सू० | – | आपिशलि शिक्षा सूत्र |
| आ० ध० सू० | – | आपस्तम्ब धर्म सूत्रम् |
| आपि० शि० | – | आपिशलि शिक्षा |
| आ० शि० | – | आरण्य शिक्षा |
| इटि० आफ यास्क | – | इटिमोलोजी आफ यास्क |
| उ० सू० | – | उणादि सूत्र |
| ऋ० सं० | – | ऋग्वेद संहिता |
| ऋ० प्रा० | – | ऋग्वेद प्रातिशाख्य |
| ऋ० तं० | – | ऋक् तन्त्र |
| ऋ० सर्वा० | – | ऋक्सर्वानुक्रमणिका |
| ऋ० भा० भू० (सायण) | – | ऋग्वेद भाष्य भूमिका (सायण) |
| ऐ० ब्रा० | – | ऐतरेय ब्राह्मण |

| | | |
|---|---|---|
| ऐ० आ० | – | ऐतरेय आरण्यक |
| क्रम० सं० शि० | – | क्रम संधान शिक्षा |
| के० शि० | – | केशवी शिक्षा |
| कौह० शि० | – | कौहलीय शिक्षा |
| का० नि० शि० | – | काल निर्णय शिक्षा |
| काशि० | – | काशिका |
| कौ० सू० | – | कौशिक सूत्र |
| कौ० उ० | – | कौषीतकी उपनिषद् |
| ग० र० म० | – | गणरत्न महोदधि |
| गौ० शि० | – | गौतमी शिक्षा |
| गो० ब्रा० | – | गोपथ ब्राह्मण |
| च० सं० | – | चरक संहिता |
| च० पारा० शि० | – | चतुर्थ पाराशरी शिक्षा |
| चारा० शि० | – | चारायणी शिक्षा |
| चा० व० शि० सू० | – | चान्द्र वर्ण शिक्षा सूत्र |
| च० अ० | – | चतुरध्यायिका |
| च० ब्यू० | – | चरणब्यूह |
| छ० सू० | – | छन्द सूत्र |
| छ० अनु० | – | छन्द अनुशासन |
| छा० उ० | – | छान्दोग्योपनिषद् |
| तै० सं० | – | तैत्तिरीय संहिता |
| ता० ब्रा० | – | ताण्ड्य ब्राह्मण |
| तै० आ०(सा०भा०) | – | तैत्तिरीय आरण्यक (सायण भाष्य) |
| तै० उ० | – | तैत्तिरीय उपनिषद् |

| | | |
|---|---|---|
| तै० प्रा० | – | तैत्तिरीय प्रातिशाख्य |
| ना० शि० | – | नारदीय शिक्षा |
| न्या० म० | – | न्याय मन्जरी |
| निरू० | – | निरूक्त |
| ना० शा० | – | नाट्य शास्त्र |
| पा० शि० | – | पाणिनीय शिक्षा |
| पारि० शि० | – | पारि शिक्षा |
| पा० शि० शि० स० स० | – | पाणिनीय शिक्षा शिक्षान्तरै सह समीक्षा |
| प्लु० शि० | – | प्लुतानुशासन शिक्षा |
| पद० का० र० मा० | – | पद कारिका रत्न माला |
| पा० शि० सू० | – | पाणिनीय शिक्षा सूत्र |
| प्र० परि० | – | प्रतिज्ञा परिशिष्ट |
| प्र० सू० | – | प्रतिज्ञा सूत्र |
| प्रा० प्र० शि० | – | प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा |
| मी० सू० | – | मीमांसा सूत्र |
| म० स्मृ० | – | मनु स्मृति |
| मुण्ड० उ० | – | मुण्डकोपनिषद् |
| मै० उ० | – | मैत्रायणी उपनिषद् |
| म० भाष्य० | – | महा भाष्य |
| मुक्ति० उ० | – | मुक्तिकोपनिषद् |
| म० भारत | – | महा भारत |
| मै० सं० | – | मैत्रायणी संहिता |
| माध्य० शि० | – | माध्यनन्दिनी शिक्षा |
| माण्ड० शि० | – | माण्डव्य शिक्षा |

| | | |
|---|---|---|
| मा० शि० | – | माण्डूकी शिक्षा |
| म० स्वा० शि० | – | मनः स्वारः शिक्षा |
| म० श० शि० | – | मल्लशर्म शिक्षा |
| यजु० सं० | – | यजुर्वेद संहिता |
| यजु विं० शि० | – | यजुर्विधान शिक्षा |
| या० शि० | – | याज्ञवल्क्य शिक्षा |
| लो० गृ० सू० | – | लोगाक्षिगृह सूत्र |
| ल० का० शि० | – | लक्ष्मी कान्त शिक्षा |
| लो० शि० | – | लोमशी शिक्षा |
| ल० माध्य० शि० | – | लघु माध्यंन्दिन शिक्षा |
| वृ० दे० | – | वृहद देवता |
| वृ० उप० | – | वृहदारण्यकोपनिषद् |
| वा० पु० | – | वायु पुराण |
| वै० वा० का इति० | – | वैदिक वाङ्मय का इतिहास |
| वै० सा० एवं सं० | – | वैदिक सहित्य एवं संस्कृति |
| वा० प्रा० | – | वाजसनेयि प्रातिशाख्य |
| वै० छ० मी० | – | वैदिक छन्दो मीमांसा |
| वि० पु० | – | विष्णु पुराण |
| वे० ज्यो० | – | वेदाङ्ग ज्योतिष |
| वा० प० | – | वाक्य पदीय |
| वर्ण० प० | – | वर्ण पटल |
| वा० शि० | – | वाशिष्ठी शिक्षा |
| व्या० शि० | – | व्यास शिक्षा |
| वर्ण० र० प्र० शि० | – | वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा |

| | | |
|---|---|---|
| वे० लक्षणानु० | – | वेद लक्षणानुक्रमणिका |
| शत० ब्रा० | – | शतपथ ब्राह्मण |
| श० श० प्र० | – | शब्द शक्ति प्रकाशिका |
| शां० आ० | – | शांखायन आरण्यक |
| श० शि० | – | शमान शिक्षा |
| शै० शि० | – | शैशरीय शिक्षा |
| शौ० शि० | – | शौनकीय शिक्षा |
| श्रीमद् भ० गी० | – | श्रीमद् भगवद् गीता |
| षो० श्लो० शि० | – | षोड्श श्लोकी शिक्षा |
| षड्विं० ब्रा० | – | षड्विंश ब्राह्मण |
| सि० शि० | – | सिद्धान्त शिक्षा |
| सर्व स० शि० | – | सर्व सम्मत शिक्षा |
| स्वरा० शि० | – | स्वराकुंश शिक्षा |
| स्वराष्ट० शि० | – | स्वराष्टक शिक्षा |
| स्व० रा० क्र० | – | स्वराष्ट्रक्रम |
| स्व० भ० ल० शि० | – | स्वर भक्ति लक्षण शिक्षा |
| हा० शि० | – | हारीत शिक्षा |

# भूमिका

भारतीय परम्पराओं के अनुसार वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना गया है। वैदिक ज्ञान नित्य है:, तथा सृष्टि की उत्पत्ति के प्रारम्भ में ईश्वर ने वैदिक ज्ञान का आविर्भाव किया। वेदान्त दर्शन के अनुसार वेद अनादि तथा अपौरुषेय ज्ञान है; जो प्रलय के पश्चात् भी विनष्ट नहीं होता है। वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता के सम्बन्ध में 'मनुस्मृति' के प्रामाणिक टीकाकार कुल्लूक भट्ट का यह कथन है; कि प्रलयकाल में वेद विनष्ट नहीं हुए थे। वे परमात्मा में अवस्थित थे– **"प्रलयकालेऽपि परमात्मनि वेद राशिः स्थितः"**। वेदों की अनादि अनन्त सत्ता के समर्थन में आचार्य शंकर ने अपने भाष्य ग्रन्थ में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित किये है (शंकराचार्यः शारीरिक मीमांसा भाष्य 2/3/1)। जिस तरह ईश्वरीय ज्ञान अनादि, अनन्त एवं अविनाशी है; उसी तरह ईश्वरीय ज्ञान वेद भी अनादि, अनन्त और अविनाशी है। नैय्यायिक वेदों को ईश्वर कृत एवं अनादि मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण तर्काश्रित एवं आस्थाहीन है। भारतीय परम्परा में वेद अपौरूषेय हैं– **"तस्मै नूनन् अभिद्यवेवाचा विरुप नित्यया।"** वेद के अपौरुषेयत्व के विषय में भारतीय दार्शनिकों में मतेक्य नहीं है। मीमांसक आदि वेदों को अकर्तृक अनादि एवं स्वतः प्रमाण मानते हैं– **"अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम"**। वैशेषिक वेदों को ईश्वर प्रणीत मानकर ईश्वरोक्त रूप में इनकी मान्यता स्वीकार करते हैं– **"तद्वचनादाम्नायस्य प्रमाण्यम्"**। सांख्याचार्य तथा वेदान्ताचार्य भी वेद को अपौरुषेय ही मानते हैं। समस्त भारतीय आस्तिक दार्शनिक वेदों के प्रामाण्य के समक्ष श्रद्वाऽवनत है। आचार्य सायण वेद शब्द की मीमांसा करते हुए लिखते हैं– **"इष्ट प्राप्त्यनिष्टपरिहारयोश्लौकिकमुपायं**

**यो ग्रंथो वेदायाति सः वेदः"**। वेदोत्तरसाहित्य भी वैदिक अनुशीलन के कारण अपौरुषेय कहा गया है– **"यो ब्राह्मणं विद्धाति पूर्वं यो वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेताश्वतोपनिषद 6/8)** ।

वेदोत्तरकालीन साहित्य में वेदों को ईश्वर निर्मित तथा अपौरुषेय स्वीकार करके इनकी प्रमाणिकता स्वीकार की गई है। विश्व साहित्य में केवल प्राचीनता की दृष्टि से भी वेद महत्वपूर्ण है। भारतीय दर्शन की अधिकांश विचार धारायें मुक्त कण्ठ से वेदों को प्रामाण्य मानती है। स्मृतियाँ भी वेदों के आदेश एवं उपदेश को मूर्धन्य स्थान प्रदान करती हैं। मनु के अनुसार– **"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनुस्मृति 2/6)** ।

'वेद' अनन्त ज्ञान राशि का वह अक्षय्य भण्डार है। जो आर्यों के पूर्वजों (ऋषियों) के द्वारा परिलक्षित तथा आविष्कृत होकर नाना प्रकार के मंत्रों एवं विधानों के समूह के रूप में प्रादुर्भूत हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण (3/9) तथा कौषीतिक ब्राह्मण (10/30) के अनुसार वेद मंत्रों का अवलोकन किया। जिसके अनुसार यास्क ने निरुक्त में तथा कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमसूत्र' में मंत्र दर्शियों को ऋषि की संज्ञा से सम्बोधित किया है– **"ऋषयः मन्त्रदृष्टारः न तु कर्त्तार।"** वेद को ऋषियों ने समाधिस्य अवस्था में प्राप्त करके छन्दोमयीवाणी के रूप में प्रकट किया। जिमरमैन के कथनानुसार– **"वेद अनादि है; और ईश्वर कृत है तथा किसी विशेष समय में किन्हीं ऋषियों ने उनका (वेदों का) ज्ञान प्राप्त करके उन्हें प्रकाशित किया"।**

'वेद' की गौरव गरिमा के समक्ष सम्पूर्ण विद्वत्मण्डली एवं अध्येता एक मत से नतमस्तक है। वेद ऐसी दिव्यवाणी है। जो देशकाल, इतिहास की सीमाओं में न बंधकर समान रूप से सदा सबको कल्याण का निर्देशन करती रही है। भारतीय वाङ्मय

में वेदों का गुणगान सदा किया जाता रहा है। हमारे साहित्य में जो स्थान वेदों को प्राप्त है; वह इतर ग्रन्थों को नहीं है।

'वेद' भाव एवं भाषा की दृष्टि से एक जटिल एवं दुरुह विषय है। इसे सरल तथा सुबोध करने के लिये विद्वानों ने एक नूतन सूत्र साहित्य का प्रणयन किया। यह सूत्र साहित्य वेदाङ्ग के नाम से प्रसिद्ध है। वेदों को समझने एवं तद्नुरूप कार्य–कलाप के संचालन के निमित्त वेदाङ्गों की प्रवृत्ति हुई है– **"अति गम्भीरस्य वेदस्य अर्थमबोधियितु शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि' (सायणाचार्य)** मुण्डकोपनिषद् में वेदाङ्गों को अपरा विद्या के अन्तर्गत निरुपित किया है– **"तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पोव्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति" (मुण्ड०उप० 1/5)**। वेदाङ्गों की संख्या छः है। (क) शिक्षा (ख) कल्प (ग) निरूक्त (घ) छन्द (ड़) ज्योतिष (च) व्याकरण। **"शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरूक्तं ज्योतिषं तथा। कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिण"**। पाणिनीय शिक्षा में इन षड्वेदाङ्गों की एक वेद पुरुष की कल्पना की गई है। उसके विभिन्न शारीरिक अवयवों के रुप में छः वेदाङ्गों का उल्लेख किया है। जिसके अनुसार छन्द वेद पुरुष के पैर है; कल्प हाथ है; ज्योतिष नेत्र है, निरुक्त कान है, शिक्षा नासिका है, व्याकरण मुख है–

**"छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।**
**ज्योतिषामयनं चक्षुनिरुक्तंश्रोत्रमुच्यते।।**
**शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरण स्मृतम्।**
**तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।"(पाणिनीय शिक्षा 41, 42)**

वेदाङ्गों में शिक्षा का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। वेद मंत्रों के उच्चारण को ठीक से समझने के लिए स्वरों के ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि भाषा के

स्वरूप ज्ञान के लिए व्युत्पत्ति अर्थ ज्ञान एवं वाक्य ज्ञान अनिवार्य है। शुद्धोच्चारण वाणी की प्रथम आवश्यकता है। क्योंकि पाणिनी शिक्षा में ऐसा कहा गया है कि बिना शुद्धोच्चारण किये मनुष्य अपना अभीष्ट नहीं प्राप्त कर सकता है– **"मन्त्रो हीनः स्वरतोवर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्"।। (पाणिनीय शिक्षा–52)।** शुद्धोच्चारण शिक्षा का प्रयोजन एवं लक्ष्य दोनों है। जिसमें स्वरवर्णाद्युच्चारण शिक्षा दी जाती है। उसे शिक्षा कहते हैं– **"स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा"। (सायण ऋ० भा० भू० पृष्ठ 49)।** शिक्षा शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जा सकती है। प्रथम योगगत तथा रुढिशक्तिगत। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार– **"शिक्षयति या सा शिक्षा।"** अर्थात् जो वर्णोच्चारण की विधि बतलाता है; उसे शिक्षा कहते हैं। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार– **"शक्तु शक्तो भवितुम् इच्छा शिक्षा।"** अर्थात् सामर्थ्य की इच्छा होना ही शिक्षा का तात्पर्य है। इसमें सामर्थ्य के अन्तर्गत रूढ़ शब्दों के उच्चारण इत्यादि के विषयों को सम्मिलित किया जाता है। सामान्यतः योग से निष्पन्न अर्थ को मानते हुए जिस किसी विषय को सिखाने वाले ग्रन्थ को शिक्षा–ग्रन्थ कहा जाता है। यद्यपि शिक्षा–ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय उच्चारण विधि ही हैं। फिर भी इनमें वर्णों की संख्या, स्थान–करण आदि विषयों में बहुत वैषम्य उपलब्ध होता है।

सम्प्रति माण्डूकी शिक्षा पर कोई विशिष्ट अनुसंधान कार्य अद्यावधि दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। एतदर्थ शिक्षा–ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले उच्चारण एवं स्वर विषयक अनेक विप्रतिपत्तियों से होने वाले आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों के सन्देह अधिकाधिक अंश में इस शोध प्रारूप के अध्ययन से दूर होंगे।

# प्रथम अध्याय

## (वैदिक वाङ्मय का स्वरूप)

'वेद' शब्द सामान्य रूप से मन्त्र एवं ब्राह्मण में ही प्रयोग किया जाता है। जिनका मनन किया जाए, उन्हें मन्त्र कहते हैं। अर्थात् यज्ञ विधि का अनुष्ठान एवं देवताओं की स्तुति जिनके द्वारा की जाती है। उन्हें मन्त्र कहते है। मन्त्र तीन प्रकार के होते है–पद, गद्य और गान। इन से ही ऋग्, यजु, साम इस प्रकार बताये गये है। उनके मध्य में स्थित यजुर्वेद पद दोनों वेदों में उपजीवित होता है। ब्राह्मण पद यथार्थ वाची है। यज्ञ विधि प्रतिपादक ब्राह्मण साङ्ग होता है। मीमांसा सूत्र के भाष्यकार शबर स्वामी ब्राह्मणात्मक मन्त्र को वेद स्वरूप मानते है।[1] प्राचीन काल में वेद एक ही था। वह वेद तीन या चार भागों में विभाजित हो गया है। विद्वानों के इन प्रश्नों में मतैक्यता नहीं हैं। किन्हीं के मत में तीन ही वेद थे। कुछ विद्वान चार वेद मानते है। दोनों पक्षो के विषय में कुछ कहा जाता है कि वेद तीन ही स्वीकार किये जाते हैं। विद्वानों के मत में तीन वेदों के उपचित अंश ही अथर्ववेद के द्वारा कहे जाते हैं। जहाँ ये अंश संग्रहीत है; वही अथर्ववेद नाम से जाना जाता है। इसीलिए ऋग्वेद[2], ऐतरेय ब्राह्मण[3] और मनुस्मृति[4] में तीन वेदों का उल्लेख प्राप्त किया जाता है।

तीन वेदों के द्वारा प्रतिदिन नियत रूप से होने वाले अग्नि होत्रादि कर्म प्रति पादित किये जाते है। किन्तु अथर्ववेद के द्वारा तो ब्राह्म कर्म समझे जाते है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार जब प्रजापति का यज्ञ होता है तो उसी के द्वारा ऋचा होता यजुष्

---

1. "मन्त्राश्च ब्राह्मणंच वेदः।" –मी०सू० 2/1/60
2. ऋचः सामानि जज्ञिरे।
   --------यजुस्तस्मादजायत। –ऋ०सं० 19/90/9, यजुर्वेद 31/7
3. त्रयो वेदाः अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेराजायत,
   यजुर्वेदः वायोः सामवेदः आदित्यात्। –ऐ०ब्रा० 5/32
4. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मासनातनम्।
   दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्।। –म0 स्मृ0 1/23

अध्वर्यु साम उद्गाता अथर्व और अङ्गिरा ऋषि के द्वारा ब्रह्मकर्म बताया गया है।[1] गोपथ ब्राह्मण के अनुसार तीनों वेदों के द्वारा यज्ञ का एक ही पक्ष किया जाता है। किन्तु अथर्ववेद का ब्रह्मा मन के द्वारा यज्ञ के दूसरे पक्ष को संस्कारित करता है।[2] ऋग्वेद में भी अथर्ववेद का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] यजुर्वेद में अथर्ववेद का परिगणन है।[4] अथर्ववेद में चारों वेदों का उल्लेख पूर्वक ब्राह्मण के मुख से अथर्ववेद परिगणित होता है।[5] मुण्डकोपनिषद में अपराविद्या के कथन काल में अथर्ववेद का निर्देश है।[6] गोपथ ब्राह्मण में स्पष्ट वाणी के द्वारा तीन वेदों के साथ अथर्ववेद का संकेत है।[7] निरुक्त में यास्क ने अथर्ववेद का तीन वेदों के साथ परिगणन किया है।[8] चरण ब्यूह में भी ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद कहे गये है।[9] मैत्रायणी उपनिषद् में कहा गया है, कि चारों वेद जगत् कर्ता परमेश्वर की श्वास के समान है।[10]

---

1. गो० ब्रा० 1/3/2
2. स वा एषत्रि भिवेदिर्यज्ञन्यान्तरः पक्षः संस्क्रियते।
   मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति।। —गो०ब्रा० 3/2
3. अग्निजातोऽथर्वा। —ऋ०सं० 10/21/5
4. ऋचाः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत्।—यजु०सं० 31/7
5. यस्मा दृचौ अपात्तक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्।
   सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।। —अथ०सं० 10/7/20
6. तत्रापरा ऋग्वेदों यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। —मुण्ड०उ० 1/1/5
7. चत्वारो वा इमे वेदाः ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। —गो०ब्रा० 9/2/16
8. निरू० 1/2
9. तत्र यदुक्तम् चातुर्वेद्यम् चत्वारो वेदाः विज्ञाताः भवन्ति।
   तत्र ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति।। —च० ब्यूह 2
10. मै० उ० 6/32

चारों वेदों का कहीं अभेद के द्वारा और कहीं भेद द्वारा व्यवहार में प्रयोग होता है। यह अर्थ वेद के द्वारा ही जाना जाता है। यहाँ वेद ही शरण है। वेद ही प्रमाण है। जहाँ अनुद्धृता अवयव विवक्षा होती है। वहाँ एक वचन ही होता है। और जहाँ उद्धृता विवक्षा होती हैं वहाँ बहुवचन होता है। न्याय दर्शन के अनुसार ही वेद के एक वचन में अथवा बहुवचन में व्यवहार देखा जाता है। वे अवयव तीन है। ऋग्यर्जुसाम वाच्य है। उनमें नियत पदावसान वाले ऋग्वेद के मन्त्र होते है। अनियत पदावसान वाले यजुर्वेद के मन्त्र होते है। प्रगीत साध्य ऋचाएं सामवेद की होती है। इन्हीं तीन रीति के द्वारा वेद में 'त्रयी' शब्द रूढ़ होता है। चतुर्थ भी एक अवयव है। अथर्ववेद में निर्दिष्ट ऋचाएं अथर्वणिक मन्त्र की जाती है। परन्तु इन मन्त्रों के सूक्ष्म आर्न्तहित होने से वैदिको ने पृथक निर्देश नही किया है। इसीलिए ऋग्बहुल ऋग्वेद, यर्जुबहुल यजुर्वेद, सामबहुल सामवेद, अथर्वणिक मन्त्रों की बहुलता से अथर्ववेद इस प्रकार से इन वेदों की प्रसिद्धि है।

## ऋग्वेद का परिचय

ऋग्वेद संहिता जगत् की प्राचीनतम रचना है। भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार सभी वेद समकालिक ही है। किन्तु वैदिक साहित्य का अध्ययन करने वाले अनेक पाश्चात्य विद्धानों ने ऋग्वेद को सबसे प्राचीन माना है। ऋग्वेद का अर्थ–ऋचाओं का वेद। छन्दों बद्ध मन्त्रों को 'ऋक्' कहते है और वेद शब्द का अर्थ "ज्ञान" है। इस प्रकार ऋचाओं का ज्ञान ऋग्वेद शब्द से अभिहित होता है। जैमिनीय सूत्रों के अनुसार जहाँ अर्थवशात् पाद रचना है, उन छन्दोंबद्ध मन्त्रों को 'ऋचा' या 'ऋक्' की संज्ञा दी गई है।[1] तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि यज्ञ में जिस कृत्य का सम्पादन सामन् या यजुष् के द्वारा होता है, वह शिथिल है, और जो ऋक् के द्वारा सम्पादित होता है। वह सुदृढ़ है।[2] ऋग्वेद में यज्ञों का महत्व, देवताओं की उपासना आदि विषयों का विशद् विवेचन

---

1. तेषामृक्यत्रार्थवशेन पाद व्यवस्था स्यात्। –जै०सू० 2/1/35
2. यद् वैयज्ञस्य साम्ना यजुषां क्रियते शिथिलं तद् यद्
   ऋचा क्रियते तद् दृढ़मिमि। –तै०सं० 6/5/10/3

हुआ है। किन्तु ऋग्वेद का मुख्य विवेच्य विषय देवताओं की स्तुति ही है। परन्तु इन देवस्तुतियों के साथ–साथ अन्य विषय भी देखने को मिलते है।

## ऋग्वेद का रचनाक्रम

ऋग्वेद का विभाजन दो प्रकार से है–अष्टक क्रम और मण्डल क्रम।

**अष्टक क्रम–**

ऋग्वेद को आठ अष्टकों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय है। इस प्रकार चौसठ अध्याय है। प्रत्येक अध्याय के आवान्तर विभाग वर्ग पद से जाने जाते है। प्रत्येक वर्ग में ऋचाओं की संख्या भिन्न–भिन्न है। प्रत्येक वर्ग में पाँच ऋचाएं है। कुल वर्गों की संख्या दो हजार छः है।

**मण्डल क्रम–**

विद्वानों के मत में मण्डल क्रम का विभाग वैज्ञानिक क्रम है। यह दस मण्डलों में विभक्त है। प्रत्येक मण्डल में अनुवाक होते है। अनुवाको में सूक्त होते है। सूक्तों में मन्त्र होते है। दस मण्डलों में पच्चासी अनुवाक है। एक हजार अट्ठाईस सूक्त है। इसके अतिरिक्त 11 सूक्त बाल खिल पद से जाने जाते है। और बत्तीस खिल है। इनका स्थान आठवें मण्डल में है। समस्त सूक्तो में 10580 मन्त्र विद्यमान है।[1] ऋचाओं की शब्द संख्या 1,53,826 है।[2] पदों में अक्षरों की संख्या 4,32,000 है। किन्तु ऋग्वेद के अक्षरों के विषय में विद्वानों में मतैक्य नही है।

## ऋग्वेद की शाखाएं

सम्प्रति प्रमुख रूप से पांच शाखायें ही प्राप्त है।

---

1. ऋचा दशसहस्त्राणि ऋचां पंचशतानि च,
   ऋचामशीतिः पादश्च पारणं सम्प्रकीर्तितम्। –वै०सा०एवं सं० पृष्ठ 108 से।
2. शाकल्यदृष्टेः पदलक्षमेकं सार्धन्च वेदे त्रिसहस्त्रयुक्तम्।
   शतानि चाष्टौ दशद्वयंच पदानि षष्ठ् चेति हि चर्चितानि।। –अनु० 45

(1)शाकल शाखा–

सम्प्रति शाकल शाखा की ही संहिता उपलब्ध है। इस शाखा के अनुसार 'समानी वा आकूती' यह अन्तिम मन्त्र है।[1]

(2)वाष्कल शाखा–

वर्तमान में यह शाखा उपलब्ध नहीं है।

(3)आश्वलायन शाखा–

वर्तमान में यह शाखा भी उपलब्ध नहीं है। किन्तु इस शाखा से सम्बन्धित श्रौत गृह्य सूत्र प्राप्त होते है।

(4)शाखांयन शाखा–

सम्प्रति यह शाखा उपलब्ध नहीं होती हैं। किन्तु इस शाखा से सम्बन्धित ब्राह्मण, आरण्यक प्राप्त है।

(5)माण्डूकायन शाखा–

प्राचीन काल में इस शाखा के अनेक शास्त्र थे। किन्तु इस समय एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं। ऐसा अनुमान है, कि सभी काल कवलित हो गये है।

## यजुर्वेद का परिचय

'यजुष्' की व्युत्पत्ति√यज् धातु से होती है। 'यजन्' करने वाले को 'यजुष्' कहते है। यहाँ अध्वर्यु कर्म में उपकारी मन्त्रों का संकलन है। ये मन्त्र 'यजुष्' पद कहे जाते है। जैमिनी सूत्र के अनुसार, गद्य को 'यजुष्' संज्ञा दी गई है।[2] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इस वेद (यजुर्वेद) के दो सम्प्रदाय है– ब्रह्म और आदित्य। आदित्य सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्ल यजुर्वेद है[3] ब्रह्म सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है।

---

1. –ऋ०सं० 10/191/4
2. शेषे यजुः शब्दः। –जै०सू० 2/1/37
3. आदित्यनामानिशुक्लानि यजूँषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्ये नाख्यायन्ते। –शत०ब्रा० 14/9/5/33

शुक्ल यजुर्वेद में मन्त्रों का संग्रह एवं दश पौर्णमासादि अनुष्ठानों का वर्णन है, किन्तु कृष्ण यजुर्वेद में छन्दोबद्ध मन्त्रों के अतिरिक्त गद्यात्मक ब्राह्मण–विनियोग वाक्यों का भी मिश्रण है। इस मिश्रण के कारण ही इसे कृष्ण यजुर्वेद की संज्ञा दी गई है। विद्वानों ने शुक्ल यजुर्वेद को ही विशेष महत्व प्रदान किया है। यजुर्वेद में वैदिक कर्मकाण्ड का निरुपण है।

## शुक्ल यजुर्वेदीय शाखाएं

शुक्ल यजुर्वेद की मन्त्र संहिता वाजसनेयी संहिता के नाम से जानी जाती है। इसकी प्रधान दो शाखायें सम्प्रति प्राप्त होती है।

**(1)काण्व शाखा**–इस शाखा का प्रचार दक्षिण भारत में है।

**(2)माध्यन्दिन शाखा**–इस शाखा का प्रचार उत्तर भारत में है।

## कृष्ण यजुर्वेदीय शाखाएं

यद्यपि चरण व्यूह में छियासी शाखाओं का उल्लेख मिलता है।[1] किन्तु इस समय चार शाखाएं उपलब्ध होती है।

**(1)तैत्तिरीय शाखा**–कृष्ण यजुर्वेद की यह प्रमुख शाखा है। इसमें सात काण्ड, चवालीस प्रपाठक तथा छः सौ इक्तीस अनुवाक है। इस संहिता का दक्षिण में अधिक प्रसार है। इस संहिता के ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्र आदि समस्त अंग मिलते है।

**(2)मैत्रायणी शाखा**–यह शाखा गद्य पद्यमय है। इस संहिता में चार काण्ड है। इसके प्रथम काण्ड में ग्यारह प्रपाठक, द्वितीय काण्ड में तेरह प्रपाठक, तृतीय काण्ड में सोलह प्रपाठक तथा चतुर्थ में चौदह प्रपाठक है। चतुर्थ काण्ड खिल काण्ड के रुप में प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण मन्त्रों की संख्या दो हजार एक सौ चवालीस है।

**(3)कठ शाखा**–प्राचीन काल में इसका बहुत प्रसार था। महाभाष्यकार पतंजलि ने प्रतिपादन किया है, कि प्रत्येक ग्राम(गाँव) में कठ संहिता के पढने वाले थे।[2]

---

1. यजुर्वेदस्य षऽशीति भेदाः भवन्ति। –च०व्यू० पृष्ठ 31

2. ग्रामे–ग्रामे काठकं कापालकन्च प्रोच्यते। –म०भाष्य 4/3/101

यह संहिता पॉच खण्डों में विभाजित है–इठिमिका, मध्यमिका, ओरमिका, याज्यानुवाक्या और अश्वमेधाद्यनुवचन आदि। इस विभाजन के साथ ही साथ इस शाखा में स्थानक, अनुवचन, अनुवाक तथा मन्त्र उपविभाग भी मिलता है। इस शाखा में 40 स्थानक, 113 अनुवचन और 843 अनुवाक है। एवं मन्त्रों की संख्या 3091 है।

**(4)कपिष्ठल या कठ शाखा–**

चरण ब्यूह में चरक शाखा में ही कठ, प्राच्य कठ, और कपिष्ठल कठ उल्लिखित है।[1] पाणिनी ने भी अपने ग्रन्थ में कपिष्ठल ऋषि का उल्लेख किया है।[2] यह संहिता अपूर्ण है। इसमें आठ अध्याय है।

## सामवेद का परिचय

वैदिक संहिताओं में साम संहिता का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। बृहद् देवता में उल्लेख मिलता है, कि साम को जानने वाला ही वेद को जानने वाला कहा गया है।[3] श्रीमद् गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है, कि मैं वेदों में सामवेद हूँ।[4] अथर्ववेद में सामवेद की प्रशंसा की गई है। उसमें एकत्रित त्रृचा के साथ सामवेद का उद्भव उच्छिष्ट से हुआ है।[5] बृहदारण्यकोपनिषद् में साम शब्द का अत्यधिक रमणीय वर्णन किया गया है। उसमें वह ऋक् अम् अर्थात् गान्धारादि स्वर ऋचाओं के साथ गायन ही सामवेद पद से कहा जाता है। और वह अम् सामवेद का सामत्व कहा जाता है।[6]

---

1. तत्र चरका नाम द्वादश भेदाः भवन्ति–चरकाः भास्वरका कठाः, प्राच्यकठाः कपिष्ठलकठाश्चारायणीया वारायणीया वार्तान्तवेया श्वेताश्वतरा औपमन्यवः पाताण्डनीया मैत्रायणीयाश्चेति। –च०ब्यू० पृष्ट 31
2. कपिष्ठलो गोत्रे। –अष्टा० 8/3/91
3. सामानि यो वेत्ति स वेद तत्वम्। –वृ०दे० 8/13
4. वेदानां सामवेदोऽस्मि। –श्रीमद्०भ०गी० 10/42
5. ऋच सामानि छन्दांसि–––––उच्छिष्टात्तु जज्ञिरे। –अ०वे० 11/7/24
6. सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्। –वृ०उप० 1/3/22

अथवा विघ्नों को नाश करता है अर्थात् शान्त करता है, देवताओं को सन्तोषित करता है, उसे सामवेद कहा जाता है। यहाँ ऋचाओं में गान्धार आदि स्वरों का गान होता है, उसे ही सामपद से जाना जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में स्वर ही साम पद से कहा गया है[1]. जिन ऋचाओं में साम को गाया जाता है, उन्हीं को वैदिक साम के नाम से जानते है। साम संहिता में इस प्रकार के मन्त्रों का संकलन है। अर्थात् साम संहिता में साम उपयोगी ऋचाएं ही वर्णित है। सामवेद के दो भाग है–आर्चिक और गान। आर्चिक पद से ऋक् समूह समझा जाता है। आर्चिक के भी दो भाग है–पूर्व आर्चिक और उत्तर आर्चिक। पूर्व आर्चिक में छः अध्याय है, प्रत्येक अध्याय में एकादश शति है, और दस शति में ऋचाएं है। पूर्व आर्चिक में छः सौ पचास मन्त्र है।

उत्तर आर्चिक में नौ प्रपाठक है, आदि से पाँच प्रपाठकों में प्रत्येक प्रपाठक के दो भाग है और अन्तिम प्रपाठक में तीन भाग है। इसमें एक हजार दो सौ पच्चीस मन्त्र है। इस प्रकार से दोनों में एक हजार आठ सौ पचहत्तर मन्त्र है।

**गान भाग–**

गान चार प्रकार के होते है। और उनको वेय, आरण्यक, ऊह और ऊहीय गान के नाम से जाना जाता है। वेयगान पूर्वार्चिक प्रथम अध्याय के मन्त्रों में होता है। आरण्यक गान अरण्यपर्व में होता है। ऊह और ऊहीय गान उत्तरार्चिक मन्त्रों में होता है। किन्तु सामवेद की शाखाओं में इन गानों की संख्या के विषय में एकता नहीं है। भारतीय संगीत के आधारभूत यही गान है। नारदीय शिक्षा के अनुसार सामवेद में सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छन और उनचास तान है।[2]

---

1. का साम्नो गतिः स्वर इति होवाच। –छा०उ० 1/8/4
2. सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामाः मूर्च्छनास्त्वेक विंशतिः।
   ताना एकोन पंचाश दित्येतत्स्वर मण्डलम्।। –ना०शि० 1/2/4

## सामवेद की शाखाएं–

चरण ब्यूह में सामवेद की एक हजार शाखाएं कही है।[1] पतंजलि ने भी इसके हजार भेद स्वीकार किये है।[2] किन्तु वर्तमान समय में इसकी तीन शाखाएं उपलब्ध होती है।

**(1)कौथुमी शाखा–**

यह शाखा बहुत लोकप्रिय है। इसकी ही ताण्डी नाम की दूसरी शाखा देखी जाती है।[3]

**(2)राणायनीय शाखा–**

यह शाखा कौथुम से मिलती–जुलती है। अर्थात् यह शाखा कौथुम के समान है। आपिशलि[4] एवं महाभाष्य[5] में कहा गया है कि इस शाखा में उसके पढ़ने वाले लोग 'ए' 'ओ' स्वरों में उच्चारण ह्रस्व विधान के लिए करते थे।

**(3)जैमिनीय शाखा–**

इसमें मन्त्रों की संख्या एक हजार छः सौ सतासी है। इस शाखा के ब्राह्मण आरण्यक प्राप्त होते है। जैमिनीय शाखा की तवलकार नामक एक उपशाखा है। जिसका वर्णन केनोपनिषद् में मिलता है। चरण ब्यूह के अनुसार साम मन्त्रों की संख्या 18,000 है[6] और गानों की संख्या 14,890 है।

---

1. सामवेदस्य किल सहस्त्र भेदाः आसन्। —च०ब्यू० पृष्ठ 43
2. सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः। —म०भाष्य 1/1/1
3. अन्येपि शाखिनः ताण्डिनः शाट्यायिनः। —शा०भा० 3/327
4. छन्दोगानां सात्यमु ग्रिराणा यनीया ह्रस्वानि पठन्ति। —आ०शि०सू० 9
5. ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमु ग्रिराणायनीया
   अर्धमेकारं अर्धमोकारं च अधीयते। —म०भाष्य 1/1/4, 48
6. अष्टौ सामसहस्त्राणि सामानि च चतुर्दश,
   अष्टौ शतानि नवति दशतिर्वाल्य खिल्यकम्। —च०ब्यू० 43

# अथर्ववेद का परिचय

वैदिक वाङ्मय में अथर्ववेद का महत्व सुप्रसिद्ध है। जयन्त भट्ट ने सभी वेदों में अथर्ववेद को प्रथम स्थान दिया है।[1] अथर्ववेद परिशिष्ट में तो इसके महत्व को प्रतिपादन करते हुए कहा गया है, कि जिस राजा के राज्य में अथर्ववेद का ज्ञाता निवास करता है। वह राष्ट्र विध्न रहित होकर निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर होता है।[2]

अथर्ववेद अनेक नामों से अविहित है। यथा–ब्रह्मवेद, अङ्गिरसोवेद, अथर्वाङ्गिरसवेद, भृग्वङ्गिरस वेद, क्षत्रवेद, भैषज्य वेद इत्यादि। ब्रह्म वेद का उल्लेख अथर्ववेद में ही है।[3] अङ्गिरस वेद का प्रयोग शतपथ ब्राह्मण में होता है।[4] अथर्वाङ्गिरस का उल्लेख भी अथर्ववेद में होता है।[5] गोपथ ब्राह्मण में भृग्वङ्गिरस का निर्देश देखा जाता है।[6] भैषज्य शब्द का प्रयोग तो अथर्ववेद में ही होता है।[7] अथर्ववेद में अनेक मन्त्र ऐसे है, जो कि विभिन्न रोगों की चिकित्सा से सम्बन्धित है।

अथर्ववेद का विषय विवेचन अन्य तीन वेदों की अपेक्षा अति उत्तम है। अथर्ववेद के वर्ण्य विषयों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है– अध्यात्म, अधिभूत एवं अधिदैवत। अध्यात्म प्रकरण में ब्रह्म के स्वरुप का प्रतिपादन है। अधिभूत प्रकरण में राज्य शासन, संग्राम, कृषि आदि का वर्णन है। अधिदैवत में नाना देवताओं का,

---

1. तत्र वेदाः चत्वारः। प्रथमोऽथर्ववेदः। —न्या०म० 236/238
2. यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वाशान्तिपारगः।
   निवसत्यपि तद्राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम्।। —अथ०परि० 4/6/1
3. तमृचः सामानि यजूंषि ब्रह्म चानुव्यचलन्। —अथ०सं० 5/6/8
4. ता उपदिशति अङ्गिरसो वेदः। —शत०ब्रा० 13/4/3/8
5. सामान्यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्। —अथ०सं० 10/7/20
6. एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद्भृग्वङ्गिरसः। —गो०ब्रा० 3/4
7. ऋचः सामानि भेषजा। —अथ०सं० 11/6/14

यज्ञकाल आदि का प्रतिपादन किया गया है। उपर्युक्त विवेचन से अथर्ववेद का महत्व सिद्ध होता है।

**अथर्ववेद की शाखाएं–**

अथर्ववेद की शाखाओं के विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। स्कन्द पुराण में सौ शाखाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] मुक्तिकोपनिषद् में 50 शाखाओं का निर्देश है।[2] चरण ब्यूह में नौ भेदों का वर्णन है।[3] महाभाष्य में भी अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख है।[4] इस प्रकार अथर्ववेद की नौ शाखाएं प्राप्त होती है।

**(1)पैप्पलाद शाखा–**

पैप्पलाद संहिता में बीस काण्ड है। पैप्पलाद के ब्राह्मण थे। उनमें आठ अध्याय थे। पैप्पलाद संहिता का प्रथम मन्त्र "शन्नोदेवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीयते। शंयोरभिस्त्रवन्तु नः।" है।[5] गोपथ ब्राह्मण पैप्पिलाद शाखा का ही ब्राह्मण है। इसमें भी "शन्नोदेवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीयते। शंयोरभिस्त्रवन्तु नः।" यह मन्त्र मिलता है।[6]

**(2)मौदा शाखा–**

जैमिनीय सूत्र के शाबर भाष्य और अथर्व परिशिष्ट में मौदा का उल्लेख मिलता है।[7]

---

1. अथर्ववेदः यश्चेषः शतशाखो विनिर्मितः। —स्क०पु० 174 (नागर सं०)
2. अथर्वणः शाखास्यु पंचाशद् भेदतो हरेः। —मुक्ति०उ० 1/13
3. अथर्ववेदस्य नवभेदाः भवन्ति। पैप्पला शौनकाः दान्ताः प्रदान्ताः औताः जबालाः ब्रह्मपलाशाः कुनरवीवेददर्शीचारणविद्याश्चेति। —च०ब्यू०(आ०ख०) 47
4. नवधाऽथर्ववेदः। —म०भाष्य 1/1/1 पृ० 71
5. शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीयते, शंयोरभिस्त्रवन्तु नः ————————। अथर्ववेदादिमन्त्रोयं पिप्पलाद् दृष्टः। —छा०मी० भाष्य
6. शन्नो देवीरभिष्टय इत्येवमादिं कृत्वा अर्थर्ववेदम धीयते। —गो०ब्रा० 1/29
7. अथ० परि० 22/3

(3)शौनकीया शाखा–

सम्प्रति प्रसार भूत अथर्ववेद की शाखा शौनकीय है। श्रीमद् भागवद् में इस शाखा का उल्लेख मिलता है।[1] शौनक ऋषि द्वारा यह शाखा प्रवर्तित है। जैमिनीय उपनिषद् में भी शौनक का नामोल्लेख मिलता है।[2]

(4)जाजला शाखा–

गणरत्न महोदधि में इसका उल्लेख प्राप्त किया जाता है।[3]

(5)जलदा शाखा–

इस शाखा का संकेत अथर्व परिशिष्ट में मिलता है।[4]

(6)स्तोदा शाखा–

अथर्व परिशिष्ट में यह शाखा निर्दिष्ट है।[5]

(7)ब्रह्मवदा शाखा–

इस शाखा का उल्लेख चरण ब्यूह में मिलता है।[6]

(8)देवदर्शा शाखा–

कौशिक सूत्र में इस शाखा का उल्लेख मिलता है।[7]

(9)चारण वैद्या शाखा–

अथर्व परिशिष्ट में चारण वैधा शाखा का उल्लेख है।[8]

---

1. श्रीमद्० भा० 1/4
2. जै० उ० 3/1/21
3. जाजलिनोऽपत्यं जाजलाः। —ग० र० म० 3/231
4. पुरोधा जलदो यस्य, मोदे वा स्यात्कदाचन———। —अथ०परि० 2/5
5. अथ०परि० 22/3
6. ब्रह्मपलाशः इति पदेन ब्रह्मवदा एव ज्ञेया। —च०ब्यू० पृष्ठ 47
7. एकादशभिदेवदर्शिनाम्। —कौ०सू० खण्ड 35
8. चारण वैद्यैर्जडेध च मौदेनाष्टाङ्गुलानि च। —अथ०परि० 22/2

वायु पुराण के अनुसार चारण वैद्या शाखा में 6026 मन्त्र थे।[1] किन्तु वर्तमान में उक्त शाखाएं उपलब्ध नहीं हैं। केवल शौनक एवं पैप्पलाद शाखा ही प्राप्त होती है।

**शौनक संहिता–**

अथर्ववेद के सम्पूर्ण मन्त्रों की संख्या बारह हजार है।[2] किन्तु शौनक संहिता में 5987 मन्त्र हैं। अथर्ववेद के काण्डों के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं हैं। कतिपय विद्वान अथर्ववेद को 18 काण्ड वाला मानते है। तो कतिपय विद्वान् 19 काण्ड वाला मानते है। एवं किंचित् विद्वानों के मतानुसार अथर्ववेद 20 काण्ड वाला है। गोपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद बीस काण्डों वाला है। वस्तुतः 19 काण्ड तक लौकिक विषयों का वर्णन है। बीसवें काण्ड में आध्यात्म परक मन्त्र कहे गये है। इस प्रकार अथर्ववेद की शौनक संहिता में 20 काण्ड, 36 प्रपाठक, 730 सूक्त और 5987 मन्त्र संयुक्त है।

## ब्राह्मण साहित्य का परिचय

वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण संहिता का महत्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मण ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ विधान पर विद्वान् पुरोहितों द्वारा की गई व्याख्यायें ही है। ब्राह्मण शब्द ब्रह्मन के व्याख्या करने वाले ग्रन्थों को भी कहते हैं। ब्रह्म शब्द स्वंय अपने अर्थों में प्रयुक्त होता है। उन अनेक अर्थों में एक अर्थ मन्त्र हैं। वैदिक मन्त्रों या ऋचाओं की व्याख्या करने वाले ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण है। ब्रह्म शब्द का दूसरा अर्थ यज्ञ है। याज्ञिक कर्मकाण्ड की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण ग्रन्थों को ब्राह्मण ग्रन्थ कहते है।

निरुक्त में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग वेद भाग में ही देखा जाता है।[3] शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म पद को स्पष्ट रूप से मन्त्र के अर्थ में प्रयोग किया जाता है।[4]

---

1. तथा चारण वैद्यानां प्रमाणं संहितां श्रृणु।
   षट सहस्त्रामृचांमुक्तमृचः षड्विंशतिः पुनः।। –वा०पु० 61/69
2. द्वादशशैव सहस्त्राणि पंचकल्पानि भवन्ति। –च० ब्यू० पृ० 47
3. निरू० 4/27
4. ब्रह्म वै मन्त्रः। –शत०ब्रा० 7/1/155

तैत्तिरीय संहिता की व्याख्या में भट्ट भाष्य ने यही स्वीकार किया है।[4] विश्व के किसी भी धार्मिक साहित्य में ब्राह्मण के समान ग्रन्थों का अभाव है। जहाँ कर्मकाण्ड का और यज्ञ विधियों का पूर्ण रूप से विवेचन किया गया है। यज्ञ के सम्पूर्ण अवयवों का परिचायक ब्राह्मण है।

वैदिक वाङ्मय के सम्पूर्ण स्वरूप को जानने के लिए ब्राह्मणों का ज्ञान होना अनिवार्य है। क्योंकि उनमें श्रौत विधानों का साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन किया गया है। उनके ज्ञान से केवल यज्ञ के नियमों को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण शास्त्रों की उत्पत्ति का ज्ञान होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों का उदय सरस्वती के प्रदेश (क्षेत्र) में हुआ। ताण्ड्य ब्राह्मण में कुरु देश के महत्व का प्रतिपादन किया गया है।[2] जिससे प्रतीत होता है, कि कुरु प्रदेश ही ब्राह्मणों के संकलनों का स्थान था। ब्राह्मण काल विषयक विद्वानों में एक मत नहीं है। पाश्चात्य विद्वान 1100 ई० पूर्व और अर्वाचीन भारतीय विद्वान 3000 ई० पूर्व हुआ स्वीकारते है।[3] भारतीय इतिहास के अनुसार ब्राह्मणों का समय ईसवी से लाख वर्ष पूर्व निश्चित होता है। भारतीय मत में ही अनुमान से और आगम प्रमाण की श्रेष्ठता स्वीकारी है।

पुरातन–काल में ब्राह्मण साहित्य श्रृंखला अति विस्तृत थी, किन्तु उनमें से अधिकांश ग्रन्थ काल कवलित हो चुके है। अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों का मात्र नाम ही उपलब्ध होता है।

**(1)ऋग्वेदीय ब्राह्मण–**

इसके दो ब्राह्मण है– ऐतरेय एवं शांखायन। ऐतरेय ब्राह्मण चालीस अध्यायों वाला है। जबकि शांखायन ब्राह्मण तीस अध्यायों वाला है।

---

1. ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तमन्त्राणाम् च व्याख्यान ग्रन्थः।–तै० सं० 1/5/1
2. एतावतो वात्र प्रजापतेर्वेदिर्यावत् कुरुक्षेत्रमिति। –ता०ब्रा० 25/13/3
3. वै० सा० एवं सं० पृष्ठ 188।

(2)कृष्ण यजुर्वेदीय ब्राह्मण–

कृष्ण यर्जुवेद से सम्बन्धित तैत्तिरीय ब्राह्मण है।

(3)शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण–

शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण कहलाता है।

(4)सामवेदीय ब्राह्मण–

सामवेद के नौ ब्राह्मण है– ताण्ड्य ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, दैवत ब्राह्मण, उपनिषद् ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण।

(5)अथर्ववेदीय ब्राह्मण–

अथर्ववेद का तो मात्र एक ही ब्राह्मण उपलब्ध होता है– गोपथ ब्राह्मण। पण्डित भगवद दत्त एम०ए० के अनुसार आठ अन्य ब्राह्मण वैदिक वाङ्मय मे देखे जाते है।[1] किन्तु इस समय वे प्राप्त नही है। उनके नाम निम्नवत् है–

काठक ब्राह्मण, खाण्डिकेय ब्राह्मण, औरवेय ब्राह्मण, गालव ब्राह्मण, तुम्बुर ब्राह्मण, आरूणेय ब्राह्मण, सौलभ ब्राह्मण तथा पराशर ब्राह्मण।

## आरण्यक का सामान्य परिचय

आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट भाग के सदृश है। अरण्य में पाठ होने के कारण 'आरण्यक' नाम सार्थक है। तैत्तिरीय आरण्यक भाष्य में सायण ने लिखा है, कि इनका अध्ययन अरण्य में किया जाता था। इसलिए आरण्यक कहा गया है।[2] आरण्यकों का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ नहीं है। अपितु आध्यात्मिक तत्वों एवं दार्शनिक चिन्तन का भी समावेश है। आरण्यक साहित्य में प्राण विद्या का प्रधान रूप से व्याख्यान किया गया है। महाभारत का कथन है, जिस प्रकार औषधियों से अमृत प्राप्त होता है,

---

1. वै० वा० का इति० (द्वि०भा०) पृष्ठ 26–34
2. अरण्यणाध्ययनादेतत् आरण्यक मितीर्यते।
   अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।। –तै० आ० (सा०भा०) 6

उसी प्रकार से वेदों से आरण्यक प्राप्त होते है।[1] मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद का जिस भाग में प्राण विद्या के सूक्ष्म तत्व को समझाया गया उसी को आरण्यक कहते है। ऐतरेयारण्यक के अनुसार प्राण ही विश्व का आधार है। सभी भूत प्राणों के द्वारा ही अनुप्राणित है।[2] प्राणों से ही अन्तरिक्ष और वायु उत्पन्न है। ऐसा उल्लेख कौषीतकी उपनिषद् में मिलता है।[3] आरण्यकों में आध्यात्मिक तत्वों का विवेचन ही नहीं, अपितु भाषा विषयक तत्वों का सूक्ष्मतम प्रतिपादन किया गया है[4]। जो आत्मबोध के लिए अनिवार्य है। प्राचीन काल में ब्राह्मणों के अंशभूत आरण्यकों का बाहुल्य था। वर्तमान में पाँच आरण्यक प्राप्त होते है। ऐतरेयारण्यक, शांखायनारण्यक, बृहदारण्यक, तैत्तरीयारण्यक, तथा तवल्कार आरण्यक नामों से जाना जाता है। अथर्ववेद का आरण्यक ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है।

## उपनिषद् सामान्य परिचय

उपनिषद् आरण्यकों में सम्मिलित होने से उन्हीं के विशिष्ट अंग है। ये वेद के अन्तिम भाग है। वेद के सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक है, इसीलिए उन्हें 'वेदान्त' भी कहा जाता है। उपनिषद् वैदिक भावना के विकास के द्योतक है। जिस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, उसी प्रकार वैदिक ज्ञानकाण्ड के लिये उपनिषद् रचे गये। 'उपनिषद्' शब्द की निष्पत्ति दो शब्दों के योग से होती है– 'उप' उपसर्ग और 'निषद्' धातु। 'उप' का अर्थ होता है निकट तथा 'निषद्' का अर्थ है नीचे बैठने वाला।

---

1. आरण्यकच वेदेभ्यः औषधिभ्योऽमृतं यथा। —म० भारत 1/265
2. सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः तद्ययायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्। —ऐ०आ० 2/1/6
3. प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं वायुश्च। —कौ०उ० 12
4. तद्वा इदं वृहती सहस्त्रं सम्पन्नं तस्य यानि व्यंजनानि तच्छरीरं यो घोषः सः आत्मा। —ऐ०आ० पृ० 143

अर्थात् तत्व ज्ञान के लिए गुरु के पास विनम्रता के साथ बैठकर श्रद्धा पूर्वक ग्रहण किया जाने वाला ज्ञान ही उपनिषद् रूप में संग्रहीत है। उपनिषद् शब्द ब्रह्म विद्या का भी द्योतक है। जिसके द्वारा ब्रह्म प्राप्ति अथवा ब्रह्म ज्ञान होता है, एवं मानव के दुःख समाप्त हो जाते है; उसे उपनिषद् कहते है। शंकराचार्य जी के द्वारा अविद्या का नाश दुःख निरोध और ब्रह्म प्राप्ति इस प्रकार के अर्थ को मान कर उपनिषद् पद को ब्रह्म विद्या का द्योतक माना है।[1]

उपनिषदों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कतिपय विद्वान् उपनिषदों की संख्या 200 स्वीकार करते है। परन्तु मुख्य रूप से 11 (ग्यारह) उपनिषद् ही प्रशंसनीय पद को प्राप्त हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य ने ग्यारह उपनिषदों पर भाष्य प्रस्तुत किया है। वे ही प्रामाणिक उपनिषद् है–

1. ईशोपनिषद् 2. केनोपनिषद् 3. कठोपनिषद्
4. प्रश्नोपनिषद् 5. मुण्डकोपनिषद् 6. माण्डक्योपनिषद्
7. तैत्तिरीयोपनिषद् 8. ऐतरेयोपनिषद् 9. छान्दोग्योपनिषद्
10. बृहदारण्यकोपनिषद् 11. श्वेताश्वतरोपनिषद्

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या एक सौ आठ है।[2] किन्तु वर्तमान समय में उपनिषदों की संख्या अठारह ही स्वीकार की जाती है। वे उपनिषद् इस प्रकार है– ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, श्वेताश्वेतर, कौषीतकि, संहिता, महानारायणीय, वाष्कलमन्त्र, छागलेय, आर्षेय तथा शौनक उपनिषद् आदि।

---

1. अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते इत्यस्य व्याख्यायाम्-------।

—मु०उ० (शं०भा०) सं० 1/5

2. सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्।

सकृच्छ्वण मात्रेण सर्वाद्योधनिकृन्तनम्।। —मुक्त० उ० 44

उपनिषदों का प्रतिपाद्य तत्व ज्ञान है। इसमें आध्यात्मिक दृष्टि से ही विचार किया गया है। दृष्टिगोचर सृष्टि सत् है, और इसका मूल कारण तो परम सत् है, उसी की सत्ता से यह गतिमान है। वह सत्ता ब्रह्म है, वही आत्मा है, उसे जानकर मनुष्य अमृत को पा लेता है, जो इस अमृत रूपी उपनिषद् को पा लेता है, वह ब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ है। इसी यथार्थवादी (तत्वज्ञान के परिपूर्ण) दृष्टिकोण को लेकर उपनिषद् की विचारधारा चलती है। इस प्रकार उपनिषद् ही भारतीय दर्शनों की आधार शिला प्रस्तुत करते है।

## वेदाङ्ग साहित्य परिचय

'वेद' एक जटिल एवं दुरुह विषय है। जिसे सरल एवं सुबोध बनाने के लिये विद्वानों ने एक नूतन सूत्र साहित्य का प्रणयन किया। यह सूत्र साहित्य वेदाङ्ग के नाम से प्रसिद्ध है। वेदाङ्ग का तात्पर्य है– वेद के अङ्ग। 'अङ्ग' का व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ है– उपकारक अर्थात् उपकार करने वाले। जिससे किसी वस्तु के स्वरूप ज्ञान में सहायता प्राप्त हो, वह अङ्ग कहलाता है। वेद के भावों एवं अर्थों का ज्ञान कराने में सहायक शास्त्र को वेदाङ्ग की संज्ञा से पुकारा जाता है। वेदाङ्गों में छह अङ्ग सम्मिलित है।[1] वे इस प्रकार है–

(1) शिक्षा (2) कल्प (3) निरुक्त

(4) छन्द (5) ज्योतिष (6) व्याकरण

**(1)शिक्षा–**

'शिक्षा' का वेदाङ्गों में सर्वप्रथम स्थान है। शिक्षा के द्वारा ही स्वर दोष, वर्ण दोष और उच्चारण दोष इत्यादि से मुक्त होना सम्भव है। वैदिक वाङ्मय के विभिन्न वर्णो, स्वरों या शब्दों का उच्चारण किस प्रकार से किया जाए, इसका अवबोध शिक्षा के द्वारा ही होता है।

---

1. शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तम् छन्दौ ज्योतिषमिति षडङ्गानि।

–च०ब्यू० (यजु०सं०) पृ० 31

भाषा के स्वरूप के लिए शुद्धोच्चारण व्युत्पत्ति ज्ञाय, अर्थज्ञान एवं वाक्यज्ञान अनिवार्य है। शुद्धोच्चारण वाणी की प्रथम आवश्यकता है। पाणिनीयशिक्षा का कथन है जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है।[1] शुद्धोच्चारण शिक्षा का प्रयोजन एवं लक्ष्य दोनों है। अतः स्वर एवं वर्ण के उच्चारण की जहाँ पर शिक्षा दी जाती है, उसे शिक्षा की संज्ञा दी गई है।[2] पाणिनीय शिक्षा के अनुसार स्वरवर्णोच्चारक शास्त्र को शिक्षा कहते है।[3] ऋक्प्रातिशाख्य में भी शिक्षा पद का प्रयोग स्वर वर्णोच्चार में उपकारक रूप से किया गया है।[4] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में भी शिक्षा पद का वर्णन मिलता है।[5] मूण्डकोपनिषद् में पराविद्या एवं अपराविद्या के अर्न्तगत शिक्षा पद का वर्णन मिलता है।[6] पाणिनीय शिक्षा में एक वेद पुरुष की कल्पना की गई है। जिसमें 'शिक्षा' को वेद पुरुष की नासिका कहा है।[7]

(2)कल्प–

वेदाङ्ग साहित्य में कल्प स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञादि का विधान इतनी प्रौढ़ तथा विस्तृति पर पहुँच गया था, कि कालान्तर में उनको

---

1. मन्त्रों हीनो स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो नतमर्थमाह।
   स वाग्वज्रो यज्ञमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।। –पा०शि० 52
2. स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।
   –सायण ऋ०भा०भू०पृ० 49
3. पुनर्व्यक्तीकरिष्यामि वाचः उच्चारणे विधिम्। –पा०शि० 12
4. स्वरवर्णोच्चारकं शास्त्रम् शिक्षा। –ऋ०प्रा०पृ० 10
5. अथ शिक्षा विहिताः। –वा०प्रा० 1/29
6. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदऽथर्ववेदः,
   शिक्षा कल्पो व्याकरणम् निरुक्तम् छन्दो ज्योतिषम्। –मुण्ड०उप० 1/5
7. शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। –पा०शि० 42

क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का कार्य आवश्यक प्रतीत हुआ। जिससे प्रचलित शैली के अनुरूप इन ग्रन्थों की रचना 'सूत्र शैली' में की गयी। 'कल्प' शब्द का अर्थ है– वेद में विहित कर्मो का क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने वाला शास्त्र।[1] जहाँ यज्ञ प्रयोग की विधियों का निरूपण किया गया है। उस शास्त्र को कल्प पद से जाना जाता है। कल्प सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय वैदिक कर्मकाण्ड ही है। कल्प सूत्र चार प्रकार के है– श्रौतसूत्र, गृहय सूत्र, धर्म सूत्र, तथा शुल्व सूत्र। श्रौत सूत्र वे है जिनमें श्रौत योगों का क्रमबद्ध विवरण है। गृहय सूत्र के अर्न्तगत गृहाग्नि साध्य यज्ञों, विवाहादि संस्कारो और शाला निर्माण तथा कृषि कर्मों का विधान है। धर्म सूत्रों में नीति, धर्म, प्रथाओं, चारो वर्णो और आश्रमों के कर्त्तव्यों और सामाजिक व्यवहारोपयोग नियमो का विवरण है। शुल्व सूत्रों में वेदी के निर्माण से सम्बद्ध नाप तथा वेदी निर्माण के नियमों का विवरण है। शुल्व सूत्र ही भारत के गणित शास्त्रीय सर्व प्राचीन ग्रन्थ कहे जा सकते है।

(3)निरुक्त–

वेदार्थ ज्ञान के लिए वस्तुतः निरुक्त ही एक प्रामाणित साधन है। 'निर' उपसर्ग पूर्वक √विच् धातु से परिभाषणार्थ में 'क्त' एवं 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर निरुक्त शब्द की सिद्धि होती है। निरुक्त पद के प्रयोजन के विषय में विद्वानों में मतैक्यता का अभाव है। पाश्चात्य विद्वानों एवं उनके अनुयायियों के लिए यास्क निरुक्त मानव बुद्धि का दुरुपयोग ही है। उसकी निर्वचन पद्धति भी दोष युक्त है।[2] ऐसा अनुमान किया जाता है, कि शब्दान्वाख्यान निरुक्त के लक्ष्य को चिन्तन करके ही पदवाक्य प्रमाण यास्क के प्रति इनकी दोष दृष्टि है।

षड्अङ्गों में व्याकरण के साथ निरुक्त की भी गणना की गई है। यास्क ने निरुक्त को व्याकरण का पूरक स्वीकार करके अपने–अपने अर्थ का साधक भी कहा है।[3]

---

1. कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र स कल्पः। –ऋ०भा०भू० (सायणाचार्य)
2. इटि० आफ यास्क पृष्ठ 8
3. तदिदं विद्या स्थानं, व्याकरणस्य कात्स्न्र्यं स्वस्वार्थसाधकम्। –निरू० 1/15

इस प्रकार से अनुमान किया जाता है कि यास्क का कथन सत्य है। क्योंकि निरुक्त और व्याकरण में प्रयोजन साम्यता नहीं है। अन्यथा उसका अंगत्व होना बाधित होता। निरुक्त और व्याकरण ये दोनो विधायें है। इसलिए दोनों का प्रयोजन भी भिन्न–भिन्न है। व्याकरण का प्रयोजन शब्दान्वाख्यान है किन्तु निरुक्त का प्रयोजन अर्थान्वाख्यान है। एक शब्द के जितने अर्थ सम्भव है उनको निरुक्त बोध कराता है। जहाँ एक धातु के द्वारा शब्द का वाच्यार्थ बोध नहीं होता है वहाँ समरूप अन्य धातुओं का आश्रय लेना चाहिए। यास्क ने भी निरुक्त के लक्षार्थ का अर्थान्वाख्यान ही किया है। यास्क के मतानुसार समानार्थक धातुओं का निर्वचन भी समान है। एवं भिन्नार्थक का भिन्न मतानुसार अर्थ की दृष्टि से निर्वचन करना चाहिए। यद्यपि स्थूल दृष्टि से प्रतीत होता है कि प्रकृति प्रत्यय निर्देश पूर्वक शब्दान्वाख्यान उसको भी इष्ट है। किन्तु विचार करने पर ज्ञात किया जाता है कि अर्थान्वाख्यान ही यास्क का प्रतिपादन है। निरुक्त के व्याख्याकार दुर्ग भी निरुक्त का प्रयोजन अर्थान्वाख्यान स्वीकार करते है। अन्नम् भट्ट ने भी निर्वचन को नामार्थान्वाख्यान ही स्वीकार किया है। इस प्रकार के न्याय से निर्वचन पद का शब्दार्थन्वाख्यान ही केवल नहीं होता है अपितु अर्थान्वाख्यान भी होता है। यहाँ अर्थान्वाख्यान ही प्रधान है। दुर्ग वृत्ति में बारह निरुक्त कारो का उल्लेख किया है। उनके नाम है– औदुम्बरायण, गार्ग्य, शाकपूर्ण, उपमन्यु, आग्रायण, क्रोष्टुकि, वार्ष्यामणि, गालव, तेटीक्कि, स्थोलाष्टी, औणनाभ, कात्थक्य। यद्यपि वह निरुक्त चौदह भेदो को कहकर सूचित करता है।[1] कि चौदह निरुक्त थे उनमें बारह पहले कह दिये गये है तेरहवें यास्क थे तो फिर चौदहवें कौन थे? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर वह मौन स्वीकार करता है। उर्पयुक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि निरुक्त के वक्ताओं में यास्क अन्तिम आचार्य है। महाभारत में[2]

---

1. निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदम्। –निरु० 1/13

2. यास्कोऽपि मामृषिख्यग्रो नैकयतेषुगीतवान्––––––––––।
   यत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्।। –म०भारत(शा०प०) 342/72–73

और शतपथ ब्राह्मण[1] में उल्लेख होने से यास्क का काल भी महाभारत के समकालीन ही है। निरुक्त का प्रतिपाद्य विषय वर्णागम, वर्ण विपर्यय, वर्णनाश, वर्ण विकार एवं धातुओं का अनेकार्थक प्रयोग करना ही है।[2]

(4) छन्द–

छन्द का भी षड़अङ्गो में परिगणन किया गया है। संस्कृत वाङ्मय में भी वैदिक छन्दों को मन्त्राक्षर परिज्ञान में और अर्थज्ञान में उपकारी माना गया है। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के लिए छन्द का यथार्थ ज्ञान अनिवार्य है। नाट्य शास्त्र में ऐसा उल्लेख प्राप्त है कि छन्दहीन शब्द का अस्तित्व नहीं होता है।[3] निरुक्त वृत्ति में भी कहा गया है कि छन्द के अभाव में वाणी का उच्चारण असम्भव है।[4]

संस्कृत भाषा में छन्द बहुअर्थ वाचक है। यहाँ उन्हीं अर्थो का उपस्थापन किया जाता है। जिनके द्वारा वेदाङ्गत्व की पुष्टि होती है। उनमें सूर्य की किरणें गायत्री के सात छन्दों में कही गई है।[5] कात्यायन मुनि ने ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणिका में अक्षर परिमापक छन्द को ही कहा है।[6] अथर्ववेद की बृहत् सर्वानुक्रमणिका में भी छन्द को अक्षर

---

1. पाराशर्यो जातुकर्व्याज्जातुकर्ण्यो भारद्वाजात् भारद्वाजो भरद्वाजाच्चासुरायणाच्च यास्काच्च। –शत०ब्रा० 14/5/5/21
2. वर्णागमो वर्ण विपर्ययश्च, द्वौ चापरो वर्ण विकार नाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तुदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्।। –निरु०
3. छन्दो हीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्णितम्। –ना०शा० 14/40
4. नाच्छन्दसि वागुच्चारति। –निरु० 6/2
5. सप्ताश्वरूपश्छन्दांसि वहन्तो नामतोधुरम्। गायत्री चैव त्रिष्टुप् च अनुष्टुप्जगती तथा, पङ्क्तिश्च वृहती चैव उष्णिक् चैव सप्तमम्।। –वा०पु० 51/64/65
6. यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः। –ऋ०सर्वा० 2/6

–संख्यावच्छेदक कहा गया है।[1] इस प्रकार समझा जाता है कि जिसके द्वारा उच्चारण काल में गद्य पद्य की अक्षर संख्या का ज्ञान होता है, उसे छन्द कहा गया है।

छन्द के बहुत से निर्वचन प्राप्त होते है। दैवत ब्राह्मण में √छिदि धातु से[2] एवं शतपथ ब्राह्मण में √छद् धातु से[3] इस शब्द की निष्पत्ति की गई है। उणादि सूत्र में यह शब्द √चिदि धातु से निष्पादित है।[4] छन्द सूत्र के वृत्तिकार हर्षट ने √चिदि धातु से ही छन्द शब्द की व्युत्पत्ति मानी है।[5] अमर कोश की व्याख्या में क्षीर स्वामी ने षान्त एवं अकारान्त दोनो को छन्द शब्द का बोधक स्वीकार किया है।[6]

सम्प्रति उपलब्ध छन्द ग्रन्थों में पिङ्गल का ही छन्दसूत्र प्रमाण भूत है। संस्कृत वाङ्मय में पिङ्गल के पूर्व भी छन्द शास्त्र के वक्ताओं के नामों का उल्लेख प्राप्त है। वे नाम है– शिव पार्वती, नन्दी, गुह, सैतव, कोहल, ताण्डी, इन्द्र, शुक्र, कपिल, माण्डव्य, वशिष्ठ, भरत, कौण्डिन्य, अश्वतर, कम्बल, काश्यप, वाभ्रव्य, सनत्कुमार, बृहस्पति, पतंजलि, शौनक, यास्क, आश्वलायन, पिङ्गल इत्यादि आचार्य है।[7] पिङ्गल छन्द सूत्र में लौकिक वैदिक छन्दों का संगम सुशोभित होता है।

---

1. छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदक मुच्यते। –अ०वृ०सर्वा०/पृष्ठ 1
2. छन्दांसि छन्दयतीति वा। –दैव०ब्रा० 1/3
3. यदस्मा अच्छदयंस्तस्माच्छन्दसि। –शत०ब्रा० 8/5/21
4. चन्देरादेश्च छ, इत्यनेन चदिधातोः असि, चकारस्य चादेशे सति छन्दः निष्पाद्यते। –उ०सू० 5/4/219
5. छन्दति ह्लादं करोति दीव्यते वा श्रव्वतया इति छन्दः। –छ०सू० (जयदेवः) 2/1
6. छन्दति छन्दः (छन्दस्) छन्दयति आह्लादयते छन्दः। –अ०को० 2/7/22, 3/3/232
7. वै०छ०मी० 64

पिङ्गल से अर्वाचीनों के छन्द शास्त्र ग्रन्थ लौकिक मात्र है। संस्कृत वाङ्मय में ग्यारह छन्द शास्त्र के प्रवक्ताओं में देवनन्दी, जयदेव, गणस्वामी, दण्डी, पाल्यकीर्ति, दभसागर, मुनिजयकीर्ति, कालिदास, केदार भट्ट, हेमचन्द्र, गङ्गादास आदि प्रमुख है।[1] इनके द्वारा लौकिक छन्दों का ही विवेचन किया गया है। उनमें छन्दों के मात्रिक और अक्षर इस प्रकार से दो भेद है। मात्रिकाओं में मन्त्र के अनुसार और दूसरे में अक्षर के अनुसार पद रचना अथवा मंत्र रचना होती है। वेदों में अक्षर छन्द की ही प्रधानता है। अक्षर छन्द दो प्रकार के होते है, और वह अक्षर गणना के अनुसार ही अक्षर निरूपण वाला होता है। जहाँ केवल अक्षरों को मानकर पद्यरचना हुई है, वहाँ अक्षरों के अनुसार गणना होती है। एवं जहाँ पदों के अनुसार अक्षर गणना होती है, वहाँ पदाक्षर के अनुसार मन्त्र होता है। अक्षर शब्द स्वर वाच्य होता है।[2]

वैदिक छन्दों के विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। कुछ विद्वान तीन[3], चार[4], सात[5], चौदह[6], इक्कीस[7], छब्बीस[8], प्रकार के छन्दों का उल्लेख करते है।

---

1. वै०छ०मी० 65–66
2. स्वरोऽक्षरम् स्वराद्येर्व्यंजनैः, उत्तरैश्चावसितैः। —वा०प्रा० 1/99
3. गायत्री, त्रिष्टुब्जगती। —ऋ०सं० 1/164/23
4. गायच्येवोष्णिगभवत्, पङ्क्तिमल्पामपेक्षते। अनुष्टुपेव तेन च चत्वारिभाषते। —छ०अनु० 6/1/7
5. हयाश्च सप्तछन्दांसि तेषां नामानि मैश्रृणु, गायत्री च बृहत्युष्णि जगती त्रिष्टुवेव च। अनुष्टुप् पङ्किरित्युक्ताश्छन्दांसि हरयो खेः। —वि०पु०(द्वितीयांश) 7/8
6. चतुर्दशेत्यं कविभिः पुराणेश्छन्दांसि दृष्टानि समीरितानि। इयन्ति ह्ष्टानि तु संहितायामन्यानि वेदेष्वपरेषु सन्ति। —ऋ०सं० (वेंकटमाधवकृत व्याख्या)
7. गायत्र्युष्णिमनुष्टुबबृहतीपङ्कितत्रिष्टुब्जगती इति जगतीशक्कर्यति शक्कर्यष्टयत्यष्टिधृत्यतिधृतिकृतिप्रकृत्याकृतिविकृतिसंकृत्य भिकृत्युत्कृत्येक विशंति छन्दांसि। —सर्वानु क्र०(प्रथम पटल)पृ० 37
8. षड्विंशतिः स्मृतान्येभिः पादेश्छन्दांसि। संख्यया। —ना०शा० 4/43

अथर्ववेद के अनुसार प्रत्येक छन्द में चार अक्षर होते है।[1] इसलिए पहले से आरम्भ कर छब्बीस तक वैदिक छन्दों में 104 अक्षर होते है। इनमें गायत्री के पहले पाँच छन्दों का व्यवहार नहीं होता है।[2]

इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक वाङ्मय में छन्दों का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। छन्दोंबद्ध मन्त्र विशिष्ट भावों को प्रकाशित करने में सर्वथा सक्षम होते है। वेदों की विलक्षण छन्दोमय वाणी सहृदयों, भक्तों एवं श्रद्धालुओं को परमानन्द प्रदान करने में सक्षम है।

(5)ज्योतिष–

वेद प्रवृत्ति यज्ञ सम्पादन के लिये है। उसमें समय–शुचि अनुकूल ग्रह–नक्षत्रादि की दृष्टि से ज्योतिष् की अनिवार्यता है। यह ज्ञान ज्योतिष के द्वारा ही सम्भव है। इसलिये वेदाड्.गों में ज्योतिष की गणना की गई है वेदाड्.ग ज्योतिष में आचार्य लगध ने प्रतिपादन किया है कि जो व्यक्ति ज्योतिष जानता है वही वेद को भी जानता है।[3]

ज्योतिष शास्त्र का अन्य नाम ज्योतिः शास्त्र भी आता है, जिसका अर्थ प्रकाश देने वाला या प्रकाश के सम्बन्ध में बतलाने वाला शास्त्र है; अर्थात् जिस शास्त्र से संसार का मर्म, जीवन–मरण का रहस्य और जीवन के सुख–दुख के सम्बन्ध में पूर्ण प्रकाश मिले वह ज्योतिष शास्त्र है।

---

1. सप्तछन्दांसि चतुरूत्तराण्यन्योन्यास्मिन्नध्यार्पितानि। –अ०सं० 8/9/9
2. गायत्री प्रभृति त्वेषांप्रमाणं संप्रचक्ष्यते।
   प्रयोगनानि पूर्वाणि प्रयोगा न भवन्ति हि।। –ना०शा० 14/54
3. वेदाहि यज्ञार्थमभि प्रवृत्ताः, कालानिपूर्वा विहिताश्चयज्ञाः।
   तस्मादिदं कालविधान शास्त्रं, यो ज्योतिषं वेद सवेदयज्ञम्।।–वे०ज्यो० (श्लोक 3)

छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन करते हुए बताया गया है कि, ''मनुष्य का वर्तमान जीवन उनके पूर्व–संकल्पों और कामनाओं का परिणाम है तथा इस जीवन में वह जैसा संकल्प करता है, वैसा ही यहाँ से जाने पर बन जाता है। अतएव पूर्ण प्राणमय, मनोमय, प्रकाशरूप एवं समस्त कामनाओं और विषयों के अधिष्ठान भूत ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए।''[1] इससे स्पष्ट है कि ज्योतिष के तत्वों के आधार पर वर्तमान जीवन का निर्माण कर प्रकाश रूप–ज्योतिः स्वरूप ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है।

अतएव ज्योतिष का प्रधान उपयोग यही है कि ग्रहों के स्वभाव और गुणों द्वारा अन्वय, व्यतिरेक रूप कार्य कारण जन्य अनुमान से अपने भावी सुख–दुख प्रभृति को पहले से अवगत कर अपने कार्यो में सजग रहना चाहिए। जिससे आगामी दुख को सुख रूप में परिणत किया जा सके। यदि ग्रहों का फल अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़े, पुरूषार्थ को व्यर्थ मानें तो फिर इस जीव को कभी मुक्ति लाभ हो ही नहीं सकेगा। मेरी तो दृढ धारणा है कि जहाँ पुरुषार्थ प्रबल होता है, वहाँ अदृष्ट को टाला जा सकता है। अथवा न्यूनरूप में किया जा सकता है। अतएव यह निश्चित है कि यह शास्त्र केवल आगामी शुभाशुभों की सूचना देने वाला है; क्योंकि ग्रहों की गति के कारण उनकी विष एवं अमृत रश्मियों की सूचना मिल जाती है। इस सूचना का यदि सदुपयोग किया जाये तो फिर ग्रहों के फलों का परिवर्तन करना कैसे असम्भव माना जा सकेगा? इसलिए यह ध्रुव सत्य है कि ज्योतिष सूचक शास्त्र है विधायक नहीं।

कतिपय पाश्चात्य विद्वान् ज्योतिष को बैबिलोन से आया हुआ बतलाते है। उन्होंनें लिखा है कि भारतीय बैबिलोन गये और वहाँ से ज्योतिष सीखकर आये; किन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वान ज्योतिष का जन्म स्थान भारत मानते है। इस कथन को भारतीय विद्वान् ही सिद्ध नहीं करते, अपितु अनेक विदेशीय विद्वानों ने भी इसकी प्राचीनता स्वीकार की है।

---

1. मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्व कर्मा
सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः। –छा०उ० 3/14

यहाँ कतिपय विद्वानों के मत प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत है।[1]

(i) प्रो० मैक्समूलर ने स्पष्ट किया है कि "भारतवासी आकाश–मण्डल और नक्षत्र–मण्डल आदि के बारे में अन्य देशों के ऋणी नहीं है। मूल आविष्कर्ता वे ही है।

(ii) फ्रान्सीसी पर्यटक फ्राक्वीस वर्नियर भी भारतीय ज्योतिष–ज्ञान की प्रशंसा करते हुए लिखते है कि "भारतीय अपनी गणना द्वारा चन्द्र और सूर्य ग्रहण की यथार्थ भविष्यवाणी करते है। इनका ज्योतिष ज्ञान प्राचीन और मौलिक है।"

(iii) फ्रान्सीसी यात्री टरवीनियर ने भी भारतीय ज्योतिष की प्राचीनता और विशालता से प्रभावित होकर कहा है कि "भारतीय ज्योतिष–ज्ञान में प्राचीन काल से ही अतीव निपुण है।"

(iv) कर्नल टॉड ने अपने 'राजस्थान' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "हम उन ज्योतिषियों को कहाँ पा सकते है, जिनका ग्रहमण्डल–सम्बन्धी ज्ञान अब भी यूरोप में आश्चर्य उत्पन्न कर रहा है।"

(v) डॉ० राबर्टसन का कथन है कि "बारह राशियों का ज्ञान सबसे पहले भारतवासियों को ही हुआ था। भारत ने प्राचीन काल में ज्योतिर्विधा में अच्छी उन्नति की थी।"

गर्ग संहिता, ज्योतिष्करण्डक इत्यादि में ज्योतिष शास्त्र की अनेक महत्वपूर्ण। बातों का वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि उदयकाल में भारतीय ज्योतिष कितना उन्नतिशील था।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि मूल ज्योतिष के तत्व इसी पुण्यभूमि में आज से हजारों वर्ष पहले आविष्कृत हुए है। भारतीयों ने किसी देश से सीखकर यहाँ प्रचार नहीं किया है। अतएव स्पष्ट है; कि भारतीय ज्योतिष का जन्म स्थान भारत ही है।

**(6)व्याकरण–**

'व्याकरण' वेद के अर्थ का निर्णायक है। व्याकरण भी वेद के समान मुक्ति

---

1. भार० ज्यो० (प्र०अ०) पृष्ठ सं० 8–10

प्रदाता है।[1] पतंजलि ने प्रतिपादन किया है, कि स्थान में ही अच्छी प्रकार से प्रयुक्त किया गया शब्द कल्याण के लिए होता है। शुद्ध प्रयोग का ज्ञान व्याकरण के द्वारा ही सम्भव है।[2] वि+आङ् पूर्वक √डुकृञ् धातु से 'ल्युटि' प्रत्यय करने पर व्याकरण शब्द बनता है।[3] इसी का दूसरा नाम शब्दानुशासन है। पतंजलि ने व्याकरण को षडङ्गों में प्रधान बताया है।[4] पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि व्याकरण वेद पुरुष का मुख है।[5] आपस्तम्ब धर्म सूत्र में अर्थ विशेष को मान करके पद पदार्थ के प्रतिपादन के द्वारा वेद का उपकारक माना है।[6]

व्याकरण की संख्या के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। फिर भी प्रायः ब्रह्मा[7], बृहस्पति[8], इन्द्र[9], भारद्वाज[10],

---

1. इयं हि मोक्षमाणाम जिह्वा राजपद्धतिः। —वा०प०(ब्र०का०) 18
2. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः (शास्त्रान्वित्) स्वर्गे लोके कामधुग् भवति। —म०भाष्य 6/9/84
3. करणाधिकरणयोश्च। —अष्टा० 3/3/117
4. व्याकरणंचषट् स्वङ्गेषु प्रधानम्। —म०भाष्य 1/1/1
5. मुखं व्याकरणं स्मृतम्। —पा०शि० 42
6. व्याकरणमर्थ विशेषमाश्रित्य पदमन्वाचक्षणं पदपदार्थ प्रतिपादनेन वेदस्योपकारकं विद्यास्थानम्। —आ०ध०सू० 2/4/8/11 (उज्वलाटीकायाम्)
7. ब्रह्मा वृहस्पतये प्रोवाच वृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाजः ऋषिभ्यः ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः। —ऋ०त० 1/4
8. म०भाष्य 1/1/1
9. स (इन्द्रो) वाचेव वाचं व्यावर्तयद्। — मै०सं० 4/5/8
10. ऋ०प्रा० 1/4

भागुरि[1], गौतम[2], पौष्कर[3], चारायण[4], काशकृत्स्न[5], वैयाघ्रपाद[6], माध्यन्दिनि[7], आपिशलि[8], रौढि[9], व्याडि[10] प्रभृति वैयाकरणों के नाम प्रधान रूप से संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होते है। जो कि पाणिनीय से प्राचीन है। इन वैयाकरणों के भी व्याकरण थे। सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय में शिव[11], वायु[12], शान्तनु[13], शौनक[14] इत्यादि के नाम वैयाकरण के रूप में माने जाते है। आठ वैयाकरणों के नामों का उल्लेख अष्टाध्यायी में हुआ है। साथ ही उनके मतों को भी इसमें सम्मिलित किया है। वे वैयाकरण हैं– काश्यप[15], गार्ग्य[16], गालव[17], चक्रवर्मण[18], शाकटायन[19],

---

1. श०श०प्र० पृष्ठ 444 (श्री जगदीश तर्कालंकार)
2. तै०प्रा० 5/38
3. तै०प्रा० 5/37
4. लो०गृ०सू० 5/1 टीकायाम्
5. काशि० 5/1/58
6. शत०ब्रा० 10/6/1
7. काशि० 7/1/94
8. वा सुप्यापिशलेः। —अष्टा० 6/1/92
9. रौढीयकाशकृत्स्नाः। —काशि० 6/2/36
10. व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्। —काशि० 2/4/2
11. येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्। —पा०शि० 57
12. ------च वायवे च सह गृह्याता इति---। —तै०सं० 6/4/7
13. सः पुनः शन्तनु प्रणीतः फिष् इत्यादिकम्।–(पदमन्जयां हरदत्तः) काशि० 7/3/4
14. करोतेरपि कर्तृत्वे दीर्घत्वं शास्ति शौनकिः। —(चिकित्सास्थनम्, जज्झट्टीकायम्) च०सं० 2/27
15. तृषिमृषिकृषे काश्यपस्य। —अष्टा० 1/2/25
16. ओतो गार्ग्यस्य। —अष्टा० 8/3/20
17. इको ह्स्वोऽङ्यो गालवस्य। —अष्टा० 6/3/61
18. ई चाक्रवर्मणस्य। —अष्टा० 6/1/136
19. लङः शाकटायनस्येव। —अष्टा० 3/4/111

शाकल्य[1], सेनक[2], स्फोटायन[3], आदि नामों से ज्ञात है।

उपलब्ध व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण ही सर्वश्रेष्ठ है। अन्य व्याकरण प्रायः उसके आश्रित ही कल्पित है। पाणिनीय व्याकरण के सम्प्रदाय में कात्यायन के वार्तिक सूत्र एवं पतंजलि का महाभाष्य प्रमाण भूत है। इसीलिए त्रिमुनि (मुनित्रयी) पद से पाणिनी कात्यायन एवं पतंजलि का व्यवहार होता हैं संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन से प्रतीत होता है कि प्रमाण भूत आचार्यो में पाणिनि ही अन्तिम आचार्य है। पाणिनि काल में ही संस्कृत भाषा ह्रासोन्मुखी थी। इसलिए उसकी रक्षा के लिए पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की। जो लौकिक एवं वैदिक शब्द ज्ञान में अत्यधिक उपकारक सिद्ध हुई। लघु होने से एवं सार भूत होने से अत्यधिक शीघ्र ही जनमानस का कण्ठाहार बन गया।

******

---

1. सम्बुद्धौ शाकल्यस्यतावनार्षे। —अष्टा० 1/1/16
2. गिरेभ्यश्च सेनकस्य। —अष्टा० 5/4/112
3. अवङ्स्फोटायनस्य। —अष्टा० 6/1/123

# द्वितीय अध्याय

## (शिक्षा–ग्रन्थों का परिचय)

'वेद' भारतीय संस्कृति के मूलाधार एवं प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का ज्ञान वेदों के अनुशीलन के अभाव में कदापि सम्भव नहीं है। वेद के अर्थावबोध के लिए उसके स्वरादि मन्त्रविनियोग तथा सम्यक् उच्चारण प्रक्रिया के ज्ञानार्थ वेदाङ्गों का आविर्भाव हुआ। वेदाङ्गों में 'शिक्षा' अपना अति विशिष्ट स्थान रखती है। शिक्षा का तात्पर्य उच्चारण – प्रक्रिया से है।

शिक्षाओं का उत्पत्ति काल से लेकर वर्तमान समय तक चार चरणों में विकास हुआ जो कि वैदिक अनुशीलन से प्रतीत होता है। प्रथम चरण अथवा प्रथमावस्था में ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में कहीं–कहीं शिक्षा विषयक तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं। यथा– गोपथ ब्राह्मण में दीर्घ प्लुतोदात्तादियों का[1], ककारादि वर्णों के लिए व्यंजन पद का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णों का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।[3] गोपथ ब्राह्मण में स्थान, वाह्य प्रयत्न एवं आभ्यान्तर प्रयत्न[4], उदात्तादि का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] छान्दोग्योपनिषद् में प्रतिपादित स्वर घोष है।[6] ऐतरेयारण्यक में स्पर्श तथा ऊष्म का[7], साथ ही व्यंजन के लिए अन्तस्थ शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[8]

---

1. ओंकारो यजुर्वेद दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षर ओंकार सामवेदे। –गो०ब्रा० 1/1/25
2. अ ऊ इत्यत्रचतस्रो मात्रा मकारे व्यंजनमित्याहुर्यावा प्र मात्रा ब्रह्मदेवत्या। –गो०ब्रा० 1/1/25
3. ऐ० ब्रा० 25/32
4. किं स्थानानुप्रदानकरणं शिक्षुकाः। –गो०ब्रा० 1/1/24
5. स्वरितोदात्त एकाक्षर ओंकार ऋग्वेदेः। –गो०ब्रा० 1/1/25
6. सर्वे स्वराः घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्यो सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्या। सर्वे स्पर्शाः लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या। –छा० उ० 2/22
7. यो वै तां वाचं वेद यस्याः एष विकारः ससंप्रतिविदकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शोष्मंभिर्व्याज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति। –ऐ० आ० पृ० 170
8. ऐ० आ० पृ० 24

शिक्षाओं के विकास का द्वितीय चरण का परिचय आरण्यक और उपनिषद् में दृष्टिगोचर होता है। ऐतरेयारण्यक में शिक्षा पद का उल्लेख करते हुए इसके विषय का प्रतिपादन किया गया है।[1] शाङ्खायनारण्यक में 'वाच उपनिषत्' के विवेचन में स्पर्श एवं ऊष्म स्वरों का निर्देश किया गया है।[2] तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रथम अध्याय शिक्षाध्याय संज्ञक है। इस अध्याय में शिक्षा की व्याख्या करते हुए वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान प्रभृति शिक्षा विषयों का उल्लेख किया गया है।[3] मुण्डकोपनिषद् में वेदाङ्ग परिगणना के समय शिक्षा को प्रथम स्थान दिया गया है।[4] द्वितीय चरण में शिक्षाओं के स्वतन्त्र विचार प्रारम्भ होने लगे थे।

शिक्षा के विकास का तृतीय चरण दो भागों में विभक्त है। इस समय शिक्षाओं का प्रातिशाख्य के रूप में विकास होना प्रारम्भ हो गया था। इस समय शिक्षा पद से वेदोच्चारणार्थ के सामान्य नियम प्रतिपादक ग्रन्थ का बोध होता था। शिक्षा ग्रन्थों में सभी ध्वनियों का विवेचन दृष्टिगत होता है। शिक्षा के तृतीय चरण का सामान्य परिचय वाजसनेयि प्रातिशाख्य में 'अथ शिक्षा विहिताः' इस वाक्य से होता है। इसमें सामान्य ध्वनि विषयक नियमों को शिक्षा पद से अभिहित किया गया है।[5] शिक्षा ग्रन्थों के विकास का तृतीय चरण ध्वनि के सामान्य नियम बोधक स्वरूप प्रातिशाख्य अपने सम्बन्धित शाखा के उपकारक थे। किन्तु चार चरणों में इसका विकास क्रमानुसार नहीं हुआ। क्योंकि वेदानुसार शिक्षा अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होती है। इसलिए प्रातिशाख्य भी शिक्षा शब्द से बोधित होते हैं। सम्प्रति बहुसंख्यक शिक्षायें पुस्तकालयों में हस्तलिपि रूप में विद्यमान है। ये शिक्षायें महर्षियों के नाम से ही ज्ञात होती है। यथा– माण्डूकी शिक्षा, पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, नारदीय शिक्षा इत्यादि।

---

1. ऊँ शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा बलम्। –ऐ० आ० 7/2
2. शां० आ० 8/8
3. तै० उ० 1/1
4. मुण्ड० उ० 1/5
5. 'अथ शिक्षाविहिताः।' –वा० प्रा० 1/29

## शिक्षाओं की प्राचीनता

शिक्षाओं की प्राचीनता के विषय में अनेक मत हैं। शिक्षाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों की धारणा ईसवी के परवर्ती है।[1] जबकि भारतीय मनीषियों के मतानुसार शिक्षाओं का सर्वप्रथम प्रत्यारकान विक्रम संवत् से ग्यारह हजार वर्ष पूर्व हुआ है।[2] पाश्चात्य विद्वानों की धारणा अनुमान मात्र है। किन्तु दूसरे पक्ष में भारतीय इतिहास के अनुसार शिक्षाओं के काल विषयक ज्ञान की उत्कंठा विद्यमान है। परन्तु यहाँ भी अनुमान की बाहुल्यता होने से उस प्रकार के साहस का अभाव देखा जाता है। जिसके द्वारा शिक्षाओं के काल विषयक प्रश्न को समाप्त किया जाए। प्राचीन भारतीय विद्वान किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान को प्रमाण से सुनिश्चित करते हैं।

वेद ज्ञान राशि की परम्परा बहुत प्राचीन है। इसीलिए इसके उपकारक वेदाङ्ग भी बहुत प्राचीन हैं। पाश्चात्य के कल्पित सिद्धान्त परम्परागत शून्य होने से दोष युक्त है। सम्प्रति कतिपय प्रमाण प्राप्त होते हैं। जिनके माध्यम से शिक्षाओं की प्राचीनता को सिद्ध किया जा सकता है। आचार्य शौनक ने चरण ब्यूह में षडङ्गों का उल्लेख किया है।[3] महर्षि पतंजलि ने अपनी कृति महाभाष्य में षडङ्गों की चर्चा की है।[4] महाभारत (कृष्ण द्वैपायन) में भी षडङ्गों का वर्णन मिलता है।[5] यास्क ने निरुक्त में प्रतिपादन किया

---

1. क्रिटिकल स्टडीज इन फोनेटिक्स आब्जर्वेशन आफ इण्डियन ग्रामेरियन पृष्ठ संख्या 28–33 —डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा
2. वै०छ०मी० पृष्ठ संख्या 56
3. शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरूक्तम् छन्दौ ज्योतिषमिति षडङ्गानि।
   —च० व्यू० (यजु० सं०) पृ० 31
4. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। —म० भाष्य(पशपशहिनक)
5. वेदात्षडङ्गान्युद्धृत्य। —म० भारत (शा० प०) 248/92

है कि महर्षियों ने मानवों की मेधा की क्षीणता को देखते हुए वेदार्थ ज्ञान के लिए वेदाङ्गों की रचना की है।[1] मुण्डकोपनिषद् में पराअपरा विद्या प्रसंग में तथा अपराविद्या में षडङ्गों के अन्तर्गत शिक्षा पद का परिगणन किया गया है।[2] गोपथ ब्राह्मण में शिक्षा शास्त्रज्ञों के लिए शिक्षक शब्द का[3], षडङ्गों[4] एवं शिक्षा शास्त्रीय विषयों का उल्लेख किया गया है।

यद्यपि उपलब्ध शिक्षाओं, व्याकरणों एवं कतिपय वेदाङ्गों के रचना काल की पूर्वावधि कतिपय इतिहास वेत्ताओं के निर्णीत प्रमाणों के द्वारा निश्चित की जा सकती है। इससे शिक्षा शास्त्र की प्राचीनता सिद्ध नहीं हो सकती। उपलब्ध शिक्षा, व्याकरणादि के रचना काल की जो पूर्व अवधि इतिहास वेत्ताओं द्वारा निर्णीत हुई है उसे स्वीकार करते हैं। परन्तु इस विषय में अत्यधिक गवेषणा की आवश्यकता है। क्योंकि शिक्षाशास्त्र की प्रवृत्ति अत्यधिक प्राचीन है। पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्र क्रमशः उत्तरवर्ती आचार्यो के द्वारा लिखे गये शास्त्रों को आधार मानकर उन्हीं में कुछ आपेक्ष के सहित स्वकालानुसार कुछ नूतन्ता दर्शाकर उन्हीं शास्त्रों को स्वशैली के अनुसार लिखा गया। निरुक्त में अनेक निरुक्तकारों का उल्लेख हैं। किन्तु उन आचार्यों के ग्रन्थ काल – कवलित होने से अद्यावधि उपलब्ध नहीं है। निरुक्त में भी पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख है। इसी प्रकार शिक्षा के विषय में भी जानना चाहिए।

उपर्युक्त प्रमाणों के द्वारा शिक्षाओं की प्राचीनता सुनिश्चित है। यद्यपि वर्तमान में उपलब्ध सभी शिक्षा – ग्रन्थ प्राचीन नहीं हो सकते, उनमें कतिपय शिक्षा – ग्रन्थ अर्वाचीन भी हो सकते हैं।

---

1. उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे विल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु वेदन्च वेदाङ्गानि च। –निरु० 1/20
2. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्व वेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्। –मुण्ड० उ० 1/5
3. कतिपदः कः संयोगः .................. शिक्षुकाः किमुच्चारयन्ति। –गो०ब्रा० 1/24
4. वर्णामामयमिदं भविष्यतीति षडङ्गविदस्तत्तथाधीमहे। –गो०ब्रा० 1/27

## शिक्षाओं की वेदाङ्गता

वेदाङ्गता की दृष्टि से 'शिक्षा' प्रथम स्थान पर है। क्योंकि शिक्षा के द्वारा ही वर्ण दोष, स्वर दोष और उच्चारण दोष इत्यादि का ज्ञान होता है। शिक्षाओं के द्वारा वैदिक वाङ्मय के विभिन्न वर्णों, स्वरों या शब्दों का उच्चारण किस प्रकार शुद्ध अवस्था में किया जाए। यह शिक्षा – ग्रन्थों में निर्दिष्ट है। स्वर और वर्ण के शुद्ध उच्चारण की महत्ता के सम्बन्ध में नारदीय शिक्षा में स्पष्ट उल्लेख है कि– यज्ञों में जो मन्त्र स्वर से अथवा वर्ण से हीन होता है वह मन्त्र यजमान की आयु, प्रजा एवं पशुओं आदि को नष्ट कर देते हैं।[1]

शुद्धोच्चारण शिक्षा का प्रयोजन एवं लक्ष्य दोनों है। अतः स्वर वर्णाद्युच्चारण की शिक्षा दी जाती है, उसे 'शिक्षा' कहते हैं।[2] जहाँ पर भी वेद मन्त्रों का उच्चारण – नियम प्राधान्येन प्रतिपादित है। वह शिक्षा शब्द से ज्ञात है। अशुद्धोच्चारणादि षड्दोष परिहार पूर्वक शुद्धोच्चारण जन्यफल प्राप्ति ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। पाणिनीय शिक्षा स्वर वर्णोच्चारक शास्त्र को 'शिक्षा' स्वीकार करती है।[3] ऋक् प्रातिशाख्य में भी शिक्षा पद का प्रयोग स्वर वर्णोच्चारण में उपकारक रूप से किया गया है।[4] तैत्तिरीयोपनिषद् में एक शिक्षाध्याय है जहाँ शिक्षा विषय वर्ण, स्वर मात्रा, बल साम एवं सन्तान आदि है।[5]

---

1. प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो विमन्त्रः प्रयुज्यते।
   यज्ञेषु यजमानस्य रुषत्यायुः प्रजा पशून्।। —ना० शि० 1/1/6
2. स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।
   —ऋ० भा० भू०(सायण) पृष्ठ 49
3. पुनर्व्यक्ती करिष्यामि वाचऽउच्चारणे विधिम्। —पा० शि० 2
4. स्वरवर्णोच्चारकं शास्त्रम् शिक्षा। —ऋ० प्रा० पृष्ठ 10
5. शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा बलम् साम् सन्तानः इति।
   —तै० उ० 1/2

मुण्डकोपनिषद् में परापरा विद्या प्रसङ्ग में तथा अपरा विद्या में शिक्षापद का उल्लेख है।[1] पाणिनीय शिक्षा में शिक्षा को वेद पुरुष का घ्राण कहा गया है।[2]

## शिक्षा–ग्रन्थों में प्रातिशाख्यों का अर्न्तभाव

"प्रातिशाख्य" व्युत्पत्ति मूलक शब्द है। जिसका अभिप्राय है कि वेद की किसी शाखा विशेष से सम्बद्ध होना। वेदों की शाखाओं से सम्बद्ध होने के कारण ही इन ग्रन्थों को 'प्रातिशाख्य' की संज्ञा दी गई। प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ– प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध व्याकरणादि का बोध कराने वाला ग्रन्थ। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के भाष्य कार अनन्त भट्ट ने अपने भाष्य में प्रातिशाख्य शब्द की व्याख्या की है।[3] तैत्तिरीय प्रातिशाख्यानुसार किसी एक शाखा से नहीं बल्कि एक से अधिक शाखाओं से सम्बद्ध ध्वनि – नियमों का निरूपण किया गया है।[4] कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि प्रातिशाख्य वेद की किसी विशेष शाखा से सम्बद्ध न होकर कई शाखाओं से सम्बद्ध मानते हैं। वेदों की प्रत्येक शाखाओं का अपना एक अलग प्रातिशाख्य रहा होगा। आज सभी प्रातिशाख्य उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु अनुपलब्धि के आधार पर एक प्रातिशाख्य को वेद की कई शाखाओं से सम्बद्ध समझना उचित नहीं होगा। एक प्रातिशाख्य किसी एक शाखा से ही सम्बद्ध होता है और इसी आधार पर उनका प्रातिशाख्य नाम पड़ा।

---

1. ———————————————————।
   शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषम्।। –मुण्ड० उ० 1/5
2. शिक्षा घ्राणंतु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। –पा० शि० 42
3. शाखायां शाखायां प्रति प्रतिशाखम्, प्रतिशाखभवम् इति प्रातिशाख्यम्।
   –वा० प्रा० 1/1
4. द्वित्रि शाखा विषत्वेऽपि तद साधारणतया उपपत्तेः तथा बहवृत्तानां शाकल वाष्कल कात्मक शाखाद्वय विषयं प्रातिशाख्यम् प्रसिद्धम्। –तै० प्रा० 4/11

प्रातिशाख्यों को भी शिक्षा – ग्रन्थों के अन्तर्गत ही लिया जाता है। वेदों के ज्ञानार्थ शिक्षा, व्याकरण इत्यादि वेदाङ्गों का जो महत्व है वही प्रातिशाख्य ग्रन्थों का भी है। इसका मुख्य कारण यह है कि शिक्षा, व्याकरणादि प्रायः सामान्य विषयों का विवेचन करते हैं। जबकि प्रातिशाख्य ग्रन्थ शाखा विशेष के नियमों का प्रतिपादन करते हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वेद की विभिन्न शाखाओं के स्वर, सन्धि तथा अन्य उच्चारण विषयक नियमों का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। प्रातिशाख्यों में शिक्षा – शास्त्र के सारे विषयों का पूर्णतः निर्वाह किया गया है। उपनिषदों में कहा गया है कि शिक्षा का लक्षण प्रातिशख्यों को अपनी परिधि में लाता है। इन्हें प्रातिशाख्य मात्र इसलिए कहा गया है कि किसी विशेष शाखा के शिक्षा – नियमों को बताते हैं। प्रातिशाख्यों में व्याकरण के नियमों का विवेचन नहीं होता है। इसमें व्याकरण के विषय भूत पदों का आख्यान नहीं किया जाता है। बल्कि इसमें दो पदों के योग से उत्पन्न होने वाली सन्धियों का ही आख्यान होता है। सन्धि शिक्षाशास्त्र का ही विषय है। इस प्रकार प्रातिशाख्यों का अर्न्तभाव शिक्षा ग्रन्थों में हो जाता है।

## शिक्षाओं का वेदानुसार विभाजन

उपलब्ध शिक्षाओं को वेदानुसार विभाजित किया जा सकता है–

**(क) ऋग्वेदीय शिक्षाएं–**

(1) शमान शिक्षा
(2) स्वर–व्यंजन शिक्षा

**(ख) शुक्ल यजुर्वेदीय शिक्षाएं–**

(1) याज्ञवल्क्य शिक्षा
(2) वाशिष्ठ शिक्षा
(3) कात्यायनी शिक्षा
(4) पाराशरी शिक्षा
(5) माण्डवी शिक्षा (माण्डव्य शिक्षा)
(6) अमोघानन्दिनी शिक्षा
(7) माध्यन्दिनी शिक्षा
(8) लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा
(9) केशवी शिक्षा
(10) वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा

**(ग) कृष्ण यजुर्वेदीय शिक्षाऐं–** (अ) चाराणीय शाखा– (1) चारायणीय शिक्षा

(आ) तैत्तिरीय शाखा–

(1) भारद्वाज शिक्षा
(2) व्यास शिक्षा
(3) शम्भु शिक्षा
(4) वाशिष्ठ शिक्षा
(5) हारीत शिक्षा
(6) वाल्मीकि शिक्षा
(7) कौहलीय शिक्षा.
(8) बोधायन शिक्षा
(9) पाणिनीय शिक्षा
(10) सिद्धान्त शिक्षा
(11) सर्व सम्मत शिक्षा
(12) आपिशलि शिक्षा
(13) आरण्य शिक्षा
(14) पारि शिक्षा
(15) काल निर्णय शिक्षा
(16) मनः स्वार शिक्षा
(17) अवसान निर्णय शिक्षा
(18) गलदृक शिक्षा
(19) यजुर्विधान शिक्षा
(20) लक्ष्मीकान्त शिक्षा
(21) त्रेस्वर्य शिक्षा
(22) प्लुत शिक्षा
(23) प्लुतानुशासन शिक्षा
(24) वेद परिभाषा सूत्र शिक्षा
(25) वेद परिभाषा कारिका शिक्षा
(26) मल्लशर्म शिक्षा

(घ) सामवेदीय शिक्षाएं–

(1) नारदीय शिक्षा
(2) गौतमी शिक्षा
(3) लोमशी शिक्षा

(ड़) अथर्ववेदीय शिक्षा–

(1) माण्डूकी शिक्षा

(च) अन्य सामान्य शिक्षाऐं–

(1) क्रम सन्धान शिक्षा
(2) स्वर भक्ति लक्षण शिक्षा
(3) गालव शिक्षा
(4) शौनकीय शिक्षा
(5) षोडश श्लोकी शिक्षा
(6) स्वराङ्कुश शिक्षा
(7) शमान शिक्षा
(8) प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा
(9) स्वराष्टक शिक्षा
(10) पदकारिका रत्न माला

(11) आत्रेय शिक्षा    (12) पाणिनीय शिक्षा

(13) सम्प्रदाय बोधिनी शिक्षा    (14) सोमशर्मा शिक्षा

**शिक्षा सूत्र ग्रन्थ–**

(1) चान्द्रवर्ण शिक्षासूत्र    (2) आपिशल शिक्षा सूत्र

(3) पाणिनीय शिक्षा सूत्र

**(क) ऋग्वेदीय शिक्षाएं–**

ऋग्वेदीय शिक्षाओं के अन्तर्गत मात्र दो शिक्षाएं ही उपलब्ध है–

**(1) शमान शिक्षा–**

यह शिक्षा महर्षि शमान द्वारा प्रणीत है। यह शिक्षा प्रचीन प्रतीत होती है। इस शिक्षा की पाण्डुलिपि राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि पुस्तकालय (पाण्डुलिपि संख्या 977) मद्रास में एवं सरस्वती बिहार पुस्तकालय, हौजखास, नई दिल्ली में उपलब्ध है। इस शिक्षा में उन शब्दों का संकलन किया गया है। जिनमें विसर्गों का लोप हो जाता है। तत्पश्चात् अतिरिक्त पदों की गणना की गई है। विसर्ग का लोप होने पर आकारान्त विसर्गान्त पद की सन्देहावसर पर विसर्ग लोप की परिगणना करने से निर्णीत हो सकता है।[1]

**(2) स्वर–व्यंजन शिक्षा–**

यह शिक्षा ऋग्वेद से सम्बद्ध तीस पृष्ठों की लघु पुस्तिका है। इसके रचियता के सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। यह शिक्षा भण्डारकर प्राच्य अनुसंन्धान संस्थान पूना (पुणे) में (सन् 1875–76 की संख्या 21 की पाण्डुलिपि है) प्रकाशित हुई। यह शिक्षा ऋक्प्रातिशाख्य का पूर्णतः अनुसरण करती है। इस शिक्षा में ऋक्प्रातिशाख्य के सन्धि–विषयक शब्दावलियों नियत, भुग्न, क्षैप्र एवं पारिभाषिक शब्दावलियाँ

---

1. विसर्जनीयः अकारपूर्वको घोषवत्परः,

   व्यंजन ...................... लुप्यते संहितागमे,

   एषु वर्णक्रमान्तानि प्रवक्ष्यामि पदान्त्यहम्।।    –श० शि० 2

उद्धृत की गई है। यह शिक्षा छः वर्गों में विभक्त है। जिसमें र के व्यंजनत्व एवं स्वरत्व के परिस्थितियों पर विचार किया गया है।

### (ख) शुक्ल यजुर्वेदीय शिक्षाएं–

शुक्ल यजुर्वेदीय शिक्षाओं की संख्या के सम्बन्ध में एक मत प्राप्त नहीं होता है। चरण ब्यूह[1] में शुक्ल यजुर्वेदीय शिक्षाओं की संख्या पाँच का उल्लेख है। पराशरी शिक्षा के अनुसार शुक्ल यजुर्वेदीय शिक्षाओं की संख्या आठ मानी गई है। इन आठ शिक्षाओं का वर्णन निम्नवत् है।[2]

### (1) याज्ञवल्क्य शिक्षा–

वाजसनेयि शाखा के प्रवर्तक याज्ञवल्क्य ही इस शिक्षा के प्रणेता समझे जाते हैं। यह शिक्षा सन् 1893 में शिक्षा संग्रह, चौखम्भा सीरिज, वाराणसी से प्रकाशित हुई। यह शिक्षा पैंतीस पृष्ठों में एवं दो सौ बत्तीस श्लोकों की बृहद् पुस्तिका है। समस्त यजुर्वेदीय शिक्षाओं में सर्वाधिक परिपूर्ण है।

याज्ञवल्क्य शिक्षा एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य में अनेक स्थलों पर समानता है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य से याज्ञवल्क्य शिक्षा में अनेक स्थलों पर श्लोक यथावत् उद्धृत किये गये हैं।[3] जिसमें प्लुत तथा ऋकार के उच्चारण स्थान के विषय में चर्चा की गई

---

1. मन्त्रभ्रान्तिहरं चैव शिक्षाणाम् पंचकं तथा। –च० व्यू० पृ० 24 (वेवर सम्पादनम्)
2. याज्ञवल्क्यी तु वासिष्ठी शिक्षा कात्यायनी तथा।
   पाराशरी गौतमी तु माण्डव्यामोघनन्दिनी।। –च0पारा0शि0 77
   पाणिन्या सर्ववेदेषु सर्व शास्त्रेषु गीयते।
   वाजसनेय शाखायां तत्र माध्यन्दिनी स्मृता।। –च० पारा० शि० 78
3. ओकारः प्लुत विज्ञेयः प्लुतमग्ना द्वितीयकम्।
   लाजीन्छाचीं तृतीयं च विवेशेति चतुर्थकम्।।
   अधः स्विदासीत्पंचमं चोपरि स्विदासीच्च षष्ठकम्।
   सप्तमं तु क्लिबे स्मारः अष्टमं नैव विद्यते।
   लकारस्य तु दीर्घत्वं नास्ति वाजसनेयिनः।। –वा०प्रा० 20 से या० शि० 124–126 पर उद्धत

है। संघर्षी ध्वनियों से पूर्व स्पर्श व्यंजनों की महा प्राणता पर भी विचार किया गया है। यद्यपि माध्यन्दिन शाखा में सवर्णी ऊष्म के होने पर ध्वनि परिवर्तन नहीं होता है।[1] जबकि आपस्तम्ब शाखा में इन्हीं अवस्थितियों में यह ध्वनि परिवर्तन हो जाता है। वैदिक स्वरों का उदाहरण सहित विशिष्ट एवं विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। लोप, आगम, प्रकृतिभाव एवं विकार इन चार प्रकार की सन्धियों का विवेचन भी किया गया है।

### (2) वासिष्ठ शिक्षा–

शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध यह शिक्षा ब्रह्मर्षि वसिष्ठ प्रणीत है। यह शिक्षा श्री युगल किशोर व्यास द्वारा प्रकाशित बनारस संस्कृत सिरीज, बनारस (1893) के 'शिक्षा–संग्रह' में उपलब्ध है। वाजसनेयि संहिता में आने वाले ऋक् मन्त्र एवं यजुमन्त्र का इस ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन किया गया है। व्यास शिक्षानुसार शुक्ल यजुर्वेद की समग्र संहिता में ऋग्वेदीय मन्त्र 1467 है एवं यजुषों की संख्या 2823 है। तैत्तिरीय शाखा की वासिष्ठी शिक्षा से भिन्न है। ऋक् एवं यजुष का विभाजन करती है। सर्वानुक्रमणी से इस शिक्षा का संकलन किया गया है।[2]

### (3) कात्यायनी शिक्षा–

यह शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि शाखा से सम्बद्ध है। इसके प्रणेता महर्षि कात्यायन है। तेरह श्लोकों की यह एक लघु पुस्तिका है। यह स्वराघात पर लिखित एक खण्डमयी कृति है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के नियमों पर यह शिक्षा आधारित है।

---

1. नैतन्माध्यन्दिनीयानां सस्थानत्वात्तयोर्द्वयो।
   सस्थानेऽपि द्वितीयं स्यादापस्तम्बस्य यन्मतम्।। —या० शि० 131
2. अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि वासिष्ठस्य मतं यथा।
   सर्वानुक्रममुद्धृत्य ऋग्यजुषोस्तु लक्षणम्।।
   —वा० शि० 1 (शि० सं० पृ० 36)

### (4) पाराशरी शिक्षा–

महर्षि पाराशर प्रणीत यह शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। यह शिक्षा एक सौ साठ श्लोकों में निबद्ध है। इस शिक्षा का प्रकाशन 'शिक्षा संग्रह, चौखम्भा सिरीज, वाराणसी, 1893' में हुआ। इस शिक्षा में स्वर, वर्ण एवं सन्धि आदि विषयों का विवेचन किया गया है। मुख्यता 'व' के उच्चारण की विभिन्न संभावनाओं क्षिप्रस्वर सन्धिज एवं स्वरान्तवर्ती 'कुक्कुट' के द्वित्व 'क' का द्वित्व के रूप में उच्चारण करने का विधान है।[1] 'कुक्कुट' के द्वित्व उच्चारण विधान में पाराशरी शिक्षा एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य में परस्पर विचार वैषम्य प्रतीत होता है।

### (5) माण्डव्य शिक्षा–

यह शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से सम्बद्ध है। इस शिक्षा के प्रणेता महर्षि माण्डव्य है।[2] यह शिक्षा 'शिक्षा–संग्रह' में संकलित है। जिसका प्रकाशन 1893 में चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस से हुआ। महर्षि माण्डव्य का नामोल्लेख शतपथ ब्राह्मण की वंशावली में प्राप्त होता है।[3] वाजसनेयि संहिता में अंकित ओष्ठ्य वर्णों का संग्रह इस शिक्षा में किया गया है। 'व' एवं 'ब' के बीच उच्चारण की अशुद्धियों के निवारण हेतु यह प्रयास किया गया है। केवल ओष्ठीय स्पर्श वकार निष्ठ शब्दों के ही विवेच्य होने से प्रतीत होता है कि माण्डव्य शिक्षा का सम्बन्ध मध्य और पूर्व क्षेत्र से अत्यधिक रहा होगा।

---

1. कुक्कुटः कामलुब्धोऽपि ककारद्वयमुच्चरेत्।
   एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः कुक्कुटोऽसि निदर्शनम्।। –पारा०शि० 69 (तुल०वा०प्रा०4/142)
2. अथातः संप्रवक्ष्यामि शिष्याणां हितकाम्यया।
   माण्डव्येन यथा प्रोक्ता ओष्ठयसङ्ख्या समाहृता।। –माण्ड० शि० 1
3. अथ वंशः समानमासांजीविपुत्रात् .................... माण्डव्यान्माण्डव्यः,
   कौत्सात् कौत्सः ................................। –शत० ब्रा०

(6) अमोघानन्दिनी शिक्षा–

यह शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसके प्रणेता महर्षि अमोघानन्दिन है। इसमें एक सौ तीस श्लोक हैं। 'शिक्षा–संग्रह' में संकलित इस शिक्षा का प्रकाशन चौखम्भा सिरीज, वाराणसी से 1893 में हुआ था। इस शिक्षा में स्वरों एवं वर्णों पर सूक्ष्म विचार किया गया है। इसका सत्तरह श्लोकों का संक्षिप्त संस्करण भी है। इसमें नासिक्य ध्वनियों के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा– महारङ्ग एवं अतिरङ्ग।

(7) माध्यन्दिनी शिक्षा–

शुक्ल यजुर्वेदीय की माध्यन्दिनी शाखा से सम्बद्ध शिक्षा के प्रणेता महर्षि माध्यन्दिन है। इसका संकलन शिक्षा–संग्रह में है। जिसका प्रकाशन चौखम्भा सिरीज, वाराणसी से 1893 में हुआ है। लघु माध्यन्दिनी शिक्षा इसका संक्षिप्त संस्करण है। माध्यन्दिन शिक्षा मूर्धन्य 'ष' ध्वनि से कण्ठ्य 'ख' ध्वनि का भेद स्पष्ट करने के लिए खकार वाले शब्दों की सूची बनाई गई है।[2]

(8) लघु माध्यन्दिन शिक्षा–

यह शिक्षा माध्यन्दिनी शिक्षा का संक्षिप्त संस्करण है। इस शिक्षा में मूर्धन्य स्पर्शों से पूर्व आने वाले 'ष' को छोड़कर अन्यत्र स्थानों पर 'ष' का उच्चारण 'ख' के सदृश होना चाहिए।[3]

---

1. बण्महाँश्च बडादित्यो हयद्धा देव महाँश्ऽअसि।
   बट्सूर्यस्य तु सन्नातो महारङ्गा प्रकीर्त्तिताः।।
   परिते परिमाग्ने च अदृश्रं परिकीर्त्तिताः।
   यस्याद्वयं प्रदृश्यन्ते अतिरङ्गाः प्रकीर्त्तिताः।। –अमो० शि० 45, 46
2. आखुस्ते। मयूखैः। आखरेष्ट्ठाः ................ । –माध्य० शि० (शि०सं०पृ० 110)
3. अत्र कवर्गीयखकारा निर्दिश्यन्ते। –माध्य० शि० (शि०सं०पृ० 110)

**(9) केशवी शिक्षा–**

यह शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा से सम्बद्ध है। इसके प्रणेता महर्षि केशव है। यह शिक्षा 1893 में चौखम्भा सिरीज, वाराणसी से प्रकाशित शिक्षा संग्रह में संकलित है। केशवी शिक्षा में 'ष' का 'ख' उच्चारण[1] एवं विभिन्न अवस्थितियों में 'य' तथा 'व' का उच्चारण[2] स्वर भक्ति का 'ए' के समान उच्चारण आकार से पूर्व में न होने पर ह्रस्व स्वर का किंचित दीर्घवत् उच्चारण आदि मात्रा नियम का विवेचन किया गया है।

**(10) वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा–**

इस शिक्षा के प्रणेता भारद्वाज वंशीय अमरेश महर्षि हैं। इसका प्रकाशन चौखम्भा सिरीज, वाराणसी से 1893 में हुआ जो कि शिक्षा संग्रह में संकलित है। यह शिक्षा पूर्णतया प्रातिशाख्य पद्धति का अनुवर्तन मात्र है।[3] तथा याज्ञवल्क्य शिक्षा से पूर्णतः साम्य रखती है। इस शिक्षा में 'ऋ' तथा 'र' के उच्चारण का विधान उसी प्रकार किया गया है जैसा कि याज्ञवल्क्य शिक्षा में है। दोनों शिक्षाओं में ही 'ऋ' को जिह्वामूल एवं 'र' दन्तमूलीय ध्वनि कहा गया है।[4]

**(ग) कृष्ण यजुर्वेदीय शिक्षाएं–**

यद्यपि कृष्ण यजुर्वेद की अनेक शाखाएं हैं। सम्प्रति दो शाखाओं पर ही

---

1. षकार खष्टुमृते च। –के० शि० 3 (शि० सं० पृ०140)
2. पदादौ पूर्वाहल्वोर्द्विर्व्योच्चारौ सम्पूर्वयोश्छन्दसि। –के०शि०1 (शि०सं०पृ०138)
3. अमरेश इति ख्यातो भारद्वाजकुलोद्वहः।
   सोऽहं शिक्षां प्रवक्ष्यामि प्रातिशाख्यानुसारिणीम्।।
   –वर्ण०र०प्र०शि० 1–2 (शि०सं०पृ०117)
4. ऋवर्णोऽथ कवर्गश्च जिह्वामूलीय एव च।
   जिह्वामूले भवन्त्येषां जिह्वामूलं च कारणम्।। –वर्ण०र०प्र०शि० 27

शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध है। शेष शाखाएं काल कवलित हो गई। उपलब्ध दो शाखाएं ही हैं– चारायणीय एवं तैत्तिरीय शाखा।

**(क) चारायणीय शाखा से सम्बद्ध शिक्षा–**

**(1) चारायणीय शिक्षा–**

कृष्ण यजुर्वेदीय की चारायणीय शाखा से सम्बद्ध इस शिक्षा के प्रणेता महर्षि चारायण हैं। सम्प्रति शिक्षा की दो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं। पहली पाण्डुलिपि भण्डारकर प्राच्य अनुसंधान संस्थान पूना (पुणे) 1875–76 में उपलब्ध है एवं दूसरी पाण्डुलिपि विश्वविद्यालय पुस्तकालय गटिंगटन में उपलब्ध है।[1] चरण ब्यूह के अनुसार कृष्ण यजुर्वेद की चरक शाखा की बारह उपशिक्षाओं में से एक है।[2] इस शिक्षा के तृतीय अध्याय में सन्धि–नियमों, पंचम अध्याय में लौकिक संस्कृत छन्दों का सम्यक्तया विवेचन, अष्टम् अध्याय में अभिनिधान का विवेचन है। इस शिक्षा में अभिनिधान पद के लिए 'मुक्त' या 'भक्ष्य' कहा गया है। इस शिक्षा में स्वर भक्ति के उच्चारण में 'इ' एवं 'उ' स्वरों का निषेध किया गया है।[3]

**(ख) तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध शिक्षाएं–**

तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध शिक्षाओं का परिचयात्मक विवरण एवविध है–

---

1. ए क्रिटिकल स्टडीज इन द फोनिटिक आब्जर्वेशन्स आफ इण्डियन ग्रामेरियन्स।
   पृ० सं० 44 —डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा
2. यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा भवन्ति।। 10
   तत्र चरका नाम द्वादशविधा भवन्ति, चरका हरका चारायणीयाः।। 11
   —च० व्यू०
3. एकादशोपेन्द्रवज्रं द्वादशं तु जलोद्धतम्,
   त्रयो दशाक्षरपदं प्रहर्षं वृत्तमुच्यते। —चारा० शि० पत्र 7

**(1) भारद्वाज शिक्षा–**

यह शिक्षा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। इस शिक्षा के प्रणेता महर्षि भारद्वाज हैं। शिक्षा का प्रकाशन भण्डारकर प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान पूना (पुणे) के माध्यम से हुआ। इस शिक्षा में एक सौ तीस श्लोक हैं। शिक्षा का परमोद्देश्य संहिता में प्रयुक्त पदों की उच्चारण शुद्धता एवं उसके लिए विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन करना है तथा इस शिक्षा में विशिष्ट नियमों का भी संकलन है। इस शिक्षा का विषय विवेचन व्यावहारिक है। तथा इसमें शिक्षा शास्त्र से सम्बन्धित अन्य विचारों का अभाव है।

**(2) व्यास शिक्षा–**

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध इस शिक्षा के प्रणेता महर्षि व्यास हैं। इस शिक्षा की पाण्डुलिपि सरस्वती बिहार पुस्तकालय, हौजखास, नई दिल्ली में उपलब्ध है। शिक्षा में पाँच सौ पच्चीस श्लोक एवं सत्ताईस प्रकरण हैं। पहला संज्ञा प्रकरण है। दूसरे प्रकरण में प्रगृह्य का प्रतिपादन है। तीसरे प्रकरण में द्वित्वागम एवं लोपादि कार्य हेतु विविध परिभाषायें दी गई हैं। चौथे प्रकरण से पन्द्रहवें प्रकरण पर्यन्त दीर्घागम, लोप विकार, रेफ, विसर्ग, अच् सन्धि आदि का विवेचन किया गया है। सोलहवें प्रकरण में स्वर धर्म पर विचार किया गया है। सत्तरहवें प्रकरण में स्वर सन्धि पर चर्चा की है। अठारहवें प्रकरण में कर स्वर विन्यास का निरूपण है। उन्नीसवें प्रकरण से इक्कीसवें प्रकरण पर्यन्त द्वित्व का पूर्वागम एवं निषेध का प्रतिपादान है। बाइसवें प्रकरण में स्वर व्यंजन के अङ्गाङ्गिभाव का निरूपण है। तेईसवें प्रकरण में स्वर भक्ति का निरूपण एवं चौबीसवें प्रकरण में स्थान, करण, प्रयत्न विचार पर चर्चा की गई है। पच्चीसवें प्रकरण में प्लुत स्वर का विवेचन है। छब्बीसवें प्रकरण में ओष्ठ्य विकार का निरूपण किया गया है। सत्ताईसवें प्रकरण में काल निर्णय, उच्चारण फलश्रुति का विवेचन किया गया है।

**(3) शम्भु शिक्षा–**

महर्षि शम्भु कृत शिक्षा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है।

इस शिक्षा की मूल पाण्डुलिपि राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि पुस्तकालय, मद्रास में प्राप्त होती है। शिक्षा के प्रथम पद्य में सरस्वती, लक्ष्मी एवं कालिका की वन्दना की गई है। तत्पश्चात् द्वित्व भाव स्वर भक्ति एवं प्रगृह आदि पर विचार किया गया है। इस शिक्षा में मात्रा तथा स्वराघात से सम्बद्ध पद्य वैदिकाभरण[1] तथा त्रिभाष्यरत्न[2] में उद्धृत है।

### (4) वासिष्ठी शिक्षा–

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध यह शिक्षा महर्षि वसिष्ठ प्रणीत है। यह शिक्षा सरस्वती विहार पुस्तकालय हौजखास, नई दिल्ली में उपलब्ध है। इस शिक्षा में तेरह श्लोक हैं। शिक्षा में दीर्घ 'लृ' के अतिरिक्त छब्बीस स्वरों का वर्णन है।[3] शेष श्लोकों में द्वित्व का विधान है।

### (5) हारीत शिक्षा–

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध यह शिक्षा महर्षि हारीत कृत है। इस शिक्षा के सिद्धान्त तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्वरोत्पत्ति के प्रसङ्ग में दृष्टिगोचर होते हैं।[4] शिक्षा में ऊष्म अघोष की द्विरुक्ति नहीं होती है।

---

1. अनुदात्तो हृदिज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
   स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः।। (शम्भु शिक्षा 26 से तै० प्रा० 1/40 पर वेदिका भरण भाष्य में अंकित किया है।)
2. विधेर्मध्यस्थ–नासिक्यो न विरोधो भवेत् स्मृतः।
   तस्मात् करोति कार्याणि वर्णानां धर्म एव तु।।
   (शम्भु शिक्षा 45 से तै० प्रा० 1/1 पर त्रिभाष्यरत्न में अंकित किया है।)
3. तदुच्यते वासिष्ठशिक्षायाम् लृवर्ण दीर्घं परिकाप्य स्वराः।
   षडविंशति प्रोक्ता इत्यादिना, इत्यादि। –तै० प्रा० पृ० 8
4. तै० प्रा० 27 तत्र हारीत शिक्षा–
   मनः कायाग्नि माहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
   मारुतस्तरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।।

जिस प्रकार तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में।[1]

**(6) वाल्मीकि शिक्षा–**

यह शिक्षा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। इसके प्रणेता महर्षि वाल्मीकि हैं। इस शिक्षा की प्रतिलिपि अप्राप्त है। किन्तु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में वाल्मीकि के मत को उद्धृत किया गया है। वाल्मीकि के मतानुसार 'ओ' अक्षर का स्वर उदात्त होता है।[2] विसर्गों का जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय रूपों में परिवर्तन नहीं होता है।[3]

**(7) कौहलीय शिक्षा–**

महर्षि कौहली प्रणीत यह शिक्षा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। इसमें उनहत्तर श्लोक हैं। प्रारम्भ के 41 श्लोकों में स्वराघात पर विचार किया गया है। यह शिक्षा कौहलीय सिद्धान्तों का अनुवर्तन करती है।[4] शिक्षानुसार जटापाठ की व्याख्या वही व्यक्ति कर सकता है। जिसने प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं का सम्यक् अध्ययन किया हो। शिक्षानुसार वेदपाठ में स्वराघात निर्देशन के लिए केवल दाहिने हाथ से हस्त संचालन का विधान किया गया है।

---

1. ऊष्माघोषो हारीतस्य। —तै० प्रा० 14/18
2. उदात्तो वाल्मीकेः। —तै० प्रा० 18/6
3. कवर्गपरश्चाग्निवेश्य वाल्मीकयोः। —तै० प्रा० 9/4
4. अथ शिक्षा प्रवक्ष्यामि कौहलीय मतानुगाम।
   स्वरादि निर्णयस्तत्र क्रियते तन्निबोधत।। —कौह० शि० 1
5. प्रातिशाख्यादि शास्त्रज्ञः सर्वशिक्षाविशारदः।
   बुद्धि शक्ति समेतो यः स जटां वक्तुमर्हति।। —कौह० शि० 55

(8) **बोधायन शिक्षा–**

यह शिक्षा अद्यावधि अनुपलब्ध है। किन्तु वेदलक्षणानुक्रमणिका में इस शिक्षा का उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

(9) **पाणिनीय शिक्षा–**

इस शिक्षा का तैत्तिरीय संस्करण भी है। किन्तु इस शिक्षा से सम्बद्ध पाण्डुलिपि प्राप्त नहीं होती है। इस शिक्षा का उल्लेख विधाता मिश्र ने किया है।[2]

(10) **सिद्धान्त शिक्षा–**

आचार्य श्रीनिवास रचित यह शिक्षा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। यह मद्रास से पाण्डुलिपि संख्या 1012 से सम्पादित है। इस शिक्षा में याज्ञवल्क्य शिक्षा के सदृश ध्वनि विज्ञान से भिन्न सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इसमें ककारादि क्रम से विभिन्न ध्वनियों वाले शब्दों की सूचियाँ दी गई हैं।[3] वेदों में 'त्वम्' का वैकल्पिक रुप 'त्वङ्' उच्चारण करने का निर्देश भी प्राप्त होता है।

(11) **सर्व सम्मत शिक्षा–**

यह शिक्षा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। शिक्षा दो रूपों में उपलब्ध होती है। प्रथम शिक्षा में उनचास श्लोक है तथा द्वितीय शिक्षा में चार अध्याय एवं एक सौ सत्तर श्लोक हैं। इसके प्रणेता केशवाचार्य है।[4] प्रथम शिक्षा के प्रणेता के

---

1. वे० लक्षणानु० –पृ० 5
2. क्रिटिकल स्टडी आफ संस्कृत फोनिटिक्स –पृ० 13
3. ककारादिः कमिष्यन्ते स्यादमुं लोकमुत्तरः।
   कर धातोः कडित्याहुरश्विभ्यां परितः कृतम्।। –सि० शि० 45
4. सूर्य देव बुधेन्द्रस्य नन्देन महात्मना।
   प्रणीतं केशवार्येण लक्षणं सर्वसम्मतम्।। –सर्व स० शि० 4/12

विषय में कोई तथ्य प्रकाश में नहीं आया है। द्वितीय शिक्षा के भाष्यकार मंचिभट्ट है।[1] प्रथम शिक्षा में स्वराघात एवं मात्रा पर संक्षिप्त विचार किया गया है। जबकि द्वितीय शिक्षा में इस विषय पर तैंतीस श्लोक हैं। द्वितीय शिक्षानुसार स्वर से रहित व्यंजन की मात्रा एक चौथाई होती है।[2] तथा संयोग के प्रथम अंश एवं ओष्ठ्य स्वर के बाद होने वाला विराम अर्द्ध मात्रिक होता है। यह संयोग दो ओष्ठ्य स्वरों के मध्य होना आवश्यक है।[3]

**(12) आपिशलि शिक्षा–**

महर्षि आपिशलि[4] प्रणीत यह शिक्षा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। इसकी पाण्डुलिपि संख्या 864 मद्रास में उपलब्ध है। इस शिक्षा का प्रयोजन शिक्षा एवं व्याकरण में कथित प्रातिशाख्यों के अविरुद्ध वैदिक पाठों की सामग्री को व्यवस्थित करना है।[5] इसमें वाह्य प्रयत्नों तथा उच्चारण विधि का अति सुन्दर विवेचन किया गया है।

**(13) आरण्य शिक्षा–**

यह शिक्षा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। इसकी पाण्डुलिपि संख्या 866 मद्रास में उपलब्ध है। यह शिक्षा नौ शिक्षाओं के समुद्र में से उद्धृत अमृत के समान है।[6] इसमें विभिन्न स्थितियों में आने वाले स्वराघात युक्त शब्दों का

---

1. इति श्री मंचि भट्ट विरचितं सर्वसम्मत शिक्षा विवरणं समाप्तम्। —सर्व स०शि०
2. सर्व स० शिक्षा 4/95
3. ओष्ठयोः स्वरयोर्मध्ये संयोगादिर्यदिस्थितिः।
   विसर्गात् क्षपरादूर्ध्वमुभयत्रार्धमात्रिकः।। —सर्व स० शि० 4/80
4. अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि मतमापिशलेर्मुनेः।
   गुरू लध्वादिविज्ञानं नास्यारम्भ प्रयोजनम्।। —आपि० शि० 1
5. तस्मात् तत्तत् समाम्नाये प्रातिशाख्याविरोधतः।
   कार्यं सर्वं व्यवस्थाप्यं शिक्षा व्याकरणोदितम्।। —आपि० शि० 5
6. गणपतिमभिनन्द्यावद्य जानामयध्मम्,
   स्वरपदमिति वणोदबोधनं शीतलेन।
   क्षितिसुरगणहेतोरेत्तदारण्य शिक्षा,
   मृतमिव नवशिक्षावारिधेरूद्धरामि।। —आ० शि० 1

परिगणन है तथा उदात्तादि स्वरों की संख्या को स्पष्ट किया गया है।[1]

**(14) पारि शिक्षा–**

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से यह शिक्षा सम्बद्ध हैं। इस शिक्षा के प्रणेता पारि ऋषि हैं। इसकी पाण्डुलिपि संख्या 924 मद्रास में उपलब्ध है। शिक्षा में द्वित्व, मात्रा, स्वराघात आदि का विवेचन है। शिक्षानुसार अनुस्वार से पर प्रथम व्यंजन द्वित्व होता है अनुस्वार से पूर्व योगादि वर्ण का जो आगम होता है। वह वर्ण द्विरुक्त (दो बार उच्चरित होने वाला) होता है।[2] इसमें संगीत के षड्जर्षभ आदि सप्त स्वर उदात्तादि से उत्पन्न हुए है।[3]

**(15) काल निर्णय शिक्षा–**

यह शिक्षा सायणाचार्य[4] प्रणीत कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। सम्प्रति दो पाण्डुलिपियां मद्रास में उपलब्ध है। यह प्रातिशाख्यों के बाद की रचना है ऐसा उल्लेख इसकी प्रस्तावना में मिलता है।[5] काल निर्णय शिक्षानुसार अनेक

---

1. आद्युदात्तानि वाक्यानि चैक–द्वि–त्र्यादि संख्यया।
   विविधानि तु वृन्दानिविस्पष्टान्यत्र कृत्स्नशः।। —आ० शि० 2
2. ह्रस्वानुस्वार स्याद् द्विवर्णम् योगे परे तस्य च मात्रिकः स्यात्।
   योगादिरप्यत्र तथा द्विरुच्यते पूर्वोथप्य चागमः स्यात्।। —पारि० शि०
3. गान्धारको मध्यम उच्चजातः षडजर्षभौ द्वौ निहतोद्भवतौ स्तः।
   सपंचमो धैवतको निषादः, तयः स्वराश्च स्वरितात्तुजाताः।। —पारि० शि० 83
4. ऐन्द्र स्कूल ऑफ ग्रामेरियन्स पृ० 49
5. प्रातिशाख्यादि शास्त्राणि मया वीक्ष्य यथामति।
   वेद तत्वावबोधार्थमिह कालो निरूप्यते।। —का० नि० शि० (प्रस्तावना)

वाक्यों में विद्यमान स्वरों और वर्णों के विरामों का उच्चारण एक समान नहीं होता है।[1] तीन वृत्तियों के मध्यस्थ मध्यम वृत्ति का आश्रय लेकर ही सबका काल निर्णय होता है।[2]

**(16) मनः स्वार शिक्षा–**

इस शिक्षा के प्रणेता याज्ञवल्क्य है।[3] परन्तु शिक्षा के आदि श्लोक से ज्ञात होता है कि किसी व्यक्ति ने विरचित करके स्व नाम की अपेक्षा याज्ञवल्क्य का नाम प्रस्तुत कर दिया।[4] अथवा प्राचीन काल में याज्ञवल्क्य विरचित कोई शिक्षा थी जिसका यह समास रूप है।

**(17) अवसान निर्णय शिक्षा–**

यह शिक्षा अनन्त देव प्रणीत है।[5] इसका उल्लेख शिक्षा के उपसंहार शीर्षक में मिलता है। शिक्षानुसार यजुर्वेद के मन्त्रों में कहाँ–कहाँ एवं कितने विराम प्रयुक्त है ? इसका निर्णय किया गया है। ऋगात्मक मन्त्रों के उच्चारण में कहाँ–कहाँ इनका प्रयोग करना अनिवार्य है। इसका निरूपण किया गया है।

**(18) गलदृक शिक्षा–**

इस शिक्षा में यजुर्वेद के प्रति अध्याय कितनी एवं कौन–सी ऋचाएं गलित[6] है की परिगणना है। किसी अध्याय में सर्वथा गलित है एवं ऋचाओं के अभाव

---

1. स्वरवर्णविरामाणां भिन्नवाग्वृत्तिवर्तिनाम्।
   एकरूप्येण कालस्य कथनं नोपपद्यते।। –का० नि० शि० 3
2. मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य मया धेयं कृतिः कृताः।
   प्रातिशाख्ये निषिद्धान्ये यस्मात्सेव हि बोध्यते।। –का० नि० शि० 4
3. इति महर्षि याज्ञवल्क्यकृता शिक्षा समाप्ता। –म० स्वा० शि० (उपसंहार)
4. मनः स्वारं प्रवक्ष्यामि ब्रह्माणा निर्मितापुरा,
   भगवद् याज्ञवल्क्येन भाषितं लोक हेतवे। –म० स्वा० शि० 1
5. इत्यनन्तदेवविरचितावसाननिर्णयशिक्षासमाप्ता। –अ० नि० शि० (उपसंहार)
6. गलित = अतिक्रमविषयभूत।

को सूचित किया गया है। इसका आशय यह है कि जो अनेक ऋचाएं बारम्बार संहिताओं में दृष्ट है तो प्रथमवार पूर्णतया तथा द्वितीय वार प्रतीक मात्र पढे जाते हैं।

**(19) यजुर्विधान शिक्षा–**

इस शिक्षा में मन्त्रों के विनियोग विधि एवं अनुष्ठान का विशद विवेचन किया गया है।[1]

**(20) लक्ष्मीकान्त शिक्षा–**

इस शिक्षा में उदात्तादि स्वरों का निरूपण किया गया है।[2] इसमें तैत्तिरीय शाखा में प्रयुक्त आद्युदात्त अन्तोदात्तादि पदों का निर्णय प्राप्त होता है एवं तैत्तिरीय शाखा से इसकी टीका में स्पष्ट स्वीकार किया गया है।[3]

**(21) त्रैस्वर्य शिक्षा–**

याज्ञवल्क्य शिक्षा का यह संक्षिप्त रूप है। इसमें याज्ञवल्क्य शिक्षा के श्लोक भी संक्षिप्त रूप में संग्रहीत है।

**(22) प्लुत शिक्षा–**

इस शिक्षा में प्लुत का विवेचन किया गया है। इसका प्रमाण डॉ० मधुकर फाटक की कृति में मिलता है।[4]

---

1. मन्त्राणामनुष्ठानकल्पनं वशिष्ठादिभिरनुष्ठितम् व्याख्यास्यामः। –यजु र्वि० शि० 1
2. प्रणम्य नारायण पादपङ्कजे, समस्त लोकत्रयार्ति हारिणी,
   करिष्यति वेदपादानि पाठतो निरूप्य चोच्चस्वरनिर्णयोमया। –ल० का० शि० 1
3. तैत्तिरीय वेदपदानि लोक प्रसिद्ध पाठानुसारेण तत्वतः,
   परीक्ष्य उदात्तादिस्वरनिर्णयो नाम लक्षणं क्रियते।
   –ल० का० शि० 1 (व्याख्या)
4. पा० शि० शि० स० स० पृ० 245

**(23) प्लुतानुशासन शिक्षा–**

इस शिक्षा के आदि श्लोकानुसार तैत्तिरीय शाखा में कहाँ–कहाँ प्लुत प्रयुक्त हुआ है इत्यादि का निरूपण किया गया है।[1]

**(24) वेद परिभाषा सूत्र शिक्षा–**

इस शिक्षा के प्रणेता रामचन्द्र है। इसमें चार अक्षरों से संख्या बोधनात्मक सङ्केत करके यजुर्वेद संहिता में प्रत्येक अनुवाक में कितने पद अथवा कितने विसर्ग है कितने नान्त और कितने मान्त अथवा कितने कटतपङ्णान्त अथवा कितने अवग्रह तथा कितने प्रगृह्यसंज्ञक पद है। शिक्षा में इसका निरूपण किया गया है।

**(25) वेद परिभाषा कारिका शिक्षा–**

यह शिक्षा व्याख्या ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसमें किस वर्ण का किस संख्या से संकेत होगा। चार अक्षरों में किस वर्ण से पदादि में किस संख्या का बोध होगा, इसका प्रतिपादन किया गया है। इस शिक्षा में संख्या विचार को आधुनिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

**(26) मल्लशर्म शिक्षा–**

इस शिक्षा के प्रणेता मल्लशर्म है। शिक्षा में पैंसठ श्लोक हैं। आद्य श्लोकों से ज्ञात होता है कि यह शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित शिक्षा प्रतीत होती है।[2] इस शिक्षा ने यजुर्वेद को उपकृत मात्र किया है। इसमें मुख्यतया हस्तस्वर की चर्चा की गई है। जिसके अर्न्तगत हस्त स्वर गति प्रमाण, अङ्गुलि निःसारण प्रमाण ठ॰ (गुँ) कारसंज्ञा

---

1. तैत्तिरीयवेदस्य प्लुतानामनुशासनम्,
   यथात्रुति यथान्यायः सफलं क्रियते। –प्लु० शि०
2. वेदे वाजसनेयके त्वधिकृताः विप्राश्च ये सत्तमाः।
   तेषामेव कृते कृता, न कुधियां हस्तस्वरप्रक्रिया।। –म० श० शि० 1

विसर्गोच्चारण प्रमाण, क्षिप्रस्वर, रेखाभि उदात्तानुदात्तादि संज्ञा, तकारादि मान्तों में तर्जन्यङ्गुष्ठायोगादिमुष्ठ्यन्त क्रियायें, विचित्र गति ब्राह्मय स्वर संक्षेप, रेफ विशेषोक्ति, द्विस्वर क्रम, ठकार स्थानों का रङ्गमहारङ्गातिरङ्ग स्वरों का, रङ्गादियों के उच्चारण प्रमाण, ओष्ठमकारोत्पत्ति इत्यादि विषय का सुष्ठुरूपेण विवेचन किया गया है।

**(घ) सामवेदीय शिक्षाएं–**

सामवेद से सम्बद्ध तीन शिक्षाएं उपलब्ध हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है–

**(1) नारदीय शिक्षा–**

महर्षि नारद[1] प्रणीत यह शिक्षा सामवेद से सम्बद्ध है। इस शिक्षा का प्रकाशन शिक्षा संग्रह 1893 में हुआ। शिक्षा दो प्रपाठकों में विभक्त है। प्रत्येक प्रपाठक आठ कण्डिकाओं में विभक्त है। इसमें दो सौ अड़तीस श्लोक है। प्रारम्भ में स्वर वर्ण आदि के शुद्ध उच्चारण का निरूपण किया गया है। स्वर वर्ण विहीन मन्त्र अभीष्ट सिद्धि में अक्षम होते हैं।[2] वेदों में प्रयुक्त स्वर, ग्राम, मूर्च्छना एवं तान प्रभृति का निरूपण किया गया है।[3] उच्चारण दोष, स्वरों का वर्ण विभाग, स्वरों की उत्पत्ति स्थान, सामगान का लक्षण, आर्चिक स्वर, उसके भेद, कम्पन प्रकार, अवग्रह स्वरूप, विवृत्ति, सामगान आदि विषयों का प्रतिपादन हैं।

---

1. शिक्षामाहुर्द्विजातीनां ऋग्यजुः सामलक्षणम्।
   नारदीयमशेषेण निरूक्त मनुपूर्वशः।। –ना० शि० 2/3
2. मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
   स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात।। –ना० शि० 1/1/5
3. सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।
   ताना एकोनपंचाशदित्येतत्स्वर मण्डलम्।। –ना० शि० 1/2/4

(2) **गौतमी शिक्षा–**

सामवेद से सम्बद्ध यह शिक्षा महर्षि गौतम प्रणीत है। यह गद्यात्मक शिक्षा दो प्रपाठकों में विभक्त है। इसमें द्वित्व एवं व्यंजन संयोगादियों का सुष्ठु विवेचन किया गया है। इस शिक्षा का संकलन शिक्षा संग्रह में है।

(3) **लोमशी शिक्षा–**

यह शिक्षा सामवेद से सम्बद्ध है। इसके प्रथम श्लोक से ज्ञात होता है कि इसकी योजना गार्ग्य ने की थी।[1] जातक पद्धति में ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों के साथ गर्ग एवं रोमश का नाम भी प्राप्त होता है।[2] इससे प्रतीत होता है कि रोमश या लोमश नामक व्यक्ति ने इसे निष्पादित किया है। यह आठ कण्डिकाओं में विभक्त है। इसमे ह्रस्व दीर्घ प्लुतरङ्ग स्वर भक्तियों में वर्ण स्थान एवं वर्णोच्चारण विधि का निरूपण किया गया है।

(ङ) **अथर्ववेदीय शिक्षा–**

अथर्ववेद से सम्बद्ध एक ही शिक्षा अद्यावधि उपलब्ध होती है।

(1) **माण्डूकी शिक्षा–**

अथर्ववेदीय माण्डूकी शिक्षा का रचना काल ईसा की पाँचवीं शताब्दी मानी गई है।[3] शिक्षा में एक सौ अठहत्तर श्लोक ही है। यह शिक्षा युगल किशोर व्यास द्वारा प्रकाशित बनारस संस्कृत सिरीज 1893 के शिक्षा संग्रह में संकलित है। इस शिक्षा में सोलह प्रकरण हैं।

---

1. लोमशन्यां प्रवक्ष्यामि गर्गाचार्येण चिन्तिताम्। –लो० शि० 1
2. रोमशः पौलशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः।
   शौनकोऽष्टादश ह्येते ज्योतिः शास्त्र प्रवर्तकाः।।
   –मद्रास मैन्युस्क्रिप्ट कैटेलाग 2/9/3 सं० 3
3. ए क्रिटिकल स्टडीज इन द फोनिटिक आब्जर्वेशन्स आफ
   इण्डियन ग्रामेरियन्स पृ० 63 –डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा

## माण्डूकी शिक्षा का प्रकरणानुसार विभाजन–

**प्रथम प्रकरण–**

प्रथम प्रकरण में चौदह श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में वृत्तियों का उल्लेख है।[1] द्वितीय श्लोक में प्रतिपादन किया गया है कि जो व्यक्ति वर्ण सम्पद की इच्छा करता है। वह विलम्बित वृत्ति नहीं जपता।[2] तृतीय एवं चतुर्थ श्लोक में वृत्तियों का प्रयोजन एवं तत्सम्बन्धित देवताओं का प्रतिपादन हुआ है। यथा– अभ्यास में द्रुत वृत्ति, प्रयोग में (अनुष्ठानादि में) मध्यमा वृत्ति का प्रयोग होता है।[3] पंचम श्लोक में द्रुत और बिलम्बित वृत्ति की निन्दा की गई है। क्योंकि द्रुत वृत्ति में वर्णों का उच्चारण ग्रस्त की तरह होता है और विलम्बित वृत्ति में दोष प्रकाशित होते हैं। अतः मध्यमा वृत्ति ही मनुष्य के द्वारा आदरणीय है।[4] षष्ठम् श्लोक के अनुसार ये वृत्तियाँ निर्दोष है। जब सुवक्ता, स्वयं अध्ययन करने वाले और शिक्षा शास्त्री इन वृत्तियों को आश्रित मानकर वर्णों का उच्चारण करता है।[5] सप्तम श्लोक में साम स्वरों का निर्देश है। ये स्वर संख्याओं में सात

---

1. तिस्त्रो वृत्तीरनुक्रान्ता द्रुतमध्यविलम्बिताः।
   यथाऽनुपूर्वं प्रथमा द्रुताः वृत्तिः प्रशस्यते।। –मा० शि० 1/1
2. मध्य मैकान्तरावृत्ति र्द्वयन्तरा हि विलम्बिता।
   नैना बुधः प्रयुंजोत यदीच्छेदवर्णसम्पदम्।। –मा० शि० 1/2
3. अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिरूपलब्धै र्विलम्बिता।
   मध्यमा तु प्रयोगार्थे न तद्ववचनमन्यथा।।
   ऐन्द्री तु मध्यमा वृत्तिः प्राजापत्या विलम्बिता।
   अग्निमारूतयोर्वृत्तिः सर्व शास्त्रेषु निन्दिता।। –मा० शि० 1/3–4
4. दोषाः प्रकाशास्तु विलम्बितायाम् वर्णा द्रुतायाम न च सूपलक्ष्याः।
   तस्माद् द्रुतां चैव विलम्बिताम् च त्यक्त्वा नरो मध्यमया प्रयुंज्यात्।।
   –मा० शि० 1/5
5. सर्वा एव तु निर्दोषाः वृत्तयः समुदाहृताः।
   स्वधीतस्य सुवक्तस्य शिक्षकस्य विशेषतः।। –मा० शि० 1/6

होते हैं। किन्तु चार स्वर ही छन्दों के लिए उपकारक हैं। शेष अन्य वहाँ व्यवहरित नहीं है।[1] अष्टम् श्लोक में षड्जादि साम स्वरों का परिगणन किया गया है।[2] नवम् एवं दशम् श्लोकों में कौन प्राणी किस स्वर को उच्चारण करता है। सूक्ष्म रीति के द्वारा अनुसंधान करके शिक्षा कारिणी का प्रतिपादन किया गया है। षड्ज स्वर में मयूर बोलता है, गाय ऋषभ स्वर में रम्भाति है, गान्धार स्वर में अजा बोलती है, कौन्च मध्यम में बोलता है, पंचम् स्वर में बसन्त ऋतु में कोयल बोलती है, धैवत स्वर में अश्व बोलता है और निषाद स्वर में हाथी बोलता है। अर्थात् इन पशु पक्षियों में षड्जादि स्वरों की निष्पत्ति स्वभाव से ही होती है।[3] एकादश एवं द्वादश श्लोकों में स्वरों के स्थानों का उल्लेख निम्न प्रकार है– षड्ज का कण्ठ, ऋषभ का सिर, गान्धार का नासिका, मध्यम का हृदय, पंचम का हृदय, सिर और कण्ड, धैवत का ललाट, निषाद का उपर्युक्त सर्व स्थान कहा गया है।[4]

---

1. सप्त स्वरास्तु गीयन्ते सामभिः सामगैर्बुधैः।
   चत्वार एव छन्दोभ्यस्त्रयस्तत्र विवर्जिताः।। —मा० शि० 1/7
2. षड्जऋषभगान्धारो मध्यमः पंचमस्तथा।
   धैवतश्च निषादश्च स्वराः सप्तेह सामसु।। —मा० शि० 1/8
3. षड्जे वदति मयूरो गावोरम्भन्ति चर्षभे।
   अजा वदति गान्धारे कौन्चनादस्तु मध्यमे।।
   पुष्प साधारणे काले कोकिलः पंचमे स्वरे।
   अश्वस्तु धैवते प्राह कुंजरस्तु निषादवान्।। —मा० शि० 1/9–10
4. कण्ठादुतिष्ठते षड्जऋषभः शिरसस्तथा।
   नासिकायास्तु गान्धार उरसो मध्यमस्तथा।।
   उरः शिरोभ्यां कण्ठाच्च पंचमः स्वर उच्यते।
   धैवतश्च ललाटाद्वै निषादः सर्वरुपवान।। —मा० शि० 1/11–12

त्रयोदश तथा चतुर्दश श्लोकों में स्वरों के वर्ण बताये गये हैं। यथा– षड्ज का पदम् पत्र, ऋषभ का शुक पिंजर, गान्धार का कनक, मध्यम का कुन्द, पंचम का कृष्ण, धैवत का पीत वर्ण एवं निषाद सर्ववर्णाभ कहा गया है।[1]

**द्वितीय प्रकरण–**

द्वितीय प्रकरण में चौदह श्लोक हैं। प्रथम दो श्लोकों में सात स्वरों के स्थानों का प्रस्तुतीकरण है– वाह्य अङ्गुष्ठ में कुष्ट, अङ्गुष्ठ में मध्यम स्वर, प्रादेश में गान्धार, मध्यम में पंचम, अनामिका में षड्ज, कनिष्ठिका में धैवत और धैवत के नीचे निषाद बताया गया है।[2] माण्डूक के मतानुसार सात स्वरों में से चार स्वरों का ही वेद में प्रयोग किया गया है– षड्ज, ऋषभ, धैवत एवं निषाद।[3] उदात्तादि में चार स्वरों का अर्न्तभाव होने का निदर्शन है। उनमें ऋषभ स्वरित, धैवत प्रचित, निषाद उदात्त एवं षड्ज अनुदात्त के रूप में निरूपित किया गया है।[4] पंचम श्लोक में कहा गया है– कि चार

---

1. पद्म पत्र प्रभः षड्ज ऋषभः शुकपिंजरः।
   कनकाभस्तु गान्धारो मध्यमः कुन्दमप्रभः।।
   पंचमस्तु भवेत्कृष्णः पीतवर्णस्तु धैवतः।
   निषादः सर्ववर्णाभइत्येते स्वरवर्णकाः।। —मा० शि० 1/13–14
2. वाह्याङ्गुष्ठं तु क्रुष्टं स्यादङ्गुष्ठे मध्यमः स्वरः।
   प्रादेशिन्यां तु गन्धारो मध्यमायां तु पंचमः।।
   अनामिकायां षड्जस्तु कनिष्ठायां तु धैवतः।
   तस्या धस्तातु योऽन्त्यः स्यान्निषाद इति तु विदुः।। —मा० शि० 2/1–2
3. प्रथमावन्तिमौ चैव वर्तन्ते छन्दसि स्वराः।
   त्रयो मध्या निवर्त्तन्ते मण्डूकस्य मतं यथा।। —मा० शि० 2/3
4. द्वितीयं स्वरितम् प्राहुः षष्ठः प्रचित उच्यते।
   उच्चं विद्यान्निषादं तु नीचं षड्जमुदाहृतम्।। —मा० शि० 2/4

उदात्तादि स्वर शास्त्र के ज्ञान कत्ताओं के द्वारा आर्चिक स्वर पद कहे गये हैं।[1] षष्ठम् श्लोक में उच्चारण के समय उच्चारण कर्ता की दृष्टि हाथ में होनी चाहिए।[2] सप्तम श्लोक में अङ्गुलियों को फैलाकर हस्त संचालन बताया गया है और अष्टम् श्लोक में अङ्गुलियों के द्वारा अङ्गुष्ठ के स्पर्श का निषेध किया गया है।[3] दशम् श्लोक में उच्चारण में स्वरों का प्रादेश मात्र ही संचालन होना चाहिए।[4] एकादश एवं द्वादश श्लोकों में हस्त दोष के विषय में वर्णन मिलता है।[5] त्रयोदश श्लोक के अनुसार उच्चारण में सिर का कम्पन, पैरों का कम्पन और मुख दोष को त्यागकर नासिका के पूर्व से हस्त संचालन करना चाहिए।[6] चतुर्दश श्लोक में वर्णन है कि त्रुटि वाणीगत होती है और वाणी मनोगत

---

1. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचितस्तथा।
   चतुर्विधः स्वरो दृष्टः स्वरचिन्ता विशारदैः।। —मा० शि० 2/5
2. स्वरे ज्ञात्वा यथा स्थानम् हस्तस्य स्पन्दनम् स्मृतम्।
   निष्कृष्य हस्तम् विन्यस्तम् पाणौ दृष्टि निवेशयेत्।। —मा० शि० 2/6
3. किचिंद्यो नभसः स्वांसाद्बाहुदृष्टिं निपातयेत्।
   प्रसार्य चाङ्गुलीः सर्वाश्चालयेत् करमण्डलम्।।
   न चाङ्गुलीभिररङ्गुष्ठमुपेयाद् दोष वित्ततः।
   ऊर्ध्वमायुस्तमाकुंचमङ्गुष्ठं स्थापयेद् बुधः।। —मा० शि० 2/7–8
4. स्वर विद्धं करं कुर्यात्प्रादेशोद्देश गामिनम्।
   अङ्गुष्ठस्योत्तरे पूर्वे यवस्यो परि यद्भवेत्।। —मा० शि० 2/10
5. प्रादेशस्य तु तद्देशस्तन्मात्रं चालयेत्करम्।
   चुलुर्नोवा स्फुटो दण्डी स्वस्तिको मुष्टिकाकृतिः।।
   एते वै हस्तदोषाः स्युः परशुछेदस्तु सप्तमः।
   कूर्मोऽङगानीव संहृत्य चेष्टां दृष्टं दृढ़ं मनः।। —मा० शि० 2/11–12
6. न कम्पयेच्छिरः पादौ मुखदोषांश्च वर्जयेत्।
   नासिकायास्तु पूर्वेण हस्तं संचालयेद् बुधः।। —मा० शि० 2/13

होनी चाहिए। दृष्टि हस्तानुगत होगी तभी श्रेष्ठ उच्चारण होता है। अर्थात् सावधानी पूर्वक उच्चारण करने से पटुता आती है।[1]

**तृतीय प्रकरण–**

तृतीय प्रकरण में सात श्लोक है। प्रथम एवं द्वितीय श्लोकों में कहा गया है कि रिक्त स्थान के अतिरिक्त उच्चारण के साथ हस्त का भी आश्रय लेना चाहिए। उदात्तादि स्वरों के अनुसार ही हस्त संचालन करना चाहिए। स्वरों का उच्चारण और हस्त संचालन एक साथ होना चाहिए।[2] तृतीय श्लोकानुसार जो वेद पाठी वेदों को हस्त हीन स्वर वर्णो के रहित अध्ययन करता है। वह अति शीघ्र ही उन्हीं वेदों के द्वारा नष्ट हो जाता है।[3] चतुर्थ एवं पंचम श्लोकों में कहा गया है कि जो ब्राह्मण ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदों को हस्त हीन होकर पढ़ता है वह तब तक ही अवैदिक होता है। जब तक हस्त चालन में और स्वर ज्ञान में समर्थ नहीं होता है। हस्त चालन पूर्वक स्वर के साथ जो वेद को पढ़ता है। वह अभीष्ट फल को प्राप्त करता है।[4] षष्ठम् श्लोक में बताया

---

1. सूक्ष्मान्वर्णानुच्चरेद्वै दक्षिणं श्रवणं प्रति,
   श्रुतिं वाचोऽनुगाङ्कृत्वा वाचम् कृत्वा मनोऽनुगाम्,
   दृष्टिं हस्तानुगां कृत्वा ततः पदभिवोच्चरेत्।। —मा० शि० 2/14
2. यथा वाणी तथा पाणी रिक्तं तु परिवर्जयेत्।
   यत्रैव तु स्थिता वाणी पाणस्तित्रैव धार्यते।।
   स्वरश्चैव तु हस्तश्च द्वावेतौ युगपद्भवेत।
   हस्ताद्भ्रष्टः स्वराद्भ्रष्टो न वेदफलमश्नुते।। —मा० शि० 3/1–2
3. हस्तहीनन् तु योऽधीते स्वरवर्ण विवर्जितम्।
   ऋग्यजुः सामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति।। —मा० शि० 3/3
4. ऋग्यजुः सामगादीनि हस्त हीनानि यः पठेत।
   अनृचो ब्राह्मणस्तविद्यावत्स्वारं न विन्दति।।
   हस्तेनाधीयमोनो यः स्वरवर्णान्प्रयोजयेत।
   ऋग्यजुः सामभिः पूतो ब्रह्मलोकं स गच्छति।। —मा० शि० 3/4–5

गया है कि सर्वप्रथम विच्छेद पूर्वक द्वितीय स्वर का उच्चारण करना चाहिए।[1] सप्तम् श्लोक के अनुसार, अक्षर, विराम, संहिता पद पाठ आदि के आरम्भ को और स्वर मात्र के बिना विभाग के स्वर मात्र को जो जानता है वह सम्मान का पात्र होता है।[2]

**चतुर्थ प्रकरण–**

चतुर्थ प्रकरण में पन्द्रह श्लोक हैं। प्रारम्भिक तीन श्लोकों में उल्लेख है कि कायिक शुद्धि ही मानसिक शुद्धि की तरह वेद के अध्ययन में अनिवार्य है। कायिक शुद्धि के लिए प्रातः काल जागकर आम, पलाश, बेल, बबूल, नीम आदि वृक्षों में से किसी एक वृक्ष की दातुन करना चाहिए। इसके द्वारा उच्चारण के अवयव सूक्ष्म होते हैं और वाणी में मधुरता आती है। जिससे उच्चारण में दोष की सम्भावना नहीं होती हैं।[3] चतुर्थ श्लोक के अनुसार मन्त्रों का उच्चारण न अधिक उच्च स्वर से और न ही नीच स्वर से करना चाहिए। अपितु आदर के साथ करना चाहिए।[4] पंचम् एवं षष्ठ श्लोक में प्रातः काल विषयक विवेचन किया गया है। अर्थात् प्रातः हृदयस्त स्वर के द्वारा सिंह की तरह उच्चारण होना चाहिए।[5]

---

1. स्वरात्स्वरं सङ्क्रमते स्वरसन्धिमनुल्वणम्।
   अविच्छिन्नम् समं कुर्यात्सूक्ष्मम् छाया तथोपमम्।। –मा० शि० 3/6
2. अक्षरज्ञो विरामज्ञः प्रत्यारम्भी तथैव च।
   स्वरमात्राविभागज्ञः स विप्रो वक्तुमर्हति।। –मा० शि० 3/7
3. आम्रपालाशविल्वानामपामार्गशिरीषयोः।
   खदिरस्य करंजस्य कदम्बस्य च क्षीरिणः।।
   अर्कस्य करवीरस्य कुटजस्य विशेषतः।
   वाग्यतः प्रातरूत्थाय भक्षयेदन्त धावनम्।।
   तेनास्य करणं सूक्ष्मं माधुर्यं चोप जायते।
   न चास्य वदतो दोषात्कश्चिदप्युपलक्षयेत्।। –मा० शि० 4/1–3
4. नात्युच्चैर्नाति वा नीचै र्घोषणः सदनस्य खम्।
   प्रब्रूयान्नाति तीक्ष्णेन कण्ठे न मृदुनादिना।। –मा० शि० 4/4
5. प्रातर्वदेन्नित्यमुरः स्थितेन स्वरेण शादर्दूलरुतोपमेन।
   माध्यन्दिने कष्ठगतेन चैव चक्राहयैः कूजितसन्निभेन।।
   तारं तु विद्यात्सवनन्तृतीयं शिखण्डिना तच्च सदा प्रयोज्यम्।
   मयूरहंसादिमृदु स्वराणां तुल्येन नादेन शिरः सुखेन।। –मा० शि० 4/5–6

सप्तम्, अष्टम् एवं नवम् श्लोकों में वर्णों के सामान्य उच्चारण की विधि बताई गई है।[1] दशम् एवं एकादश श्लोकों में अङ्गुली का प्राकुंचन एवं अङ्गुली पीड़न बताया गया है।[2] द्वादश एवं त्रयोदश श्लोकों में हस्त चालन विधि दर्शायी गयी है।[3] चतुर्दश श्लोक के अनुसार संहिता के उच्चारण काल में पदान्तर प्रयोग नहीं होना चाहिए। यथा– मांसे इसके स्थान पर मांसं का प्रयोग एवं पांसे के स्थान पर पांसं का प्रयोग ही समझना चाहिए।[4] पंचदश श्लोक में बताया गया है कि नदी में जल निरन्तर प्रवाह होता रहता है और तेल की धारा बराबर गिरती है। उसी प्रकार से वर्णों का उच्चारण भी निरन्तर करना चाहिए।[5]

---

1. यथा व्याघ्री हरेत्पुत्रान्दष्ट्राभिर्न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्।।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या न मुक्ता न च पीडयेत्।
सम्यग्वर्ण प्रयोगेन ब्रह्मलोके महीयते।।
शनैरध्वसु वक्त्रेण न परं योजनाद्ब्रजेत्।
नहि पार्ष्णिहिता वाणी प्रयोगान्वक्तुमर्हति।। —मा० शि० 4/7–9
2. मान्ते मुष्टयाकृतिङ्कुर्यात्तकारान्ते विश्लेषयेत्।
नखस्य दक्षिणे पार्श्वे नकारान्ते प्रयोजयेत्।।
कटान्तयोस्तुकर्तव्यमङ्गुल्यग्रप्रकुंचनम्।
ङणनान्त तथैव स्यात्पान्तेत्वङ्गुलिपीडनम्।। —मा० शि० 4/10–11
3. ऊर्ध्वक्षेपाच्च या मात्रा अधः क्षेपाऽपि या भवेत्।
एकैकामुत्सृजेद्धीरः प्रचिते तृभयं तथा।।
ह्रस्वानुस्वारकरणे त्वङ्गुल्याश्च प्रकुंचनम्।
दीर्घे तु सूरयः प्राहुर्देशिन्याः सुप्रसारणम्।। —मा० शि० 4/12–13
4. पदान्तर न कुर्वीत संहितायां प्रयोगवित्।
नैव मांसं विजानीयात् पांसे पांसं विनिर्दिशेत्।। —मा० शि० 4/14
5. यथा नौ स्रोतसां मध्ये समं गच्छति संयुता।
तैल धारेव वा वाणी तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्।। —मा० शि० 4/15

पंचम प्रकरण–

पंचम प्रकरण में एकादश श्लोक है। प्रथम श्लोक के निर्देशानुसार उदात्त से उदात्य को स्वरित नहीं करना चाहिए। अनुदात्य से नीच स्वर नही होता है। उदात्य से उच्च स्वर होता है।[1] द्वितीय श्लोक में है कि उच्च से उच्च नहीं होता, नीच से नीच नहीं होगा। उसी प्रकार स्वरित से स्वरित और कम्पित से कम्पित नहीं होता है।[2] तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम श्लोकों में उदात्त अनुदात्त के बिषय में प्रतिपादन किया गया है।[3] षष्ठ एवं सप्तम् श्लोक में प्रचित के बिषय में कहा गया है।[4] अष्टम् ,नवम् एवं दशम् श्लोकों में त्रिविक्रम के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।[5] एकादश श्लोक में कहा गया है कि

---

1. उदात्ताच्च न कर्त्तव्यमुदात्तं स्वरितन् तथा।
   नीचान्नीचतरन् नास्ति उच्चादुच्चं न विद्यते।। —मा० शि० 5/1
2. उच्चादुच्चतरन् नास्ति नीचान्नीचतरङ्कुतः।
   स्वरितात्स्वरितन् नास्ति कम्पिताच्चैव कम्पितम्। —मा० शि० 5/2
3. यदुदात्तमुदातन् तद्यत्स्वरिन् तत्पदे भवन्ति नीचम्।
   यन्नीच्चन् नीचमेव तद्यत्प्रचयस्थं तदपि नीचम्।।
   अनुदात्तमनहादमुदात्तानामताङनम।
   अनुदात्तमनाधिष्ठम् शषसानामरोमशम्।।
   षड्धातु स्वरिता देवह्युदात्तश्च चतुर्विधः।
   द्विविधश्चानुदात्तश्च ह्येतच्छास्त्रेण चोदितम्।। —मा० शि० 5/3–5
4. स्वरित प्रभवं प्रचितात्स्वरितमेव उदात्तम् वा।
   अनुदात्तमेव तद्विद्यादृतम् च तद्विद्धियत्प्रचितम्।।
   स्वरितात्पराणि यानि स्युरनुदात्तान्युदात्तवत्।
   सर्वाणि प्रचयं यान्ति ह्युपोदात्तं न विद्यते।। —मा० शि० 5/6–7
5. स्वरितावधृत उदात्ते परस्त्रिपूर्वो विक्रमोच्यते।
   स्वरितावधृत उदात्ते पादः स्यात्सहि विक्रमः।।
   ननु धारयेद् वृतमुप स्पर्शमुपोदात्तम् निपातयेत्।
   एकाक्षरे धारयेन्न च धृतमुच्चारयेत् स्वरे वाऽपि।।
   न्यासमेवादितः कुर्यान्नीयतेषु बहुष्वपि।
   शेषमाद्यवदुक्त्वा तु तत्पदेषु समेषु च।। —मा० शि० 5/8–10

उदात्तादि धर्म स्वरों के होते है। अतः व्यञजन भी स्वरों के अनुसार होते हैं।[1]

**षष्ठम प्रकरण–**

प्रस्तुत प्रकरण में नौ श्लोक हैं। प्रथम श्लोक के अनुसार अक्षर का चिन्तन करने वाले उदात्त अनुदात्त स्वरित स्वर का प्राधान्य स्वीकार करते है।[2] द्वितीय श्लोक में कथन है कि दोनों स्वरों के मध्य में जब सन्धि के वशीभूत होकर एक भाव होता है तब उदात्त अनुदात्त होता है।[3] तृतीय श्लोक में व्यंजनों के स्वराधीन के विषय में विवेचन है।[4] चतुर्थ पंचम एवं षष्ठ श्लोकों में सामान्य उच्चारण विधि का निरूपण किया गया है।[5] सप्तम श्लोक में वर्णों के स्थान कहे गये है।[6] अष्टम् श्लोक में संवृत, विवृत, स्पृष्ट, अस्पृष्ट, अभ्यान्तर प्रयत्न इत्यादि का विवेचन है।[7] नवम् श्लोक में स्पर्शो का स्पृष्ट,

---

1. स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित उच्यते।
   व्यंजनान्यनु वर्त्तन्ते यत्रासौ तिष्ठति स्वरः।। —मा० शि० 5/11
2. स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव तु।
   स्वर प्रधानं त्रैस्वर्यमाहुरक्षर चिन्तकाः।। —मा० शि० 6/1
3. द्वयोस्तु स्वरयोः सन्धावेकीभावो यदा भवेत्।
   उदात्तोऽप्यनुदात्तस्य वशं गच्छति सन्धिषु।। —मा० शि० 6/2
4. दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान नृपः।
   स्वरो व्यंजनमासाध हरते मात्र संशयः।। —मा० शि० 6/3
5. आख्याताना प्रयोगेषु पूर्वस्वरमुपस्थितम्
   षोडशाक्षरमर्यादं यद्योगे स्वरमुद्धरेत्।।
   नीचं तु स्वर पूर्वं तु नीचावग्रहमेव च।
   हन्तव्यन्तद्विजानीयादुच्चावग्रहवर्जितम्।।
   नाभिहन्न्यान्ननिर्हन्यान्न प्रगायेन्न कम्पयेत्।
   एतौ द्वौ युगपत्साद्यावेतच्छांस्त्रेण चोदितम्।। —मा०शि० 6/4–6
6. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
   जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।। —मा०शि० 6/7
7. वर्णानां तु प्रयोगेषु करणम्स्याच्चतुर्विधिम्।
   संवृतं विवृत चैव स्पृष्टमस्पृष्टमेव च।। —मा०शि० 6/8

अन्तस्थ का अस्पृष्ट यमों का संवृत स्वरों का विवृत प्रयत्न बताया गया है।[1]

**सप्तम् प्रकरण–**

इस प्रकरण में दस श्लोक संकलित हैं। प्रथम श्लोक में स्वरित विवेचन की प्रतिज्ञा की गई है।[2] द्वितीय श्लोक में सप्त स्वरों की चर्चा की है।[3] तृतीय श्लोक से नवम् श्लोक पर्यन्त स्वरित स्वर कहे गये है।[4] दशम् श्लोक में ताथाभाव्य स्वरित का विवेचन किया गया है।[5] इस प्रकार माण्डूकी शिक्षा में स्वरित के आठ भेद बतलाये गये हैं।

---

1. स्पर्शनां करणं सपृष्टमन्तस्थानामतोऽन्यथा।
   यमानां स्वरितम् प्राहुर्विवृतम् च विरोष्मणाम्। —मा०शि० 6/9
2. सप्त स्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषां चैव बलाबलम्।
   लक्षणानि च सर्वेषां युक्तस्तानि निबोधमे।। —मा०शि० 7/1
3. अभिनिहितः प्राश्लिष्टो जात्यः क्षैप्रश्च पादवृत्तश्च।
   तैरोव्यंजनः षष्ठस्तिरोविरामश्च सप्तमः।। —मा०शि० 7/2
4. ए ओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो रेफितश्च यः।
   अकारं यत्र लुम्पति तमभिनिहितं विदुः।।
   इकारं यत्र पश्येयुरिकारेणैव संयुतम्।
   उदात्तोऽप्य नुदात्तस्य प्राश्लिष्टोऽभीन्धतामपि।।
   सयकारं सववंाऽप्यक्षरं स्वरितं भवेत्।
   न चोदात्तं पुरस्तस्य जात्यः स्वर्दृत्य एव तु।।
   इ उवर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित्।
   अनुदात्त प्रत्ययें स्याद्विद्वि क्षैप्रस्य लक्षणम्।।
   स्वरिते स्वरितम् यत्र विवृत्यां यत्र संहिता।
   तं पादवृत्तं जानीयान्ते त्वस्मिन्यवमाद धुः।।
   उदात्त पूर्वे सार्द्धे तु द्वितीये अक्षरे तु यः।
   तैरोव्यंजन इत्येष सारः स्याद्दधिमध्विति।।
   अवग्रहात्परं यत्र स्वरितम् स्यादनन्तरम्।
   तिरोविरामं जानीयात्प्रजापति र्निदर्शनम्।। —मा०शि० 7/3–9
5. द्वयोरुदात्तयोर्मध्ये नीचोऽस्ति यदवग्रहः।
   ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनप्त्रै निदर्शनम्।। —मा०शि० 7/10

अष्टम् प्रकरण–

इस प्रकरण में एकादश श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में ताथाभाव्य स्वरित में कम्प विचार किया गया है।[1] द्वितीय एवं तृतीय श्लोकों में इन स्वरों के उत्तरोत्तर मृदुत्व पर विचार किया गया है।[2] चतुर्थ श्लोक में स्वरों के उपन्यास के विषय में चर्चा की गई है।[3] पंचम श्लोक में बताया गया है कि इन स्वरों के उच्चारण में कितने अंश का कम्पन होना चाहिए।[4] षष्ठ् एवं सप्तम् श्लोकों के अनुसार अथर्ववेद में वर्णों का कितना उच्चारण होता है। इस विषय पर चर्चा की गई है।[5] अष्टम्, नवम् श्लोकों में रेफ पर विचार किया गया है।[6] दशम् एवं एकादश श्लोकों में अनुस्वार के स्वरूप को बताकर उसके तीन प्रकार

---

1. ताथाभाव्यस्तु तालव्यो न कम्पः स्वर संज्ञकः।
   स तालव्यो भवेत्कम्प एजातीति निदर्शनम्।। –मा०शि० 8/1
2. सर्वतीक्ष्णोऽभिनिहित स्ततः प्राश्लिष्ट उच्यते।
   ततो मृदुतरौ चैव जात्यः क्षैप्रश्च तावुभौ।।
   ततो मदुतरः स्वारस्तैरोव्यंजन उच्यते।
   पादवृत्तो मृदुतर इति स्वारबलाबलम्।। –मा०शि० 8/2–3
3. उपन्यासस्तु कर्तव्यः कण्ठे निक्षेपसंज्ञकः।
   उपन्यासात्परं हन्याद् भूमौ शङ्कुपदम् यथा।। –मा०शि० 8/4
4. प्राश्लिष्टजात्यक्षैप्राश्च यश्चाभिनिहितश्चयः।
   उदात्तोपस्थिते तेषामेक देशं प्रकल्पयेत्।। –मा०शि० 8/5
5 .हलन्तादुत्तरो यस्तु पदादवग्रहेषु च।
   यस्य स्वस्माद्य इत्येषो योऽन्यः स य इति स्मृतः।।
   पादादौ च पदादौ च संयोगावग्रहेषु च।
   य शब्द इति विज्ञेयो योऽन्यः स य इति स्मृतः।। –मा०शि० 8/6–7
6. पुनरन्तश्च सवितश्च प्रातर्या रेफिता च संहिता यत्र।
   रेफान्ति पदान्यस्य स्याद्वै तद्रिफितं पदम्।।
   अन्तः शब्दस्तु यः कश्चिदाद्युदात्तो भवेद्यदि।
   न तत्र रेफमिच्छन्नि संहितायां पदेषु च।। –मा०शि० 8/8–9

गये है वह अनुस्वार ह्रस्व दीर्घ प्लुत हैं।[1]

**नवम् प्रकरण–**

नवम् प्रकरण में त्रयोदश श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में विवृत्ति निरूपण किया गया है।[2] द्वितीय श्लोक में पिपीलिका, पाकवती, वत्सानुसारिणी, अनुसृतवत्सा प्रभृतय इत्यादि विवृत्तियाँ बताई गयी है।[3] तृतीय से षष्ठ श्लोक पर्यन्त पिपीलिका आदि विवृत्तियों के स्वरूप को बताया गया है।[4] सप्तम् श्लोक में बताया गया है कि मकार य र व ऊष्म प्रत्ययों में अनुस्वार लकार में 'न' इस प्रकार की परसवर्णता और स्पर्श वर्ण के समान उत्तमापत्ति समझना चाहिए।[5] अष्टम् श्लोक से त्रयोदश श्लोकों तक स्वर

---

1. अनुस्वारं हि दोषस्तु हकारादिषु वर्जितः।
   अंहो मुचो वातरंहा दंहश्चेति निदर्शनम्।।
   अनुस्वाराश्च कर्त्तव्या ह्रस्वदीर्घप्लुतास्त्रयः।
   अयं राजा पशोर्मांसं क्षत्रियाणां धनूंषि च।। —मा०शि० 8/10–11
2. विवृत्तयश्च विज्ञेयाश्चतस्त्रस्त्वनु पूर्वशः।
   नामभिस्तु पृथग्ज्ञेयास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम्।। —मा०शि० 9/1
3. पिपीलिका पाकवती तथा वत्सानुसारिणी।
   अनुसृतवत्सा चैव चतस्त्रो ही विवृत्तयः।। —मा०शि० 9/2
4. वत्सानुसृता ह्रस्वा जघने वत्सानुसारिणी चाग्रे।
   पाकवती चोभयतः पिपीलिकमध्याऽप्युभयदीर्घा।।
   पूर्वह्रस्वं परं दीर्घमक्षरं यत्र दृश्यते।
   सा वत्सानुसृता ज्ञेया व्यत्यासेत्यनुसारिणी।।
   उभाभ्यामेव ह्रस्वाभ्यां यवमध्या विनिद्र्दशेत्।
   ताभ्यामेव तु दीर्घाभ्यां विज्ञेया सापिपीलिका।।
   अभ्रमध्ये यथा विद्युद्दृश्यते मणिसूत्रवत्।
   एषच्छेदो विवृत्तीनां यथा बालेषु कर्त्तरी।। —मा०शि० 9/3–6
5. आपद्यते मकारो यरवोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारम्।
   न भवति लकारे पर सवर्ण स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिः।। —मा०शि० 9/7

भक्ति की विवेचना की गई है।[1]

**दशम् प्रकरण–**

इस प्रकरण में कुल एकादश श्लोक हैं। प्रथम तीन श्लोकों में स्वर भक्ति के स्वरूप को उदाहरण सहित बताया गया है। चतुर्थ एवं पंचम श्लोकों में विसर्ग का विवेचन किया गया है। षष्ठम् श्लोक में समापाद्य का लक्षण बताया गया है।[2] सप्तम्

---

1. ऊष्मस्थो यत्र दृश्येते स्वरवर्णौ स्वरोदयौ।
ऋ लृ वर्णौ तथा ज्ञेयौ स्वरभक्तीति संस्थितौ।।
तां ह्रस्वां प्रतिजानीयाद्यथा मात्रा भवेद्यदि।
सम्यगेनां विजानीयाद् द्वौ दोषौ परिवर्जयेत्।।
सम्यगेनां यदा पश्येच्छतवलिशेति निदर्शनम्।
अकारंचाप्युकारं च विच्छिन्नं विवृत्तन् यथा।।
करिणीं कुर्विणीं चैव हारिणीं लहकारयोः।
हरिणी ऋषयोर्विद्याद्धारितां लशकारयोः।
या तु हंसपदा नाम सा तु रेफषकारयोः।
या तु रेफशकरौ स्यात्काकिनीं तां विनिर्दिदशेत्।।
ऋकार प्रत्यये रेफः संयुक्तः शषसैः सह।
आद्यस्तत्र क्रमोज्ञेयेन परो बोधितो बुधैः। –मा०शि० 9/8–13

2. षत्वणत्वमुपाचारो दीर्घीभावस्तथैव च।
यस्मिन्पदे निपद्यन्ते तत्समापाद्य लक्षणम्।। –मा०शि० 10/6

श्लोक से दशम् श्लोक तक रङ्ग वर्ण के स्वरूप पर चर्चा की गई है।[1] एकादश श्लोक में लघु एवं गुरू के विषय में बताया गया है।[2]

**एकादश प्रकरण–**

प्रस्तुत प्रकरण में एकादश श्लोक है। प्रथम श्लोक में लघु गुरू की मात्रा बताई गई है।[3] द्वितीय श्लोक में बताया गया है कि स्पर्श वर्णों का वर्ग के अन्तिम वर्णों के साथ क्रम से यदि संयोग होता है तो चार यम पूर्व वर्ण के अनुरूप होते हैं।[4] तृतीय श्लोक में उदाहरण पूर्वक यम के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।[5] चतुर्थ एवं पंचम् श्लोकों में यम के दोष कहे गये हैं।[6] षष्ठ श्लोक से अष्टम् श्लोक पर्यन्त तक संयोग के

---

1. नकारान्ते पदे पूर्वे स्वरे च परसंस्थिते।
   रक्तं वर्णं विजानीयान्न ग्रसेत्पूर्वमक्षरम्।।
   रक्तं वर्णं यदा पश्येद्विवृत्या सह संस्थितम्।
   व्यंजनान्तं विजानीयाद्गोमाँ इति निदर्शनम्।।
   यथा सौराष्ट्रिका नारी अराँ इत्यभिभाषते।
   एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्या ङकार परिवर्जितश्च।
   नासांदुत्पद्यते रङ्गः कांसेन समनिस्वनः।
   मृदुश्चैव द्विमात्रं स्यादवृष्टिमाँइति निदर्शनम्।। —मा०शि० 10/7–10
2. संयुक्तस्य तुं यत्पूर्वं तद् ह्रस्वं लघुं विजानीयात्।
   तत्संयोगोत्तरं विद्यात् कुर्वन्त्यत्र नियोगतः।। —मा०शि० 10/11
3. मात्रैकं लघु विज्ञेयं तत्संयोग परं गुरुम्।
   मपरं व्यंजनान्तं च दीर्घस्तु प्लुत एव च।। —मा०शि० 11/11
4. स्पर्शानामुत्तमैः स्पर्शैः संयोगाच्चेदनुक्रमात्।
   आनुपूर्व्या यमांस्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा।। —मा०शि० 11/2
5. रुक्कमेति प्रथमं विद्यान्नृचक्षेत्यपरं विदुः।
   तृतीयं पद्दमभित्याहुः शङ्खध्ममिति चोत्तमम्।। —मा०शि० 11/3
6. वर्गान्ता यत्र दृश्यन्ते शषसैः सहसंयुताः।
   यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवोः।। —मा०शि० 11/4–5

स्वरूप और संयोग कैसा होना चाहिए ? इस विषय पर चर्चा की गई है।[1] नवम् श्लोक से एकादश श्लोक पर्यन्त जिन वर्णों का द्वित्व होता है। उनका परिगणन किया गया है।[2]

**द्वादश प्रकरण–**

इस प्रकरण में दस श्लोक संकलित हैं। प्रथम श्लोक में दृप्स इत्यादि में अभिनिधानों का आगम निषिद्ध है।[3] द्वितीय श्लोक से चतुर्थ श्लोक तक क्रम विचार देखा जाता है।[4] पंचम् श्लोक से अष्टम् श्लोक पर्यन्त उच्चारण

---

1. संयोगस्य परंस्वार्यं परंसंयोगनायकम्।
 संयुक्तस्य तु वर्णस्य न स्वरंपूर्वमिष्यते।।
 स्वरणं पतनं चैव वोत्यानेषु समेषु च।
 एकमेव पदे दृष्टं न पूर्वाङ्गे क्वचिद् भवेत्।।
 दारु सङ्घातवतश्लिष्टं संयोगवशवर्त्तिनाम्।
 वर्णानां युगसम्पन्नमेकं वर्णमिवोत्सृजेत।। –मा०शि० 11/6–8
2. वर्णा विंशति रेफश्च येषां द्विर्भाव इष्यते।
 प्रथमा मध्यमा चान्त्या यलवाः शषसास्तथा।।
 न रेफे वा हकारे वा द्विर्भावो जायते क्वचित्।
 न च वर्ग द्वितीयेषु न चतुर्थे कदाचन।।
 चतुर्थं तु तृतीयेन द्वितीयं प्रथमेन तु।
 आद्यमन्त्यं तृतीयं च स्वाक्षरेणैव पीडयेत्।। –मा०शि० 11/9–11
3. दृप्सौऽप्सरायामप्शब्दे विश्वप्स्यनात्र विरप्शिने।
 काश्यपोऽभिनिधातानामागमं प्रतिषेधनात्।। –मा०शि० 12/1
4. मा०शि० 12/2–4

दोष बताये गये हैं।[1] नवम् एवं दशम् श्लोकों में ऊष्म वर्णों से युक्त प्रथम द्वितीय की तरह उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार से पंचम वर्णों को द्वितीय वर्णों के सदृश समझना चाहिए।[2]

**त्रयोदश प्रकरण–**

प्रस्तुत प्रकरण में दस श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में ह्रस्व दीर्घ प्लुतों का उच्चारण काल बताया गया है।[3] द्वितीय श्लोक में कहा गया है कि अवग्रह में अर्द्ध मात्रा दोनों पदों के मध्य में होती है। आधे में दो मात्रा एवं ऋग के अन्त में त्रिमात्रिक उच्चारक काल होता है।[4] तृतीय श्लोकानुसार नीलकण्ठ एक मात्रिक, कौआ द्विमात्रिक एवं मयूर त्रिमात्रिक बोलता है। इसीलिए उनके उच्चारण काल के

---

1. ब्रुवन्भ्रुवौ कर्णललाटनासिका न कम्पयेदोष्ठ चलु र्न निर्भुजेत्।
   मुखं न विक्लिश्य न नग्नवक्त्रजो न चापि संन्दष्टहनुर्न वाहयवाक।।
   न रुक्षवाक्स्यान्न च उत्स्वरं वदेन्न चानिमेषो न च गर्वमाचरेत्।
   गजव्यवेषी बलवानतन्द्रितो व्यपेतरोषश्रमशोकहर्षभीः।।
   न चानुकूजेत् पदमादितो ब्रुवन्न नासिका नित्यमनुष्ठितं वदेत्।
   न चापदान्ते श्रमपीडितः श्वसेन्न चोच्छ वसेदुक्तपदोप्य भीक्षणशः।।
   नातिनिश्पीडयेद्वर्णान्न चाव्यक्तानुदाहरेत्। —मा०शि० 12/5–8
2. प्रथमानूष्मसम्पन्नान्द्वितीयानिव दर्शयेत्।
   तथैतान्प्रतिजानीयाद्यथा मत्स्यान्क्षरोऽप्सरान्।।
   तथैव पंचमानाहुरागमो यत्र दृश्यते।
   द्वितीयानेव तान्कुर्याद्य यस्मिन्त्सीतेति।। —मा०शि० 12/9–10
3. अक्ष्णोर्निमेष मात्रेण यो वर्णः समुदीर्यते।
   स एक मात्रो द्विस्तावान्दीर्घस्तु प्लुत उच्यते।। —मा०शि० 13/1
4. अवग्रहेऽर्द्धमात्रं स्यातत्कालो मात्रा पदान्तरे।
   अर्द्धर्चे द्वे तथा पादे त्रिमात्रं स्यादृगन्तरम्।। —मा०शि० 13/2

समान ह्रस्व दीर्घ प्लुत का भी उच्चारण समझना चाहिए।[1] चतुर्थ एवं पंचम् श्लोकों में विराम का विवेचन किया गया है।[2] षष्ठ से दशम् श्लोक पर्यन्त उच्चारण काल में कौन से दोष सम्भव हैं ? इसका निरूपण किया गया है।[3]

**चतुर्दश प्रकरण–**

इस प्रकरण में दस श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में कहा गया है कि शिक्षा विदों के मतानुसार जहाँ दो तकार, दो थकार हैं वे यम नहीं होते हैं और न ही षत्स्न होते हैं। वहाँ संयोग समझना चाहिए।[4] द्वितीय श्लोक से षष्ठ श्लोक तक सन्धि के नियम बताये गये हैं। यथा– वाङ्म में यहाँ पर ककार से ङ्कार प्रत्यय परे ङ्कार का आगम

---

1. चाषस्तु वदते मात्रं द्विमात्रं वायसोऽब्रवीत्।।
   शिखी त्रिमात्रं विज्ञेय एष मात्रा परिग्रहः।। —मा०शि० 13/3
2. क्वचित्पाद विभागेन क्वचिदर्धेक्वचित्पदे।
   क्वचिदर्थे क्वचित्छब्दे विरामः पंचधा स्मृतः।।
   छन्दस्येते प्रयुज्यन्ते क्रमेण क्षेप सञ्ज्ञकाः।
   सविरामं प्रयोक्तव्या येन वृत्तिर्न्न विद्यते।। —मा०शि० 13/4–5
3. मा०शि० 13/6–10
4. द्वौ तकारौ थकारौ च यमो नेति च पंचमः।
   षत्स्ना इति च संयोगमाहुरक्षचिन्तका।। —मा०शि० 14/1

होता है।[1] सप्तम् श्लोक में बताया गया है कि सिद्धि प्राप्ति के लिए अभ्यास का ही आश्रय लेना चाहिए।[2] अष्टम् एवं नवम् श्लोकों में कहा गया है कि आचरण करने से वर्णो के अभ्यास करने से और धारण करने से प्रमादहीन मनुष्य अपने शास्त्र को जानने की योग्यता रखता है।[3] दशम श्लोक में शिक्षक के स्वरूप और स्वभाव को बताया गया है।[4]

**पंचदश प्रकरण–**

प्रस्तुत प्रकरण दस श्लाकों में संकलित है। प्रथम श्लोक में शिक्षाविदों के अनुसार तरुण शिक्षक, अक्षर चिन्तक और नैयायक इत्यादि के विषय में बताया गया है।[5] द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ श्लोकों में बताया गया है कि उच्चारण में कौन क्षम है? कौन

---

1. ककारान्ते पदे पूर्वे ङकारे प्रत्येय परे।
   ङकारस्यागमं कुर्याद्वाङ्क्म इति निदर्शनम्।।
   टकारान्ते पदे पूर्वे णकारे प्रत्यये परे।
   णकारस्यागमं कुर्याद् बणमहाँ इति निदर्शनम्।।
   तकारान्ते पदे पूर्वे नकारे प्रत्यये परे।
   नकारस्यागमं कुर्याद् यन्न इति निदर्शनम्।।
   मकारान्ते पदे पूर्वे मकारे प्रत्यये परे।
   मकारस्यागमं कुर्यात् त्रिष्टुम्म इति निदर्शनम्।।
   अन्त्यं कटतपं दृष्ट्वा परं ड़णनमं तथा।
   आत्म पंचम संयोगमाहुरक्षर चिन्तका।। –मा०शि० 14/2–6
2. आम्नायात्प्रपदो भवति प्रपदो भवति निर्भयः।
   निर्भयो मधुरो भवति माधुर्यात्सिद्धिमाप्नुयात्।। –मा०शि० 14/7
3. आम्नायकरणं श्रेष्ठ वर्णानां चावधारणम्।
   अप्रमत्तश्च स्वार्येत एतदाचार्यशासनम्।।
   आम्नाय शास्त्र सम्पन्नं शास्त्रमाम्नाय सारवित्।
   पयः शङ्खे यथा तद्वच्छिरश्छन्दसि सारथिः।। –मा०शि० 14/8–9
4. दन्त्योष्ठयकरणं सूक्ष्मं माधुर्यं तरुणं वचः।
   स्वभावं शिक्षकस्याहुरन्यद्गुरुकृतं भवेत्।। –मा०शि० 14/10
5. तरुणं शिक्षकं प्राहुर्वृद्धमक्षर चिन्तकम्।
   नैयायकं परिश्रुतं बहुधा भवन्ति याचकम्।। –मा०शि० 15/1

अक्षम है ?[1] पंचम् श्लोक में सदगुरू की प्रशंसा बताई गई है।[2] षष्ठ श्लोक में कुत्सित की निन्दा की गई है।[3] सप्तम् श्लोक में गुरू परम्परा से अध्ययन करने वालों के महत्व को बताया गया है।[4] अष्टम्, नवम् एवं दशम् श्लोकों में विद्यार्थियों के लिए सामान्य नियम बताये गये हैं।[5]

**षोड़श प्रकरण–**

इस प्रकरण में षोड़श श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में कहा गया है कि ऊँचे स्थान से जल नीचे की ओर आता है। उसी प्रकार विद्या भी सौ अथवा हजार पाठ करने से आती है।[6] द्वितीय श्लोक में बताया गया है कि हजार आवृत्ति वाली विद्या संस्कार को

---

1. न करालो न लम्बोष्ठो न च सर्वानुनासिकः।
गदगदो बद्धजिव्हश्च प्रयोगान्वक्तुमर्हति।।
प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ।
अधीतं येन तत्वेन सशिक्षा पारयिष्यति।।
आगमैरधिकाः केचिद्विज्ञानैरपरेऽधिकाः।
प्रयोग सौष्ठवादन्ये नाहमस्मीति विस्मयः।। –मा०शि० 15/2–4

2. सुतीर्थादागतं जग्धं स्वाम्नातं सुव्यवस्थितम्।
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते।। –मा०शि० 15/5

3. कुतीर्थादागतं दग्धमप वर्णैश्च भक्षितम्।
न तस्य परिमोक्षोऽस्ति पापाहेरिव किल्विषात्।। –मा०शि० 15/6

4. येषां तीर्थागता विद्या मित्यमभ्यास वर्जिता।
ते भवन्ति दुराधर्षाः ससिंहा इव पर्वताः।। –मा०शि० 15/7

5. न भोजनविलम्बी स्यान्न च स्यात् स्त्री निबन्धनः।
स दूरमपि विद्यार्थी ब्रजेदगरुडहंसवत्।।
हयानामिव जात्या नामर्द्धरात्रादर्ध शायिनाम्।
न विशेषार्थिनां निद्रा चिरं नेत्रेषु तिष्ठति।।
अहेरिव जनाद्भीतः स्त्रीभ्यश्च नरकादिव।
मिष्टाच्च विषवद्भीतः स विद्यां पारयिष्यति।। –मा०शि० 15/8–10

6. सहस्त्र गुणिता विद्या शतशः परिवर्जिता।
आगमिष्यति जिह्वाग्रे स्थलान्निम्नमिवोदकम्।। –मा०शि० 16/1

प्राप्त करके इस लोक और परलोक में कल्याण के लिए होती है।[1] तृतीय श्लोक में उपांशु त्वरित आदि के द्वारा अध्ययन का निषेध किया है।[2] चतुर्थ एवं पंचम श्लोकों में निद्रा, लोभ, आलस्य आदि गुणों से युक्त विद्यार्थियों को आजीवन विद्या प्राप्त नहीं होती है।[3] षष्ठ श्लोक में विद्या धारण के उपाय बताये गये हैं।[4] सप्तम् एवं अष्टम् श्लोक में उदाहरण पूर्वक अभ्यास की प्रशंसा की गई है।[5] नवम् श्लोक में मेधावी प्रशंसा की गई है।[6] दशम्, एकादश और द्वादश श्लाकों में विद्या प्राप्ति के

---

1. शतेन गुणिता भवति सहस्त्रेण तु धारिता।
   शतानां तु सहस्त्रेण प्रेत्य चेह च तिष्ठति।। —मा०शि० 16/2
2. उपांशु त्वरितं चैव योऽधीतेऽवत्रसन्निव।
   अपिरूप सहस्त्रेसतु संशयेष्वेव वर्तते।। —मा०शि० 16/3
3. येषां च न ग्रहण शक्तिरतिप्रचण्डालब्ध्वा च येन शतशः परिवर्त्तयन्ति।
   निद्रां च ये प्रियसखीमिव न त्यजन्ति ते तादृशा गुरुकुलेषु जरां ब्रजन्ति।।
   पंच विद्यां न गृहणान्ति लुब्धाश्चण्डाश्च ये नराः।
   आलसाश्चनिरोगाश्च येषां च विकृतं मनः।। —मा०शि० 16/4–5
4. ऊर्द्धवं सहस्त्रादाम्नातं सततं चान्ववेक्षणम्।
   आप्तैस्तु सह सम्पाठस्त्रिविधा धारणा स्मृता।। —मा०शि० 16/6
5. यथा खनन् खनित्रेण भूतले वारि विन्दते।
   एवं गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधि गच्छति।।
   योजनानां सहस्त्रं तु शतैर्याति पिपीलिका।
   आगच्छन्वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति।। —मा०शि० 16/7–8
6. पदेनैकेन मेधावी पदानां विन्दते शतम्।
   मूर्खः पद सहस्त्रेण पदमेकं न विन्दति।। —मा०शि० 16/9

उपाय बताये गये हैं।[1] त्रयोदश श्लोक में मनुष्य को आचार्य, पण्डित, स्त्री एवं सामान्य जन में विभाजित करके कहा गया है कि आचार्य समपाठ के, पण्डित पदच्छेद पाठ के, स्त्रियाँ मधुर पाठ की एवं सामान्य जन उच्च स्वर पाठ के अभिलाषी होते हैं। इसीलिए श्रोतियों को समझकर ही उपयुक्त पाठ का आश्रय लेना चाहिए।[2] ऐसा शिक्षाकार का निर्देश है। चर्तुदश एवं पंचदश श्लोकों में आचार्य सेवा, योग एवं तप आदि विद्या प्राप्ति के कारण हैं। आलस्य, मूर्ख का संयोग विद्या के विनाश में कारण होते हैं।[3] षोडश श्लोक में माण्डूकी शिक्षा के अध्ययन का फल बताया गया है। इस प्रकार माण्डूकी शिक्षा यहीं समाप्त होती है।[4]

---

1. पदं पादं तथाऽर्द्धर्चं सेवितव्यं प्रयत्नतः।
   अप्राज्ञः प्राज्ञतां याति सरिद्भिः सागरो यथा।।
   अनिर्वेदी श्रियोमूलम् लोहबद्धं कमण्डलम्।
   अहोरात्राणि दीर्घाणि कः समुद्रं न शोषयेत्।।
   जलमभ्यास योगेन शैलानां कुरुते क्षयम्।
   कर्कशानां मृदु स्पर्शं किमभ्यासो न साधयेत्।। —मा०शि० 16/10–12
2. आचार्याः सममिच्छन्ति पदच्छेदन्तु पण्डिताः।
   स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति विक्रुष्टमितरे जनाः।। —मा०शि० 16/13
3. आचार्योपासनाद्योगात्तपसा प्राज्ञसेवनात्।
   विगृह्य कथनात्कालाद्षड्भिर्विद्या प्रपद्यते।।
   आलस्यान्मूर्ख संयोगाद्भयाद्रोग निपीडनात्।
   अत्याशक्त्या च मानाच्च षड्भिर्विद्या विनश्यति।। —मा०शि० 16/14–15
4. मण्डूकेन कृतां शिक्षां विदुषां बुद्धिदीपिनीम्।
   यो हि तत्वेन जानाति ब्रह्मलोकं स गच्छतीति।।
   इत्यथर्वणवेदीया माण्डूकी शिक्षा समाप्ता।। —मा०शि० 16/16

## माण्डूकी शिक्षा के कर्ता

मण्डूक एक प्राचीन ऋषि थे। माण्डूकी शिक्षानुसार मण्डूकी ही इसके प्रणेता है। यद्यपि इस समय लब्ध साहित्य के अनुसार कहना कठिन है कि भारतीय इतिहास में एक मण्डूक हुए अथवा अनेक मण्डूक हुए। फिर भी अन्य प्रमाण के अभाव से एक मण्डूक के अस्तित्व को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं हैं। उनके सिद्धान्त इसी माण्डूकी शिक्षा में संकलित है।

मण्डूक ऋषि का उल्लेख पाणिनी ने अष्टाध्यायी ग्रन्थ में किया है। माण्डूकेय पद का निर्वचन मण्डूक शब्द के अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय करके किया गया है।[1] इस प्रकार मण्डूक के अपत्य में माण्डूकेय पद निष्पन्न होता है। माण्डूकेय की भाषा का चिन्तन यदा–कदा मिलता है। ऐतरेयारण्यक[2] में और शाङ्खायन आरण्यक[3] में ह्रस्व माण्डूकेय के सिद्धान्त कहे गये है। ऋक् प्रातिशाख्य में माण्डूकेय का प्रश्लिष्ट स्वरित विषयक मत दृष्टिगोचर होता है।[4] अथर्व परिशिष्ट में भी माण्डूकेय के लिए तर्पण बताया गया है।[5] शाङ्खायन आरण्यक में दीर्घ माण्डूकेय के ध्वनि सिद्धान्त का वर्णन मिलता है।[6] अथर्व परिशिष्ट में ऋग्वेदीय शाखा से सम्बन्धित माण्डूकेय शाखा का उल्लेख मिलता है।[7]

---

1. ढक् च मण्डूकात्। —अष्टा० 4/1/119
2. इति ह्रस्माह ह्रस्वो माण्डूकेयः। —ऐ०आ० 3/1/5
3. शां० आ० 6/2/8–10
4. माण्डूकेयस्य सर्वेषु प्रश्लिष्टेषु तथा स्मरेत्। —ऋ०प्रा० 200
5. माण्डूकेयं तर्पयामि। —अथ०परि० 43/4/46
6. शां० आ० 6/12, 8/11
7. माण्डूकेयाश्येति। —अथ०परि० 49/1/6

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि माण्डूकेय का काल ऐतरेयारण्यक आदि से प्राचीन है। अतः माण्डूकी शिक्षा के सिद्धान्त पाणिनीय शिक्षा के सिद्धान्त से अधिक प्राचीन सिद्ध होते है।

**(च) अन्य सामान्य शिक्षाएं–**

उपर्युक्त शिक्षाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य शिक्षाएं भी उपलब्ध है। जो वेद की उपकारक मात्र है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नवत् है–

**(1) क्रम सन्धान शिक्षा–**

संहिता पाठ में मन्त्रों में जहाँ पर अवसान होता है वहाँ पर क्रमपाठ में भी अवसान कार्य होना सामान्य नियम है किन्तु कहीं पर संहिता पाठ में भी अवसान होने पर भी क्रमपाठ में परपद से संधान होता है। यथा–संहिता पाठ में अर्द्ध अच् में अवसान होता है। वहाँ एच् उत्तरार्द्ध के आद्यपद से पूर्वार्ध के अन्त्य पद का योग नहीं होता है एवं क्रम में भी किन्तु कुछ क्रमपाठ में एच् पुर्वार्ध के अन्त्य पद का उत्तरार्ध के आदि पद का पद से योग होता है उन्हीं स्थलों का यहाँ पर परिगणन किया जाता है। ऐसे 115 स्थल है, जो शिक्षाओं के अन्त में कहे गये है।[1]

**(2) स्वर भक्ति लक्षण शिक्षा–**

यह शिक्षा महर्षि कात्यायन द्वारा प्रणीत है। शिक्षा में बयालीस (42) श्लोक संकलित है। शिक्षा में स्वर भक्ति का सोदाहरण वर्णन किया गया है।

**(3) गालव शिक्षा–**

महाभारत के उद्धरण से ज्ञात होता है कि यह शिक्षा महर्षि गालव द्वारा प्रणीत है।[2]

---

1. इति पंचदशधिकशतं क्रम सन्धानि,
   एभ्योऽन्यत्र संहितानुसारेण निर्णयः। –क्रम०सं०शि० (उपसंहार)
2. क्रम प्रणीय शिक्षांच प्रणयित्वा स गालवः। –म०भारत (शा०प०) 343 / 104

**(4) शौनकीय शिक्षा–**

यह शिक्षा ऋषि शौनक प्रणीत है। इस शिक्षा की एक प्रति तन्जौर नगर के सारस्वत महल नामक पुस्तकालय में विद्यमान है। इस शिक्षा की एक व्याख्या भी है।[1] शिक्षा में कम्प के विषय में विचार किया गया है।[2]

**(5) षोडश–श्लोकी शिक्षा–**

इस शिक्षा के रचियता राम कृष्ण है। यह शिक्षा सोलह श्लोकों में संकलित है। इसमें वर्ण स्वरादियों का विवेचन किया गया है।

**(6) स्वराङ्कुश शिक्षा–**

इस शिक्षा के प्रणेता जयन्त स्वामी है।[3] शिक्षा में पच्चीस श्लोक है। जिसमें स्वर विवेचन की प्रधानता है।[4] आद्यन्त तक उदात्तादि स्वरों का प्रतिपादन किया गया है।

**(7) शमान शिक्षा–**

यह शिक्षा गद्यात्मक है। परन्तु यह किस वेद का अनुसरण करती है ? यह उल्लेख प्राप्त नही होता है। तथापि ऋग्वेदीय शमान शिक्षा की व्याख्या प्रतीत होती है। इसमें विसर्ग लोपी पदों का संकलन है।[5] सम्भवतः शमान शिक्षा के स्वतन्त्र व्याख्या ग्रन्थ

---

1. या शौनककृता शिक्षा वर्णोच्चारण बोधिनी।
   अविस्मृत्ये स्फुटं तस्याः श्रुतार्थो लिख्यते मया।। –शौ०शि० (व्याख्यायाम्)
2. स्थानं कालो विकाराश्च संवृतं विवृतागमो,
   ईषत्स्पृष्टम घोषत्वं स्वरः कम्यः तथोष्मता।
   घोषा नासिक्य नासिक्याः वर्ण धर्मास्त्विमे मताः।। –शौ०शि० 59–60
3. इति श्री जयन्त स्वामिप्रोक्ता स्वराङ्कुशा शिक्षा समाप्ता।–स्वरा०शि०(उपसंहार)
4. सरस्वती कविवरान्वक्ष्येऽहं स्वरनिर्णयम्। –स्वरा०शि० 1
5. अथ संहितायाम् आकारप्लुतपूर्वो घोषवत्यव्यंजनोत्तरः सकारपरो विसर्जनीयो येषु पदेषु लुप्यते तानि पदानि प्रवक्ष्यामि। –श० शि०

को ही किसी लिपिकार ने शमान शिक्षा इस पद से नामाङ्कित किया है। डॉ० मधुकर फाटक ने अपने ग्रन्थ में शमान शिक्षा की चर्चा की है।

**(8) प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा–**

इस शिक्षा के प्रणेता बाल कृष्ण है। शिक्षा में प्राचीन ग्रन्थों के मतों को उद्धृत करके स्वर वर्णादि विषयक तथ्यों का उल्लेख किया गया है।

**(9) स्वराष्टक शिक्षा–**

इस शिक्षा में आठ स्वरों का निरूपण किया गया है। वे स्वर है– अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, प्रभृति। यद्यपि गणना करने पर नौ स्वर होते हैं। किन्तु ऋ, लृ सवर्ण होने के कारण एक ही मान लिया गया है।

**(10) पद कारिका रत्नमाला–**

इस शिक्षा के प्रणेता शङ्कराचार्य हैं। इसका उल्लेख शिक्षा के आरम्भ में किया गया है। शिक्षा की हस्तलिपि में प्रथम श्लोक के चतुर्थ चरण में छः अक्षर कम है। पदों का लक्षण ही इसका प्रतिपाद्य विषय है।

**(11) आत्रेय शिक्षा–**

यह शिक्षा विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान में संग्रहीत है। यह आधुनिक प्रकाशित ग्रन्थ है।

**(12) पाणिनीय शिक्षा–**

यह शिक्षा किसी एक वेद से सम्बद्ध न होकर भाषा विषयक ज्ञानार्थ समस्त वेदों के लिए उपकारक है। इसमें साठ कारिकाएं हैं। शिक्षा में शिक्षा–शास्त्रीय

---

1. पा० शि० शि० स० स० पृ० 245
2. अ ऽ इ ऽ उ ऽ ऋ ऽ लृ ऽ ए ऽ ऐ ऽ ओ ऽ औ ऽ इत्यष्टौ स्वराः।

   –स्वराष्ट०शि० (शि०सं०) पृ० 362
3. श्री कान्तं सितरुविराजितोत्तमाड.गम्,

   गोरीशं गुरूपदमम्बुजालयं च।

   सन्नत्वा सुललित लक्षणम् पदानाम्,

   नासरेः प्रक .................. यानः।।          –पद का० र० मा०

विषयों का सन्निवेश किया गया है। वर्णोत्पत्ति, वर्ण गणना, वर्ण स्थान, उदात्तादि, रङ्ग विचार एवं उच्चारण दोष प्रभृति विषयों का सुष्ठु विवेचन किया गया है। कुछ विद्वान इसे आचार्य पाणिनीय कृत मानते है। परन्तु अधिकांश विद्वान इसे पिङ्लाचार्य कृत मानते है।

**(13) सम्प्रदाय बोधिनी शिक्षा–**

इस शिक्षा के प्रणेता आचार्य गोपाल चन्द्र मिश्र है। इसे याज्ञवल्क्य शिक्षा की लघु रूपा भी कहा जा सकता है। यह एक अर्वाचीन ग्रन्थ है।

**(14) सोमशर्मा शिक्षा–**

इस शिक्षा के प्रणेता श्री सोम शर्मा है। ये एक प्राचीन आचार्य है। जिसका मात्रा विषयक सिद्धान्त याज्ञवल्क्य शिक्षा में प्राप्त होता है। इस शिक्षा में अक्षर के उच्चारणानन्तर जो द्वितीय अक्षर का उच्चारण होता है। तब तक दोनों के मध्यस्थित काल ही मात्रा है।[1] इस सिद्वान्त के अनुसार अनुमान किया जाता है कि आचार्य सोम शर्मा प्रणीत एक शिक्षा है जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं।

**(15) शैशरीय शिक्षा–**

यह शिक्षा प्रायः पाणिनीय शिक्षा का अनुसरण करती है। इस शिक्षा में पाणिनीय शिक्षा सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया है। पक्ष भेद के आधार पर तिरसठ और चौसठ वर्णो की संख्या बतायी गयी है।[2] इस शिक्षा की यह विशेषता है कि जिस स्थान पर दीर्घ लृकार परिगणित नहीं किया गया है। उस स्थान पर रङ्ग वर्ण निवेशित है। पाणिनीय शिक्षा में लकार को दुःस्पृष्ट शब्द से कहा गया है न कि लकार ऐसा कहा गया है किन्तु इस शिक्षा में उसको दुःस्पष्ट शब्द तथा लकार शब्द से निर्देश किया गया है।

---

1. निमेशो मात्राकालः स्याद्विद्युत्कालस्त थापरे।
   अक्षरात्तुल्य योगाच्च मतिः स्यात्सोमशर्मणः।। या० शि० 8

2. त्रिषष्टिश्चतुः षष्टिर्वा वर्णाः समभवतो मताः।
   प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्त स्वयम्भुवा।। –शै० शि० 1

(16) क्रमकारिका शिक्षा–

इस शिक्षा के प्रणेता श्री शम्भु मिश्र है।[1] शिक्षा में नब्बे श्लोक है। क्रमपाठ के विषय पर इस शिक्षा में किस पद का वेष्ठन होता है। इस पर विवेचन किया गया है।

(17) काश्यप शिक्षा–

शिक्षा शास्त्र एवं पुराणों में काश्यप ऋषि का नाम बहुधा दृष्टिगोचर होता है। शिक्षा–ग्रन्थों में उसके शिक्षा विषयक सिद्धान्त भी होते है। जिस प्रकार जब केशिक वृत्ति सभी स्वरों में भासित होता है। तथा जब मध्यमा से मध्यमा में उपक्रमित होता है। तब केशिक मध्यम ग्राम राग होता है। मध्यम ग्राम से उत्पन्न होने के कारण काकलिरेव श्रुति निषाद होता हैं। पंचम प्राधान्य पुनः पुनः शेष वर्णों के सामान्य अन्तर से स्थित होता है। ऋषि काश्यप के मतानुसार मध्यम राग सम्पन्न कैशिक गीत होतो है। यहाँ पर केशिक पद से षङ्ज प्रारम्भ होने पर चतुः श्रुति ही जब निषाद होता है तब पंचमस्थ पर में उपर्यवस्थित उस साधारित सदृश श्रुति ही बोधित होता है। उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार यह कहा जा सकता है कि जो काश्यप शिक्षा थी। वह इस समय दुर्दैव से उपलब्ध नही है।[2]

सामान्य शिक्षाओं के अतिरिक्त कुछ शिक्षा सूत्र भी दृष्टिगोचर होते है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नवत् हैं–

---

1. प्रत्यक्षं याज्ञवल्क्यस्य श्री शम्भु मिव विनिर्मिता।
   क्रियतां क्रमिकेः कण्ठे कारिका रत्नमालिका।।
2. अन्तरस्वरसंयुक्ता काकलिर्यत्र दृश्यते।
   तं तुसाधारितं विद्यात् पंचमस्थ तु केशिकम्।।

   –ना० शि० 1/4/9

(1) चान्द्र वर्ण शिक्षा सुत्र–

चान्द्र वर्ण शिक्षा सूत्र के प्रणेता बौद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमी थे। इन्होंने पाणिनीय व्याकरण शिक्षा सूत्र का अनुसरण करके शिक्षा सूत्र की रचना की। इस शिक्षा सूत्र ग्रन्थ में पन्द्रह (15) सूत्र है। जिनमें स्थान करण प्रयत्न[1] का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही मात्रा विचार[2], उदात्तादि स्वरूप का विवेचन किया गया है।[3]

(2) आपिशल शिक्षा सूत्र–

इस शिक्षा सूत्र को बत्तीस वर्ष पूर्व सरस्वती विहार दिल्ली से श्री रघुवीर जी ने सम्पादित किया। इस सूत्र ग्रन्थ में वर्णोत्पत्ति[4], स्थान करण प्रयत्न[5], स्थानपीडन, वृत्तिकार आदि का प्रतिपादन किया गया है। यह शिक्षा सूत्र आठ प्रकरणों में विभक्त है।

(3) पाणिनीय शिक्षा सूत्र–

पाणिनीय शिक्षा सूत्र के दो भाग हैं– वृहद् भाग एवं लघु भाग। वृहद् भाग में एक सौ बीस सूत्र एवं लघु भाग में 77 सूत्र हैं। इसमें वर्णोत्पत्ति विचार[6], स्थान करण प्रयत्न, स्थान पीडन, वृत्तिकार प्रक्रम एवं नाभितल प्रकरण का प्रतिपादन किया गया है।

*******

---

1. स्थानकरणप्रयत्नेभ्यो वर्णाः जायते। –चा० व० शि० सू०
2. अत्र चावर्णे हस्वो दीर्घः प्लुतः इति त्रिधाभिन्नः। –चा० व० शि० सू० 3
3. उच्चेरुदात्तः नीचेरनुदात्तः समाचारः स्वरितः। –चा० व० शि० सू० 47, 48, 49
4. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपेतिनादः।
   स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः सशब्द।। –आ० शि० सू० 1
5. स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विधाऽनिलवः,
   स्थानपीऽयति, वृत्तिकारः, प्रक्रम एषोस्य नाभितलात। –आ० शि० सू० 2
6. पा० शि० सू० 1

# तृतीय अध्याय

## (वर्ण समाम्नाय)

. शिक्षा–ग्रन्थ के अनुसार अन्तः करण स्ववृत्ति से संस्कार रूप के द्वारा स्थित पदार्थो को एक बुद्धि का विषय बनाकर तद्‌बोधन इच्छा के द्वारा मन को प्रेरित करता है। वह मन जठराग्नि को आहत करता है। तब जठराग्नि मूल आधार में स्थित पवन को प्रेरित करता है। तत्पश्चात् वायु हृदयादि देशों को अतिक्रमण करके मुख पर आकर वक्ता के प्रयत्न के अनुसार तत्–तत् स्थानों में अभिधा के द्वारा वर्णो को उत्पन्न करता है।[1]

वर्णो का अकारादि स्वरों और व्यंजनों का सम्यक पाठ होता है उसे वर्ण समाम्नाय कहा जाता है। वर्ण समाम्नाय ऋग्वेद प्रातिशाख्य में वर्ण राशिपद[2] से एवं ऋक् तन्त्र में अक्षर समाम्नाय[3] नाम से ज्ञेय है।

**वर्ण संज्ञा–**

शिक्षादि ग्रन्थों में लघु शब्द से अधिकाधिक वर्णो के ग्रहणार्थ किसी न किसी संज्ञा का विधान किया गया है। कुछ संज्ञाओं के द्वारा वर्णो का प्रतिपादन अधोलिखित है।

**अक्षर–**

प्राचीन ध्वनि–शास्त्रीय ग्रन्थों में एवं अन्य शिक्षा–ग्रन्थों में अक्षर शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में पाया जाता है। एवविध अक्षर का निर्वचन भी अनेक प्रकार से किया जाता है। तैत्तिरीय प्रतिशाख्य में अक्षर का निर्वचन इस प्रकार किया गया है– 'जो क्षरित न हो वह अक्षर है।' क्षरण का अर्थ 'दूसरे का अङ्ग होकर चलना है।[4] अतः अक्षर

---

1. आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान मनो युङक्ते विवक्षया मनः
   कायाग्नि माहन्ति स प्रेरयति मारूमत्। –पा०शि० 6 (शि०सं०पृ० 378)
2. इति वर्णराशिः क्रमश्च। –ऋ०प्रा० 10
3. ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः तं खल्विममक्षर समाम्नायमित्या चक्षते। –ऋ०तं० 1/4
4. न क्षरन्तीत्यक्षराणि क्षरणमन्याङ्ग तया चलनम्। –तै०प्रा0(वै०भ०) 1/2

वह है जो दूसरे का अङ्ग होकर न चले। अर्थात् जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो। महाभाष्य में भी अक्षर की व्युत्पत्ति की गई है जिसके अनुसार जो नष्ट न हो, क्षीण न हो वह अक्षर है।[1] निरूक्त कार के अनुसार अक्षर शब्द √क्षर धातु से निष्पन्न है तथा इसका अर्थ है 'जो नष्ट न हो जिसका कभी विनाश न हो' वह अक्षर है।

ऋक् प्रातिशाख्य में स्पष्ट रूप से कहा गया हैं कि व्यंजन युक्त, अनुस्वार युक्त तथा शुद्ध स्वर को ही अक्षर कहा गया है।[2] इसका कारण यह है कि छन्दों के निर्धारण में ध्वनियों को इकाई मानकर उनकी गणना करके छन्दों का नामकरण प्राचीन छन्द शस्त्रियों ने किया। वैदिक छन्दों की सर्वाधिक विशेषता है कि वैदिक छन्द—मन्त्रों के अक्षरों की गणना पर आधारित है अर्थात् वैदिक छन्द आक्षरिक कहे जा सकते है। छन्द शास्त्र में अक्षर का अर्थ 'स्वर' है। वैदिक मन्त्रों को छन्दोबद्ध रूप में उच्चरित करने पर उनकी प्रत्येक ध्वनि पर स्वराघात का होना आवश्यक है। अतः प्रश्न होता है कि जब अक्षरों में स्वरों की ही गणना की जाएगी तब तो व्यंजन स्वराघात रहित हो जायेंगे। ऐसा करने से किसी भी मन्त्र की प्रत्येक ध्वनि किसी न किसी स्वर का अङ्ग बनकर स्वंय भी स्वराघात युक्त हो जाएगी। इसलिए प्रातिशाख्यों में स्वर को ही अक्षर कहने का प्रमुख कारण यह है कि स्वर ही अक्षर का आधार होता है। बिना स्वर के अक्षर नहीं बन सकता। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में स्वर को अक्षर पद से समझना चाहिए इस प्रकार कहा गया है।[3] चतुरध्यायिका में भी स्वर को अक्षर पद की संज्ञा दी गई है।[4] श्रीमद् भगवद्गीता में कहा गया है कि स्वर ही अक्षर है।[5] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का कथन है

---

1. अक्षरं नक्षरं विद्यात् न क्षीयते क्षरतीति वाक्षरम्। —म०भाष्य०
2. उभये त्वक्षराणि, सव्यंजनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्। —ऋक्०प्रा० 1/19, 18/32
3. स्वरोऽक्षरम्। —वा०प्रा० 1/99
4. स्वरोऽक्षरम्। —च०अ० 1/93
5. अक्षराणामकारोऽस्मि। —भ०गी0 10/33

कि जिस प्रकार जल भूमि में सर्वदा विद्यमान रहता है खोदने पर वह दृश्य होता है, उसी प्रकार ध्वनि नित्य है। उच्चारण–प्रक्रिया द्वारा केवल उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि ध्वनियों को अनश्वर मानने की विचार धारा प्रातिशाख्यकाल में ही प्रचलित हो गई थी। अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं अधिक काल तक उच्चरित हो सकने से स्वरों को व्यंजनों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाने लगा। परिणामस्वरूप स्वर ही अक्षर का पर्याय हो गया। अधिकांश प्रातिशाख्यों में स्वर को ही अक्षर कहा गया है।

याज्ञवल्क्य शिक्षा में अक्षर पद से ही स्वर समझे जाते है।[2] नारदीय शिक्षा में एकत्र सव्यंजन स्वर को एवं अन्यत्र शुद्ध स्वर को अक्षर स्वीकार किया गया है।[3] माण्डूकी शिक्षा में सव्यंजन स्वर अक्षर होता है।[4] इस प्रकार कहा गया है। किन्तु शुद्ध स्वर को भी अक्षर पद से कहा गया है।[5]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों में अक्षर पद से स्वर का बोध होता है। किन्तु बिना स्वर के व्यंजन का उच्चारण असम्भव है। इसलिए सव्यंजन स्वर को भी अक्षर कह दिया।

**स्वर–**

शब्दोपतापार्थक √स्वृ धातु से करण में 'अच्' प्रत्यय करने पर स्वर शब्द की व्युत्पत्ति होती है। पाणिनीय शिक्षा के भाष्य में √स्वृ धातु से 'अच्' प्रत्यय के पश्चात् स्वर

---

1. यथा उदकस्य दर्शनात् पूर्वमेव भूमौ जलमस्त्येव तत्।
   खननादृश्यते तद्वत् शब्दोत्पत्ति रूच्यते इति सूत्रार्थः।
   –तै०प्रा० 2/1 (त्रि०भा०र०)
2. अक्षरम् भजते काचित्। –या०शि० 73
3. मात्रिकं वा द्विमात्रं वा स्वर्यते यदिहाक्षरम्। –ना०शि० 2/2/6
4. सयकारं समं वाप्यक्षरं स्वरितं भवेत्। –मा०शि० 7/5
5. पूर्वं ह्रस्वं पर दीर्घमक्षरं यत्र दृश्यते। –मा०शि० 9/4

शब्द की निष्पत्ति की गई है। अर्थात् जिसके द्वारा व्यंजन का उच्चारण किया जाता है, वह स्वर होता है।[1] प्रतिज्ञा परिशिष्ट में स्वार पद की व्याख्या अनन्तदेव ने स्वरार्थ में 'अण्' प्रत्यय करके की है।[2] किन्तु यहाँ 'अण्' की अपेक्षा 'घञ्' प्रत्यय देखा जाता है।[3] क्योंकि समानार्थ में 'घ' और 'घञ्' का प्रयोग प्राप्त किया जाता हैं।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य की व्याख्या में उव्वट ने लिखा है कि अकारादि वर्ण अन्य वर्णों की सहायता से कहे जाते हैं इसलिए स्वर संज्ञा के द्वारा जाने जाते है।[4] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में अकारादि वर्ण स्वंय ही प्रकाशक होने से स्वर कहे गये है।[5] महाभाष्य में भी स्वर पद के स्वरूप प्रतिपादन के समय में कहा गया है कि अपने उच्चारण में दूसरे वर्ण की सहायता की अपेक्षा नहीं है इसलिए स्वर कहे जाते है।[6]

प्रातिशाख्यों में स्वरों का अनेक प्रकार से विवेचन किया गया है। वहाँ स्वर बोधक अनेक संज्ञायें भी उपलब्ध हैं। यम[7], क्रुस्टादि[8], गेह्य[9] इत्यादि संज्ञायें स्वर का ही बोध कराती है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में ये वर्ण समानाक्षर संध्यक्षरों के द्वारा जाने जाते है। वे ही स्वर पद से जाने जाते है।[10] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में वर्ण समाम्नाय के

---

1. स्वरा इति 'स्व' शब्दोपतापयो।
   स्वर्यतो व्यंजन मिति करणेऽच्प्रत्ययः। —पा०शि० (प०भा0) 4
2. स्वरः एव स्वारः स्वार्थेऽण्। —प्र०परि० 1/8
3. अष्टा० 3/3/17
4. स्वर्यन्ते शब्द्यन्ते इति स्वराः। —ऋ०प्रा० (उ०भा0) 1/3
5. स्वयं राजन्ते नान्येन व्यंजन्त इति स्वराः। —तै०प्रा० (वै०भ०) 1/5
6. स्वयं राजन्ते इति स्वराः। —म०भाष्य 1/2/29
7. तै०प्रा० 23/13, 14, 15
8. तृतीय प्रथमक्रुष्टान् कुर्वन्त्याहवरकाः स्वरान्। —ना०शि० 1/1/11
9. यत्र आर्चिकानि पदानि निवर्तन्ते स्तोमा
   गेह्याश्चानयान्ति गेह्याः स्वराः। —मी० (शा०भाष्य) 9/2/36
10. एते स्वराः। —ऋ०प्रा० 1/3

अकारादि वर्ण स्वर कहे गये हैं।[1] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 16 स्वर कहे गये हैं।[2] ऋक् तंत्र में 14 स्वर कहे गये हैं। वे स्वर इस प्रकार है– अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, लृ ल, ए ऐ, ओ, औ।[3] चतुरध्यायिका में तो अनेक स्वर पद प्रयुक्त है।[4] किन्तु कितने स्वर है ? इस प्रकार की उत्कंठा होने पर यह प्रातिशाख्य मौन स्वीकार करता है। इसकी पूर्ति वर्णपटल करता है। इसमें 22 स्वर समानाक्षर और संध्यक्षर के द्वारा कहे गये है। उनमें समानाक्षर इस प्रकार है– अ आ आ–3, इ ई ई–3, उ ऊ ऊ–3, ऋ ऋ ऋ–3, लृ लृ –3। इस प्रकार समानाक्षर पद से जाने जाते है। यहाँ लृ स्वर दीर्घ निषिद्ध है।[5] ए ए –3, ओ ओ–3, ऐ ऐ–3, औ औ–3, इस प्रकार स्वर संध्यक्षर पद से जाने जाते है। यहाँ कहा गया है कि संध्यक्षरों के दीर्घ प्लुत ही होते है।[6]

शिक्षाओं में प्रायः उदात्तादि ही स्वर पद से कहे गये है। क्योंकि उनके उच्चारण ज्ञान में महत्व है। और शिक्षाओं के वर्णोच्चारण में ही प्रधान विषय स्वीकृत होने से फिर भी अकारादि स्वरों का विवेचन उदात्त आदि स्वर तो अकारादि के धर्म से निरूपित है।

---

1. तत्र स्वराः प्रथमम्। अ इति् आ इति आ 3 इति एवं
   लृ स्वरं यावत् पंचदशाः, अष्टो च संध्यक्षराणि।
   यथा–ए इति ए 3 इति ......................। –वा०प्रा० 8/2, 6
2. षोडषादितः स्वराः। –तै०प्रा० 2/5
3. अ इति, आ इति ..............................। –ऋ०तं० 1/2
4. लृकारः स्वरः पद्यः, नादो घोषवत्स्वरेषु स्वराणांच। –च०अ० 1/4,13, 32
5. अकारश्च इकारश्च उकार ऋकार एव च
   ह्स्वदीर्घप्लुताः सर्वे लृवर्णे नास्ति दीर्घता। –वर्ण०प० 3/3
6. एकारश्च तथैकार ओकर औकार एव च
   दीर्घमात्रप्लुताः तेषाम् संज्ञा संध्यक्षराणि च।। –वर्ण०प० 3/4

पाणिनीय शिक्षा में भी अकारादि वर्ण स्वर है।[1] नारदीय शिक्षा के अनुसार स्वर पद से अकारादि वर्ण समझे जाते है।[2] व्यास शिक्षा में 21 अकारादि वर्ण ही स्वर पद से समझे जाते है।[3] याज्ञवल्क्य शिक्षा में 23 स्वर कहे गये है। यद्यपि वाजसनेयि शाखा में दीर्घ लृकार के निषेध होने से 22 ही स्वर होते है किन्तु अन्यत्र 23 स्वर ही कहे गये है।[4] स्वराष्टक शिक्षा में आठ ही स्वर परिगणित है। वे इस प्रकार है– अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ।[5]

माण्डूकी शिक्षा में अकारादि स्वरों की संख्या का साक्षात् निर्देश नहीं है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर कह सकते है। कि यहाँ भी स्वर पद से अकारादि स्वरों का ज्ञान होता है। यहाँ यह समझना चाहिए कि कुछ विद्वान दीर्घ लृकार को स्वीकार करके 23 स्वर मानते है।[6] यह उचित नहीं है क्योंकि अथर्ववेद की कोई भी शाखा इस समय प्राप्त नहीं होती है। जहाँ दीर्घ लृकार को स्वीकार किया गया है इसलिए वर्णपटल में स्थित 22 स्वर माण्डूकी शिक्षा में भी स्वीकृत है। क्योंकि वर्ण पटल अथर्व प्रातिशाख्य का परिशिष्ट रूप है और वर्णपटल में दीर्घ लृकार का निषेध है। इसलिए माण्डूकी शिक्षा में भी 22 स्वर ही समझना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञातव्य है कि स्वर ही प्रातिशाख्यों में अक्षर पद से

---

1. स्वरा विंशतिरेफश्च स्पर्शानां पंचविंशतिः,
   यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा स्मृताः। —पा०शि० 4
2. स्वराः (अकारादयः) —ना०शि०
3. अवर्णे वर्णको वर्णो लृवर्णो लृत्वमेतत्
   ओदोद्रङ्गौ क्रमादोभ्योत्स्वरास्स्यु र्व्यंजनान्यथ। —व्या०शि० 5
4. स्वरा .............................। —याज्ञ०शि०
5. अऽइऽउऽऋऽलृऽएऽऐऽओऽऔऽ इत्यष्टौ स्वराः। —स्वराष्ट०शि०(शि०सं०) पृ० 62
6. पा० शि० शि० स० स० पृ० 52 ।

कहा गया है। किन्तु व्यंजनो का उच्चारण स्वर के बिना असम्भव है। ज्ञान के लिए ही सव्यंजन स्वर भी अक्षर पद से अभिहित है। बिना स्वर के अक्षर का निर्माण नहीं हो सकता। प्रातिशाख्यों में समानाक्षर और संध्यक्षर संज्ञाओं का प्रयोग स्वर वर्णो के लिये ही किया गया है।

**समानाक्षर–**

समानाक्षर का अर्थ है, समान अक्षर–समान रूप से उच्चरित होने वाले अक्षर। अर्थात् इनके उच्चारण में उच्चारणाङ्गों की स्थिति आद्यन्त एक जैसी ही रहती है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में कहा गया है कि दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न न होने के कारण ही ये स्वर समानाक्षर कहे जाते है।[1] यद्यपि प्रातिशाख्यों में समानाक्षर का अति सुन्दर निरूपण देखा जाता है। किन्तु इनकी संख्या के विषय में मतैक्यता का अभाव है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ इस प्रकार आठ स्वर होते है।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में ह्रस्व दीर्घ प्लुत अ इ उ इस प्रकार स्वर समानाक्षर पद से कहे गये है। जिसके द्वारा समानाक्षर स्वरों की संख्या नौ होती है।[3] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में समानाक्षर पद का प्रयोग नहीं है। इनमें 'सिम' संज्ञा का प्रयोग किया गया है तथा वर्ण–समाम्नाय के आदि में स्थित आठ स्वरों की 'सिम' संज्ञा स्वीकार की गई है।[4] चतुरध्यायिका में संध्यक्षर पद का प्रयोग देखा जाता है।[5] किन्तु कौन स्वर समानाक्षर पद

---

1. एकारादयः स्वराः ......................................... ।

   तदभावास्तु समान रूपाः अकारादयः इतरे स्वराः समानाक्षराणीति।

   –तै०प्रा० 1/2(वै०भ०)
2. अष्टौ समानाक्षराण्यादितः। –ऋ०प्रा० 1/1
3. अथ नवादितः समानाक्षराणि। –तै०प्रा० 1/2
4. सिमादितोऽष्टौ स्वराणाम्। –वा०प्रा0 1/44
5. समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घः।. –च०अ० 3/42

से समझने चाहिए ? इस विषय में कुछ नहीं कहा गया है, इसलिए तत्पूर्व वर्ण पटल में अ आ आ–3, इ ई ई–3, उ ऊ ऊ–3, ऋ ॠ ॠ–3, ऌ ऌ एवं ऌ–3 स्वर समानाक्षर पद से अभिहित है।[1]

माण्डूकी शिक्षा में समानाक्षर पद का उल्लेख नहीं है। उसके उच्चारण मात्र में उपकारक होने से अप्रतिषिद्धं ह्यनुमतं होता है। इस प्रकार की युक्ति को मान करके समानाक्षर पद से व्यवहरित स्वरों के वहाँ कहे जाने से वर्ण पटल में उक्त समानाक्षर यहाँ भी स्वीकृत है। इस प्रकार कह सकते है।

**संध्यक्षर–**

'संध्यक्षर' वे वर्ण है जो सन्धि के कारण उत्पन्न हुए हों। अर्थात् दो स्वर वर्णों की सन्धि के फलस्वरूप ही जिनकी निष्पत्ति सम्भव है उन्हें संध्यक्षर संज्ञा दी गई है। प्रातिशाख्यों एवं प्राचीन ध्वनि–वैज्ञानिक अन्यान्य ग्रन्थों में ए, ओ, ऐ तथा औ को संध्यक्षर कहा गया है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के भाष्यकार उव्वट ने कहा है कि अकार की इकार के साथ, उकार के साथ, एकार के साथ, तथा ओकार के साथ सन्धि होने पर क्रमशः एकार, ओकार, ऐकार तथा औकार वर्णों की निष्पत्ति होती है और इन्हें संध्यक्षर कहा जाता है।[2] ऋग्वेद प्रातिशाख्य में सूत्रकार ने बतलाया है कि कतिपय आचार्य इन संध्यक्षरों को सन्धि से उत्पन्न बतलाते है। इसलिए संध्यक्षरों की द्विस्थानता होती है। अर्थात् संध्यक्षरों का उच्चारण दो स्थानों से होता है।[3] चतुरध्यायिका में संध्यक्षर के स्वरूप को प्रतिपादित करके कहा गया है कि दो अक्षरों के संयोग से जो स्वर उत्पन्न

---

1. इति वर्णाः प्रोक्ताः तेषामाद्याश्चतुर्दश।
   समानाक्षराण्युच्यन्ते ..........................। –वर्ण०प० 1/7
2. अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण औकारेण च सह
   संधौयान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते। –ऋ०प्रा० 1/2 (उ०भा०)
3. संध्यानि संध्यक्षराण्याहुरे एके। द्विस्थानतेषुतथोभयेषु। –ऋ०प्रा० 13/38

होते है, वे संध्यक्षर कहे जाते है। किन्तु उनका व्यवहार (उच्चारण) एक वर्ण की भाँति होता है।[1] ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कहा गया है कि समानाक्षरों के लिए अन्य स्वर संध्यक्षर नाम से जानना चाहिए।[2] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में 'सिम' स्वरों के लिए अन्य संध्यक्षर कहे गये है।[3] यद्यपि चतुरध्यायिका में संध्यक्षर के स्वरूप बोधक नियम प्रतिपादित है। किन्तु वहाँ किन स्वरों का अस्तित्व है ? इस प्रकार की उत्कंठा में वहाँ कुछ नहीं कहा गया। इसकी पूर्ति वर्ण पटल करता है। जहाँ कहा गया है कि समानाक्षरों से अवशिष्ट ए ए–3, ऐ ऐ–3, ओ ओ–3, औ औ–3, इस प्रकार से आठ स्वर संध्यक्षर पद से जाने जाते है।[4] ऋक् तंत्र में ए ओ ऐ औ इस प्रकार स्वर संध्यक्षर होते है।[5] उक्त प्रमाणों के द्वारा ज्ञात होता है कि कहीं चार स्वर संध्यक्षर के रूप में परिगणित है तो कहीं एकारादि स्वरों के दीर्घत्व को मानकर आठ संख्या कही गयी है।

विचारणीय प्रश्न है कि दो स्वरों की सन्धि से संध्यक्षर उत्पन्न होते है। इस प्रश्न का उत्तर ऋक् प्रातिशाख्य में मिलता है। शाकटायनाचार्य के मतानुसार 'ए' तथा 'ऐ' में अकार पूर्ववर्ती आधा भाग होता है और इकार परवर्ती आधा भाग होता है 'ओ' तथा 'औ' में अकार पूर्ववर्ती आधा होता है। तथा उकार परवर्ती आधा भाग होता है।[6] अर्थात अ + इ = ए, अ + ई = ऐ, अ + उ = ओ, तथा अ + ऊ = औ इस प्रकार संध्यक्षर के स्वरूप को समझना चाहिए। पाणिनीय शिक्षा में इन संध्यक्षरों के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है कि एकार तथा ओकार में कण्ठ्यवर्ण अकार की आधी मात्रा है

---

1. संध्यक्षराणि संस्पृष्टवर्णान्येकवर्णवद्वृत्तिः। —च०आ० 1/40
2. ततश्चत्वारि संध्यक्षराणि उत्तराणि। —ऋ०प्रा० 1/2
3. संध्यक्षरं परम्। —वा०प्रा0 1/45
4. शेषः संध्यक्षराणि तु। —वर्ण०प० 1/7
5. ए इति, ऐ इति, ओ इति औ इति। —ऋ०तं० 1/2
6. संध्येष्वकारोऽर्धमिकार उत्तरं युजोरुकार इति शाकटायनः —ऋ०प्रा० 13/39

तथा ऐकार और औकार में कण्ठ्य वर्ण की एक मात्रा है तथा शेष मात्रा ए ओ में इकार की एवं ऐ औ में उकार की होनी चाहिए।[1]

माण्डूकी शिक्षा में संध्यक्षरों का अभाव देखा जाता है। किन्तु वर्ण पटल की तरह माण्डूकी शिक्षा अथर्ववेद की उपकारक होने से कह सकते है कि यहाँ भी वार्णिक स्वरों में ए ओ ऐ औ इस प्रकार के स्वर अभीप्सित है।

यद्यपि शिक्षाओं में संध्यक्षर पद ए ओ ऐ औ इस प्रकार स्वरों का उल्लेख नहीं है। फिर भी स्वरों में इनका परिगणन है। शिक्षाओं में संध्यक्षर पद का अभाव सूचित करता है कि प्रातिशाख्यों में संहिताओं के नियम विस्तारता को प्राप्त होते है। किन्तु शिक्षाओं में वही नियम संकलित देखे जाते है। जो वर्णोच्चारण में सहायक है। जिन वर्णो के उच्चारण में कलिष्टता है वे ही नियम शिक्षा सूत्र है। इसीलिए शिक्षाओं में प्रायः प्रातिशाख्यों के पारिभाषिक शब्दों का अभाव प्राप्त होता है।

**एक मात्रिक, द्विमात्रिक एवं त्रिमात्रिक वर्ण–**

उच्चारण काल के आधार पर वर्णों के मुख्यतः तीन श्रेणियाँ है। जिस वर्ण के उच्चारण में एक मात्रा काल लगता है वह ह्रस्व वर्ण कहलाता है। जिस वर्णोच्चारण में द्विमात्रा काल लगे उसे दीर्घ वर्ण एवं जिस वर्णोच्चारण में त्रिमात्रा काल लगे उसे प्लुत संज्ञा से समझा गया है।[2] चान्द्रवर्ण सूत्र में उपरोक्त तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।[3] पाणिनीय सूत्र भी उपरोक्त तथ्य से सहमत है।[4]

---

1. अर्धमात्रा तु कंण्ठयस्य हयकारैकारयोर्भवेत।
   ओकारौकारयोर्मात्रा तयो र्विवृत संवृतम्।। –पा०शि० 19
2. एक मात्रो भवेद्ह्स्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
   त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यंजनं चार्द्धमात्रिकम्।। –वर्ण०र०प्र०शि० 22
3. एक मात्रिकः ह्स्वः द्विमात्रिकः दीर्घः त्रिमात्रिकः प्लुतः।। –चा०व०सू० 41–43
4. ऊकालोऽज्ह्स्वदीर्घ प्लुतः। –पा०सू० 1/2/26

प्रातिशाख्यों में एकमत हैं कि स्वरों के ह्रस्व रूप का उच्चारण एक मात्रा काल में करना चाहिए।[1]

दीर्घ स्वरों को दो मात्रा काल में उच्चरित किया जाता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य, वाजसनेयि प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य एवं चतुरध्यायिका में भी दीर्घ स्वरों का उच्चारण काल दो मात्रा माना गया है।[2]

प्रातिशाख्यों में प्लुत स्वर तीन मात्राकाल में उच्चरित होता है।[3] माण्डूकी शिक्षा में एक मात्रिक स्वर का ह्रस्व द्विमात्रिक स्वर को दीर्घ एवं त्रिमात्रिक स्वर को प्लुत कहा गया है।[4]

---

1. (क) एक मात्रो ह्रस्वः। —च०अ० 1/59
   (ख) अमात्रो ह्रस्वः। —वा०प्रा० 1/55
   (ग) मात्रा च। —वा०प्रा0० 1/56
   (घ) मात्रा ह्रस्वः। —ऋ०प्रा० 1/27
2. (क) द्वे दीर्घे। —ऋ०प्रा० 1/29
   (ख) द्विस्तावान् दीर्घः। —वा०प्रा० 1/57
   (ग) द्विस्तावान दीर्घः। —तै०प्रा० 1/35
   (घ) द्विमात्रो दीर्घः। —च०अ० 1/61
3. (क) तिस्त्रः प्लुत उच्यते स्वरः। —ऋ०प्रा० 1/30
   (ख) त्रिः प्लुतः। —तै०प्रा० 1/36
   (ग) प्लुतस्त्रिः। —वा०प्रा० 1/58
   (घ) त्रिमात्रः प्लुतः। —च०अ० 1/62
4. चाषस्तु वदते मात्रं द्विमात्रं वायसोऽब्रवीत्।
   शिखो त्रिमात्रं विज्ञेय एष मात्रा परिग्रहः।। —मा०शि० 13/3

**गुरु–**

$\sqrt{}$गृ धातु में 'कु' प्रत्यय करने पर और उकार आदेष कर देने पर गुरु शब्द निष्पन्न होता है। शिक्षाओं, प्रातिशाख्यों एवं व्याकरण में संयोग से परे ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत की गुरु संज्ञा कही गई है।[1] चतुरध्यायिका में लघु से अन्य गुरु माने जाते है।[2] इसके अतिरिक्त चतुरध्यायिका में अनुनासिक से परे स्वर गुरु संज्ञक होता है।[3] माण्डूकी शिक्षा में संयोग से परे ह्रस्व गुरु कहा गया है।[4] अर्थात् स्वर का ह्रस्व से संयोग होने पर गुरु संज्ञा होती है। इसमें सपरे अक्षर व्यंजनान्त की और पद की भी गुरु संज्ञा प्राप्त होती है। अर्थात् जिस–जिस अक्षर के अन्त में सकार होता है अथवा व्यंजनान्त पद होता है वहाँ गुरु होता है।[5] यथा– 'अगस्त्य'।[6] दीर्घ और प्लुत भी गुरु संज्ञा से ज्ञेय है।[7]

**लघु–**

$\sqrt{}$लघि धातु में 'कु' प्रत्यय करने पर और 'न' लोप हो जाने पर लघु शब्द निष्पन्न होता है। शिक्षाओं के अनुसार जिस ह्रस्व स्वर के पूर्व संयोग होता है वह स्वर लघु होता है।[8] यथा– 'बृहस्पतिरधिपतिः'।[9] किन्तु संयोग के परे ह्रस्व लघु नही होगा। माण्डूकी शिक्षा के अनुसार एक मात्रिक लघु संज्ञा कही गई है।[10] चतुरध्यायिका में

---

1. तत्संयोगोत्तरं विद्यात् गुर्वन्त्यत्र नियोगतः। —मा०शि० 10/11
2. गुर्वन्यत्। —च०अ० 1/52
3. अनुनासिकं च। —च०अ० 1/53
4. तत्संयोगपरम् गुरुम्। —मा०शि० 11/1
5. सपरं व्यंजनान्तं च ..........................। —मा०शि० 11/1
6. अ०सं० 2/32/3
7. दीर्घस्तु प्लुत एव च। —मा०शि० 11/1
8. संयुक्तस्य तुं यत्पूर्वम् तद्स्वं लघुं विजानीयात्।। —मा०शि० 10/11
9. अ०सं० 13/27/6
10. मात्रैकं लघु विज्ञेयम् ..........................।। —मा०शि० 11/1

असंयोग ह्रस्व की लघु संज्ञा कही गई है।[1]

माण्डूकी शिक्षा में ऋकार रेफ में कहाँ गुरु अथवा लघु है इस प्रकार की जिज्ञासा में कहा गया है कि जहाँ ऋकार रेफ संयुक्त हो वहाँ व्यंजन का उदय होना चाहिए एवं ऋकार के परे रहते उस स्वरित को लघु समझना चाहिए। और रेफ के परे रहते गुरु संज्ञक जानना चाहिए।[2] यथा– 'पंच कृष्टयः।'[3] यहाँ ह्रस्व स्वरित को लघु संज्ञक जानना चाहिए। 'सर्पमा'[4] यहाँ पर स्वरित गुरु संज्ञक है।

**व्यंजन–**

व्यंजन शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक प्रकट होना या प्रकाशित होना अर्थ वाली √अंज् धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। व्यंजन का तात्पर्य है – जो अर्थ को व्यक्त करें। अर्थात् यदि शब्द से व्यंजन को निकाल दिया जाए तो शब्द का अर्थ प्रायः नष्ट हो जाता है। यद्यपि कुछ ऐसे भी शब्द है जिनमें बिना व्यंजन के भी अर्थ बोध हो जाता है परन्तु वे संख्या में अत्यल्प है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के भाष्य में उव्वट का कथन है कि ये वर्ण अर्थों को व्यक्त करते है– प्रकट करते है, अतः ये व्यंजन कहलाते है।[5] महाभाष्य में पतंजलि के मतानुसार जो स्वयं प्रकाशित होते हैं उन्हें पतंजलि ने स्वर कहा है तथा उस स्वर के द्वारा जो व्यक्त होते है, वे व्यंजन कहे गये है।[6] वाजसनेयि

---

1. ह्रस्वं लघ्व संयोगो। –च०अ० 1/51
2. ऋवर्णरेफ संयुक्तं स्वरितं स्यादनन्तरम्।
   ऋकाररेफ संयुक्तम् यत् पूर्वं व्यंजनोदयेत्।।
   ऋकारे लघु तद्विद्यात रेफे तद्गुरुसंज्ञकम्। –मा०शि० 12/3–4
3. अ०सं० 3/24/3
4. अ०सं० 3/25/4
5. व्यंजयन्ति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्यानिति व्यंजनानि। –ऋ०प्रा० 16 (उ०भा०)
6. स्वयं राजन्त इति स्वराः अन्वग्भवति व्यंजनमिति। –म०भाष्य० 1/2/29

प्रातिशाख्य में ककारादि वर्णों को व्यंजन माना गया है।[1] ऋक् तन्त्र में भी "अथव्यंजनानि" इस प्रकार के वाक्य के द्वारा ककारादि वर्ण समझे जाते है।[2] चतुरध्यायिका में व्यंजन शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है[3], किन्तु कौन व्यंजन है ? इस विषय में कुछ नहीं कहा गया है। इस जिज्ञासा का समाधान इसके परिशिष्ट वर्ण पटल में देखने को मिलता है। जहाँ ककारादि वर्ण व्यंजन पद से कहे गये है।[4]

शिक्षा–ग्रन्थों में व्यंजन को मानकरके जो कथन किया है उसी का यहाँ उपस्थापन है। पाणिनीय शिक्षा में पच्चीस स्पर्श[5], चार यम, चार अन्तस्थ, चार उष्माण, विसर्ग, अनुस्वार[6], जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अयोगवाहादि 42 वर्ण व्यंजन संज्ञक है। व्यास शिक्षा में स्पर्श, अन्तःस्थ, श ष स ह, अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय 37 व्यंजन वर्णों का उल्लेख मिलता है।[7] याज्ञवल्क्य शिक्षा में ककारादि वर्णों को व्यंजन पद से कहा गया है। यहाँ कण्ठ्य, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य, यम, अनुस्वार, विसर्जनीय, उपध्मानीय, नासिक्य, अनुनासिक्य रङ्ग आदि

---

1. व्यंजनं कादि। —वा०प्रा० 1/47
2. ऋ० तं० 1/2
3. परस्य स्वरस्य व्यंजनानि। —च०अ० 1/55
4. काद्योव्यंजनं स्मृतम्। —वर्ण०प० 1/8
5. स्पर्शनांपंचविंशतिः। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा स्मृताः।
   अनुस्वारो विसर्गश्च कपौ चापि पराश्रितौ। —पा०शि० 4–5
6. स्वरम् अनुपश्चात् भवति इति अनुस्वारः।
   यद् वक्ष्यति दन्तमूलः स्वरा ननु। —पा०शि० 23
7. व्यंजनान्यथ। कादिमान्ताः स्मृताः स्पर्शा अन्तस्था यादिवोत्तराः
   जिह्वामूलादिहातांश्च षड्ष्माणः उदीरिताः।। —व्या०शि० 3–4

नामों के द्वारा 45 वर्ण व्यंजन माने गये है।[1] वर्णरत्न प्रदीप शिक्षा में ककारादि से मकार पर्यन्त 25 स्पर्श, चार यादि अन्तःस्थ, श ष स ह, चार यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय इत्यादि वर्णों का प्रतिपादन किया गया है।[2] गौतमी शिक्षा में स्पर्श अन्तःस्थ उष्माण इत्यादि 37 वर्णों व्यंजन संज्ञक माने गये है।[3] नारदीय शिक्षा में ककारादि वर्णों को व्यंजन संज्ञक स्वीकार किया गया है।[4] पारि शिक्षा में भी 25 स्पर्श, चार अन्तःस्थ, उष्माण, विसर्ग, अनुस्वार तथा अनुनासिक आदि व्यंजन वर्णों का उल्लेख है।[5]

---

1. स्वर स्पर्शान्त स्थोष्माणः कण्ठ्य जिह्वामूलीयोपध्मानीयतालव्य मूर्धन्यदन्त्योष्ठ्ययमानुस्वारविसर्जनीयोपध्मानीयनासिक्या–
   नुनासिक्य रङ्गाः। —या०शि० 86 (शि०सं०)
   चत्वारो यमाः कुँ खुँ गुँ घुँ इति। —या०शि० 212 (शि०सं०)
2. ककारादि मकारान्ताः स्पर्शाः स्युः पंचविंशतिः।
   चतस्त्रो यादयोऽन्तस्थाः ऊष्माणः शषसहाः।।
   स्पर्शानां पंचमैर्योगे चत्वारश्च यमाःस्मृताः।
   अनुस्वारो विसर्गश्च जिह्वामूलीयऽएव च।।
   उपध्मानीय इति च दृःस्पृष्टश्च तथाऽपरः।। —वर्ण०र०प्र०शि० 13–15
3. अथत्रयास्मिशद् व्यंजनानि स्पर्शान्तः स्थोष्माणश्चेति तत्र ककारादयोमकारपर्यन्ताः स्पर्शाः पंच विंशतिश्चत्वारोन्तस्थास्ते य र ल वाश्चत्वारश्चोष्माणस्ते हशषसाश्चत्वारस्ते
   सयमास्ते कुँ खुँ गुँ घुँ इति। —गौ०शि० 1,2 (शि०सं०)
4. संयोग यत्र दृश्यते व्यंजनं विरते पदे। —ना०शि० 2/2/13
5. करवौ गघौ ङ च छ जा झ नो ट ठ ड ढ ण ताः।
   थदौ धनौ प फ ब भ मा स्पर्शाः पंचविंशतिः।
   यवौ रलौ चतस्त्रोऽन्तस्थाः कशषसाः पहाः।
   स्वराः सपर्शास्तथान्तस्थ ऊष्माणश्चाथ दर्शिताः।
   विसर्गानुस्वारश्चानुनासिक्याः पंचवोदिताः।। —पारि०शि०

षोडश श्लोकी शिक्षा में 33 व्यंजनों का उल्लेख मिलता हैं। इसमें चार यम, अनुस्वार विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आदि का विवेचन प्राप्त होता है।[1] माण्डूकी शिक्षा में व्यंजन पद का उल्लेख देखा जाता है। यहाँ भी अकारादि वर्ण व्यंजन पद से कहे गये हैं। इसमें भी 33 स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्माण, चार यम, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा तीन अनुस्वार आदि 43 व्यंजन वर्णों का उल्लेख किया गया है। इसमें रङ्ग को स्वीकार नहीं किया गया है।[2] आपिशलि शिक्षा में 45 व्यंजनों का उल्लेख देखा जाता है।[3]

उपर्युक्त शिक्षाओं के मतानुसार व्यंजनों का ज्ञान अधोलिखित तालिका के माध्यम से किया जा सकता है।

---

1 त्रयस्त्रिंशद्धसावर्णाः स्वरा द्वाविंशतिर्य्यमाः।
चत्वारश्च विसर्गोऽनुस्वार ≍ क ≍ पस्त्रिषष्टिकाः।। —षो०श्लो०शि० 2

2. स्पर्शानां करणं स्पृष्टमन्त स्थानामतोऽन्यथा।
यमानां संवृतं प्राहुविवृतं च स्वरोष्मणाम्।। —मा०शि० 6/10
ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलीयमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्माणः।। —मा०शि० 10/4
न च रेफानुस्वारो विसर्जनीये तु सर्वत्र। —मा०शि० 12/5
अनुस्वाराश्च कर्तव्या ह्रस्वदीर्घप्लुतास्त्रयः।। —मा०शि० 8/11
नासादुत्पद्यते रङ्ग।। —मा०शि० 10/10

3. तत्र स्थानकरणप्रयत्न ................. आनुनासिक्य भेदाश्च
संख्योऽष्टादशात्मकः एवमिवर्णादयः, अन्तः स्थाद्विप्रभेदाः
रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च। —आपि०शि० 1/4, 6/1, 2, 3

## विशिष्ट शिक्षा – ग्रन्थानुसार व्यंजनों का रेखाङ्कन

| याज्ञवल्क्य शिक्षा | गौतमी शिक्षा | पाणिनीय शिक्षा | माण्डूकी शिक्षा | वर्ण रत्न प्रदीपिका शिक्षा |
| --- | --- | --- | --- | --- |
| क ख ग घ ङ | क ख ग घ ङ | क ख ग घ ङ | क ख ग घ ङ | क ख ग घ ङ |
| च छ ज झ ञ | च छ ज झ ञ | च छ ज झ ञ | च छ ज झ ञ | च छ ज झ ञ |
| ट ठ ड ढ ण | ट ठ ड ढ ण | ट ठ ड ढ ण | ट ठ ड ढ ण | ट ठ ड ढ ण |
| त थ द ध न | त थ द ध न | त थ द ध न | त थ द ध न | त थ द ध न |
| प फ ब भ म | प फ ब भ म | प फ ब भ म | प फ ब भ म | प फ ब भ म |
| य र ल व | य र ल व | य र ल व | य र ल व | य र ल व |
| श ष स ह | श ष स ह | श ष स ह | श ष स ह | श ष स ह |
| चार यम | चार यम | चार यम | चार यम | चार यम |
| अं आं अनुस्वार | | अनुस्वार | अनुस्वार | अं अनुस्वार |
| अः, क प | | विसर्ग,क प | क प,रङ्ग | विसर्ग,क प |
| नासिक्य | | कुः स्पृष्ट | अः नासिक्य | |
| अनुनासिक | | | | |
| रङ्ग | | | | |
| 45 व्यंजन | 37 व्यंजन | 42 व्यंजन | 43 व्यंजन | 41 व्यंजन |

प्रातिशाख्यों में और लौकिक व्याकरणों में ककारादि वर्णों से ही व्यंजन पद जाने जाते है। यद्यपि व्यंजन के द्वारा ककारादियों का ही ज्ञान होता है। किन्तु कौन व्यंजन है? इस विषय में प्रातिशाख्यों में मतैक्यता नहीं है। प्रातिशाख्यों के अनुसार व्यंजनों का ज्ञान अधोलिखित तालिका के द्वारा ज्ञेय है।

## प्रमुख प्रातिशाख्यानुसार व्यंजनों का रेखाङ्कन

| ऋग्वेद प्रातिशाख्य | वाजसनेयि प्रातिशाख्य | तैत्तिरीय प्रातिशाख्य | ऋक्तन्त्र | चतुरध्यायिका का परिशिष्ट वर्ण पटल |
|---|---|---|---|---|
| क ख ग घ ङ<br>च छ ज झ ञ<br>ट ठ ड ढ ण<br>त थ द ध न<br>प फ ब भ म<br>य र ल व<br>श ष स ह<br>अः(विसर्जनीय)<br>क(जिह्वामूलीय)<br>अं(अनुस्वार)<br>प(उपध्मानीय) | क ख ग घ ङ<br>च छ ज झ ञ<br>ट ठ ड ढ ण<br>त थ द ध न<br>प फ ब भ म<br>य र ल व<br>श ष स ह<br>अः(विसर्जनीय)<br>क(जिह्वामूलीय)<br>अं(अनुस्वार)<br>प(उपध्मानीय)<br>हुँ (नासिक्य)<br>कुँ खुँ गुँ घुँ<br>(चार यम) | क ख ग घ ङ<br>च छ ज झ ञ<br>ट ठ ड ढ ण<br>त थ द ध न<br>प फ ब भ म<br>य र ल व<br>श ष स ह<br>अः(विसर्जनीय)<br>क(जिह्वामूलीय)<br>अं(अनुस्वार)<br>प(उपध्मानीय)<br>ळ (नासिक्य)<br>कुँ खुँ गुँ घुँ<br>(चार यम)<br>स्वर भक्ति | क ख ग घ ङ<br>च छ ज झ ञ<br>ट ठ ड ढ ण<br>त थ द ध न<br>प फ ब भ म<br>य र ल व<br>श ष स ह<br>अः(विसर्जनीय)<br>क(जिह्वामूलीय)<br>अं,आं(अनुस्वार)<br>प(उपध्मानीय)<br>कुँ खुँ गुँ घुँ<br>(चार यम) | क ख ग घ ङ<br>च छ ज झ ञ<br>ट ठ ड ढ ण<br>त थ द ध न<br>प फ ब भ म<br>य र ल व<br>श ष स ह<br>अः(विसर्जनीय)<br>क(जिह्वामूलीय)<br>अं(अनुस्वार)<br>प(उपध्मानीय)<br>नासिक्य<br>कुँ खुँ गुँ घुँ<br>(चार यम)<br>अभिनिधान |
| 37 व्यंजन | 42 व्यंजन | 44 व्यंजन | 43 व्यंजन | 43 व्यंजन |

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 37 व्यंजनों का उल्लेख प्राप्त होता है। वाजसनेयि

प्रातिशाख्य में 42 व्यंजन प्राप्त होते है, जबकि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 44 व्यंजन पद कहे गये है। ऋक् तन्त्र में 43 व्यंजन एवं चतुरध्यायिका के परिशिष्ट वर्ण पटल में 43 वर्ण व्यंजन पद से जाने जाते है।

शिक्षाओं एवं प्रातिशाख्यों के विश्लेषणोपरान्त अधोलिखित व्यंजन वर्ण दृष्टिगोचर होते है– क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, श ष स ह, अं आं (अनुस्वार) अः (विसर्जनीय), हुँ (नासिक्य) ≍क ≍ ख (जिह्वामूलीय) ≍ प ≍ फ (उपध्मानीय) कुँ खुँ गुँ घुँ (चार यम) ळ ळ्ह एवं स्वर भक्ति।

शिक्षाओं एवं प्रातिशाख्यों में मुख्य ग्रन्थोक्त व्यंजनों को प्रदर्शित किया गया है। इनमें क्या भिन्नता है ? इसका ज्ञान उन्हें देखने पर किया जाता है। प्रातिशाख्यों में व्यंजन वर्णो का न्यनाधिक्य देखा जा सकता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में चार यम, नासिक्य तथा स्वर भक्ति को स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में व्यंजन वर्णों के अन्तर्गत चार यम, नासिक्य तथा स्वर भक्ति को स्वीकार किया गया है। जबकि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य में चार यम तथा नासिक्य को व्यंजन पद माना गया है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य एवं ऋक् तन्त्र में नासिक्य का परिगणन नहीं किया गया है। चतुरध्यायिका के वर्ण पटल में अभिनिधान को व्यंजन के अर्न्तगत परिगणित किया गया है। यहाँ स्वतन्त्र व्यंजनत्व की जिज्ञासा में कह सकते है कि अभिनिधान कोई वर्ण नही है और न ही इसकी कोई लिपि है अभिनिधान की उत्पत्ति उच्चारण की सरलता के लिए की गई थी। एवविध स्वतन्त्र लिपि के अभाव में अभिनिधान व्यंजन स्वीकृत नहीं है।

शिक्षाओं में भी प्रातिशाख्यों की भाँति एक मत दृष्टिगोचर नहीं होता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में नासिक्य, अनुनासिक एवं रङ्ग का परिगणन किया गया है, इसी प्रकार याज्ञवल्क्य शिक्षा में 45 व्यंजन स्वीकार किये जाते है। जबकि गौतमी शिक्षा में 37 व्यंजन ही स्वीकार किये गये है। पाणिनीय शिक्षा में कु स्पृष्ट का व्यंजान्तर्गत परिगणन

किया है इस शिक्षानुसार 42 व्यंजन शिक्षाकार द्वारा स्वीकार किये जाते है। माण्डूकी शिक्षा में वर्णों का पृथक निर्देश नहीं है। फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से पर्यालोचन करने पर व्यंजन वर्णों का ज्ञान होता है। माण्डूकी शिक्षा में भी रङ्ग के परिगणन के द्वारा 44 व्यंजन कहे गये हैं, किन्तु 43 व्यंजन ही यहाँ स्वीकृत है क्योंकि रङ्ग कोई वर्ण नहीं है। वह व्यंजन का धर्म है, उसकी धर्म विशेषता अनुनासिकत्व ही है। अस्तु रङ्ग को स्वतन्त्र व्यंजन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों में व्यंजन विषयक विषमता प्रकट होती है। क्योंकि इनमें स्वशाखा से सम्बन्धित विशेष वर्णों का प्रतिपादन किया गया है, अस्तु क्वचित न्यूनाधिक्य सम्भव है। इसके अतिरिक्त यह भी कह सकते है कि कुछ वर्ण माण्डूकी में और वर्ण पटल में अन्यत्रानुक्त कहे गये है। जहाँ जो अन्यत्रानुक्त कहे गये है इसका कारण शाखा विशेष ही है। इसका समाधान यही है कि स्थानादि भेद से स्थानादियों में ऐक्यता होने पर भी उसके तारतम्य से तथा स्थानादियों के अन्यथा रूप में शङ्का करने से ही अनन्त वर्ण है। इसका समग्ररूपेण गणना दुष्कर है। वस्तु स्थिति यह है कि सभी वर्ण समग्ररूपेण किसी भी भाषा अथवा वेद प्रयुक्त नहीं है। अस्तु कुछ शाखा विशेष विषयक तथा कुछ स्वप्रक्रियापयोगी वर्णों का ही प्रतिपादन किये है। यदि प्रसङ्गवश अन्य शाखीय वर्णों का निर्देश कर दिया गया है तो यह उसकी विशेषता है उसकी न्यूनता नहीं है।

प्राचीन आचार्यों के द्वारा व्यंजन के गुणानुसार अनेक संज्ञाये दी गई है। प्रातिशाख्यों के आधार पर व्यंजनों का चार श्रेणियों के अन्तर्गत विभाजन किया जा सकता है— स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्म और अयोगवाह।

**स्पर्श—**

स्पर्शार्थक $\sqrt{}$स्पृश् धातु से इस शब्द की निष्पत्ति होती है। स्पृष्ट गुणानुगत जो उच्चारण होता है वे स्पर्श संज्ञक कहे गये है। अर्थात् जिन वर्णो के उच्चारण में मुख में स्थित उच्चारण अवयव के अन्योन्य वायु को स्पर्श करके बाहर और

अन्दर रोककर तत्पश्चात् विग्रह कर ही बाहर निकले, उसी समय जो वर्ण उत्पन्न होते हैं। वे स्पर्श संज्ञक होते है।

शिक्षा–ग्रन्थों एवं प्रातिशख्यों में ककार से आरम्भ कर मकार पर्यन्त व्यंजन स्पर्श संज्ञक जानना चाहिए। क्योंकि ककार से मकार पर्यन्त स्पर्श वर्णों के उच्चारण में वायु को प्रयोज्य कर जिह्वा के अग्रादि भागों का स्पर्श होता है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार व्यंजनों के आदि 25 वर्ण स्पर्श संज्ञक कहे गये है।[1] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में ककार से मकार तक स्पर्श संज्ञक वर्णों को कहा गया है।[2] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में क से आरम्भ कर मकार तक सभी वर्ण स्पर्श संज्ञक जानने चाहिए ऐसा उल्लेख मिलता है।[3] ऋक् तन्त्र में भी ककारादि 25 वर्ण स्पर्श पद से जाने जाते है।[4] चतुरध्यायिका में स्पर्श पद का उल्लेख मिलता है।[5] किन्तु कौन स्पर्श संज्ञक वर्ण है ? इस विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। इसकी पूर्ति वर्ण पटल करता है, जहाँ पंचवर्ग (क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग एवं प वर्ग) स्पर्श संज्ञक वर्ण कहे गये है, इन स्पर्श

---

1. तेषामाद्याः स्पर्शाः। —ऋ०प्रा० 1/7
2. आद्यापंच विंशति स्पर्शाः। —तै०प्रा० 1/7
3. किति खिति गिति घिति ङिति। चिति छिति जिति झिति जिति।
   टिति ठिति डिति ढिति णिति। तिति थिति दिति धिति निति।
   पिति फिति बिति भिति मिति। इति स्पर्शाः। —वा०प्रा० 8/8–13
4. किति खिति गिति घिति ङिति क वर्गं।
   चिति दिति जिति झिति, निति च वर्गः।
   टिति ठिति डिति ढिति णिति ट वर्गः।
   तिति थिति दिति धिति निति त वर्गः।
   पिति फिति बिति भिति मिति प वर्गः। इति स्पर्शाः। —ऋ०तं० 1/2
5. स्पर्शाः प्रथमोत्तमाः, स्पृष्टं स्पर्शानाम् करणम्। —च०अ0 1/6,29

संज्ञक वर्णों की संख्या 25 बताई गई है।[1]

व्यास शिक्षा में ककारादि से आरम्भ कर मकार पर्यन्त वर्ण स्पर्श संज्ञक होते है।[2] याज्ञवल्क्य शिक्षा में स्पर्श पद से आद्य 25 वर्ण ही कहे गये है।[3] गौतमी शिक्षा में भी ककारादि से मकार पर्यन्त वर्ण स्पर्श संज्ञक है।[4] पाणिनीय शिक्षा में भी बताया गया है कि ककार से मकार पर्यन्त वर्ण स्पर्श संज्ञक ही है।[5] माण्डूकी शिक्षा में स्पर्श संज्ञक वर्णों का व्यवहार भी है। किन्तु स्पर्श संज्ञक वर्णों का परिगणन नहीं हैं फिर भी स्पृष्ट प्रयत्न होने से ककार से मकार पर्यन्त वर्ण यहाँ भी स्पर्श पद से अङ्गीकृत किये गए है।

निष्कर्षतः स्पर्श स्थल में माण्डूकी शिक्षा और अन्य शिक्षाओं में साम्यता देखी जाती है।

**अन्तःस्थ–**

अन्तः पूर्वक √स्था धातु से अन्तर्भावी अर्थ में 'अङि्' तथा 'टाप्' प्रत्यय करने पर 'अन्तःस्थ' शब्द बनता है। अन्तःस्थ उन व्यंजनों को कह सकते है। जिनकी स्थिति स्वर और व्यंजन के मध्य मानी जाती है। अर्थात् ये वर्ण न तो स्पर्श वर्णों की भाँति पूर्णतः स्वराश्रित होकर ही उच्चरित होते है और न तो स्वर वर्णों की भाँति स्वतंत्र उच्चरित होते है। इनके उच्चारण में जिह्वा न तो स्पर्श व्यंजनों की भाँति उच्चारण–स्थान को पूर्णतः स्पर्श करती है और न ही स्वरों की भाँति मुख–विवर को पूर्णतः उन्मुक्त ही रखती है।

---

1. पंच विंशतिराद्यैषां स्पर्शाः वर्गाश्च पंचकाः। —वर्ण०प० 1/8
2. कादिमान्ताः स्मृताः स्पर्शाः। —व्या०शि०(संज्ञाप्र०) 7
3. स्पर्शाः ................................. । —या०शि०
4. तत्र ककारादयो मकारान्ताः स्पर्शाः पंचविंशतिः। —गौ०शि०(शि०सं०)पृ० 450
5. स्पर्शानाम् पंचविंशतिः। —पा०शि० 4

अन्तःस्थ वर्णों के सम्बन्ध में सभी प्रातिशाख्य एकमत है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में य र ल व ये चार वर्ण अन्तःस्थ कहे गये है।[1] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में अन्तःस्थ पद से य र ल व वर्णों का बोध होता है।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में भी य र ल व ये वर्ण अन्तःस्थ संज्ञक कहे गये है।[3] ऋक् तन्त्र में स्थापद के द्वारा ही अन्तःस्थ संज्ञा कही गई है। य र ल व वर्ण ही स्था संज्ञा के द्वारा बोध्य है।[4] चतुरध्यायिका में अन्तःस्थ वर्णों के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया फिर भी य र ल व इन वर्णों को अन्तःस्थ समझना चाहिए।[5]

शिक्षाओं में भी य र ल व ये वर्ण अन्तःस्थ संज्ञक कहे गये हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा में य र ल व ये वर्ण अन्तःस्थ संज्ञक कहे गये है।[6] गौतमी शिक्षा में भी य र ल व ये चार वर्ण अन्तःस्थ संज्ञा वाले है।[7] व्यास शिक्षा में यकारादि से वकारान्त पर्यन्त वर्ण अन्तःस्थ संज्ञा से बोध्य है।[8] माण्डूकी शिक्षा में भी अन्तःस्थ पद का व्यवहार देखा जाता है। यद्यपि यहाँ अन्तःस्थ वर्णों का परिगणन नहीं है फिर भी य र ल व ये वर्ण अन्तःस्थ पद से माण्डूकी शिका में स्वीकृत किये गये है।[9] इस प्रकार माण्डूकी शिक्षा में ही नहीं अपितु अन्य शिक्षाओं में भी य र ल व ये चार वर्ण अन्तःस्थ पद ये ज्ञेय है।

---

1. चतस्त्रोऽन्तस्थास्ततः। —ऋ०प्रा० 1/9
2. अथान्तस्था— यिति, रिति, लिति, विति। —वा०प्रा० 8/14—15
3. पराश्चचतस्त्रोऽन्तस्थाः। —तै०प्रा० 1/8
4. यिति रिति लिति वित्यन्तस्थाः। —ऋ०तं० 1/2
5. ईषत्स्पृष्टमन्तः स्थानाम्। —च०अ० 1/30
6. अन्तःस्था कपिला, वैश्याः अन्तः स्था तथैव च।
   तथाऽन्तःस्था स्त्रीलिङ्गाः परिकीर्तिता।। —या०शि०(शि०सं०)पृ० 14,15
7. चत्वारोऽन्तःस्थास्ते यरलवाः। —गौ०शि०
8. अन्तस्थाः वादिवोत्तराः। —व्या०शि० 7 (पृ० 3)
9. अन्तःस्थानामतोऽन्यथा। —मा०शि० 6/10

उपर्युक्त विवेचन के द्वारा स्पष्ट रुप से समझा जाता है कि अन्तःस्थ पद के द्वारा य र ल व इन्हीं चार वर्णों का बोध होता है।

**ऊष्म वर्ण–**

ऊष्म नामक वाह्य–प्रयत्न के योग से उच्चरित होने के कारण ये वर्ण ऊष्मन् कहे जाते है। 'ऊष्मन्' का शाब्दिक अर्थ है– 'गर्म वायु'। अर्थात् ऊष्म वर्णों के उच्चारण में मुख से निःसृत वायु वाष्प की भाँति गर्म होती है।[1] ऋग्वेद प्रातिशाख्य की व्याख्या में उव्वट ने प्रतिपादन किया है, कि जिस वर्ण के उच्चारण में ऊष्मवायु की प्रधानता हो उन वर्णों को ऊष्म संज्ञक वर्ण कहते है।[2]

ऊष्म वर्णों की संख्या के सन्दर्भ में सभी प्रातिशाख्य एकमत नहीं है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में ऊष्म शब्द के स्वरूप विवेचन के समय में कहा गया है कि अन्तःस्थ वर्णों से भिन्न आठ वर्ण ऊष्म संज्ञक होते है।[3] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में भी अन्तःस्थ वर्णों से भिन्न वर्ण ऊष्म संज्ञक वर्ण कहे गये है। किन्तु यहाँ इन ऊष्म संज्ञक वर्णों की संख्या छः ही मानी गई है।[4] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में चार वर्ण ही ऊष्म संज्ञक माने गये है।[5] ऋक् तन्त्र भी वाजसनेयि प्रातिशाख्य का अनुवर्तन करता है।[6] चतुरध्यायिका के भाष्य में भाष्यकार ने श, स, ष, ह, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय एवं

---

1. ऊष्माख्यवाह्यप्रयत्नयोगादूष्माणइत्याख्या। –तै०प्रा० 1/9 पर (वै०भ०)
2. ऊष्मावायुः तत्प्रधानवर्णाः ऊष्माणः। –ऋ०प्रा०(उ०भा०) 1/10
3. उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः। –ऋ०प्रा० 1/10
4. परेषडूष्माणः। –तै०प्रा० 1/9
5. अथोष्माणः। शिति षिति सिति हिति। –वा०प्रा० 8/16–17
6. अथोष्माणो हिति शिति षिति सिति योगवाहाः। –ऋ०तं० 1/2

उपध्मानीय इन सात वर्णों को ऊष्म संज्ञा वाला कहा है।[1] इस प्रकार प्रातिशाख्यों में स्वीकृत ऊष्म वर्ण अधोलिखित है–

| ऋग्वेद प्रातिशाख्य | तैत्तिरीय प्रातिशाख्य | वाजसनेयि प्रातिशाख्य | चतुरध्यायिका | ऋक्तन्त्र |
| --- | --- | --- | --- | --- |
| ह, श, ष, स<br>अः(विसर्जनीय)<br>≍क(जिह्वामूलीय)<br>≍ प<br>(उपध्मानीय)<br>अं (अनुस्वार) | ≍ क<br>(जिह्वामूलीय)<br>≍ प<br>(उपध्मानीय)<br>श, ष, स, ह | श, ष, स<br>ह | ≍ क<br>(जिह्वामूलीय)<br>≍ प<br>(उपध्मानीय)<br>श, ष, स, ह<br>अः(विसर्जनीय) | ह, श, ष, स |
| 8 ऊष्म वर्ण | 6 ऊष्म वर्ण | 4 ऊष्म वर्ण | 7 ऊष्म वर्ण | 4 ऊष्म वर्ण |

शिक्षाओं में भी ऊष्म संज्ञक वर्णों का परिगणन मिलता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में शादि वर्ण ऊष्म संज्ञक कहे गये है। यहाँ ऊष्म वर्णों का प्रयोग ही नहीं अपितु वर्णों का विवेचन भी प्राप्त होता है। ऊष्म वर्णों की जाति शूद्र एवं लिङ्ग नपुंसक कहा गया है।[2] व्यास शिक्षा में जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, श, ष, स एवं ह ये वर्ण ऊष्म संज्ञक कहे गये है।[3] पाणिनीय शिक्षा सूत्र में भी श ष स ह ऊष्म वर्णों का उल्लेख मिलता है।[4] आपिशलि शिक्षा सूत्र में शादि वर्ण ऊष्म संज्ञा वाले है।[5]

---

1. ऊष्मणाम् विवृतंच, लकारस्योष्मसु –च०अ० 1/31, 1/46
2. ऊष्माणाः, ऊष्माणोऽरुणाः, ऊष्माणश्च इकारश्च शूद्राः एव प्रकीर्तिताः शेषाक्षराणि षण्दानि प्राहुः लिङ्ग विवेकाः। –या०शि०(शि०सं०) पृ०25–27
3. जिह्वामूलीययादिहान्ताश्च षडूष्माणः उदीरिताः। –व्या०शि०(सं०प्र०) 8
4. शादयः ऊष्माणः। –पा०शि०सू० 4/10
5. शादयः ऊष्माणः। –आ०शि०सू० 4/8

गौतमी शिक्षा में ह श ष स ऊष्म वर्ण कहे गये है।[1] माण्डूकी शिक्षा में ऊष्म शब्द का प्रयोग है।[2] इसमें ऊष्म संज्ञक वर्ण प्रकीर्ण है। किन्तु साक्षात् ऊष्म वर्णों का परिगणन नहीं किया गया है। तथापि वेद की साम्यता से वर्ण पटल में कहे गये ऊष्म वर्ण यहाँ भी स्वीकृत हैं।

उपर्युक्त विवेचन के द्वारा समझा जाता है कि ऊष्म संज्ञक वर्णों का स्वरूप अति सुन्दर संस्कृत भाषा में प्रतिपादित किया गया है। किन्तु ऊष्म वर्णों की संख्या के विषय में विद्वानों में मतैक्यता नहीं देखी जाती है।

**सोष्म–**

शिक्षाओं एवं प्रातिशाख्यों में सोष्म संज्ञा के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

**अयोगवाह–**

जिनका उच्चारण बिना पूर्ववर्ती स्वर के कथमपि नहीं हो सकता, अयोगवाह पद से कहे गये है। अयोगवाह के शब्दार्थ के विषय में विद्वान एकमत नहीं हैं। इसलिए कहीं योगवाह पद से और कहीं अयोगवाह पद से समझा गया है। अयोगवाह पद की व्याख्या प्रसंग में उव्वट ने लिखा है कि जो अकारादि वर्णों के साथ स्थित हो वही आत्मलाभ को प्राप्त होते है, उन्हें ही अयोगवाह पद से समझना चाहिए।[3] यहाँ अन्नत भट्ट ने उव्वट कृत अयोगवाह पद में अकार का अकारादि वर्ण रूप की व्याख्या को न मानकर योगवाह ही अयोगवाह के स्थान पर स्वीकार किया है। यहाँ योगवाह के विषय में कहा गया है कि योग के द्वारा अकारादि वर्ण के समुदाय संहित आत्म वहन करते है,

---

1. चत्वारश्चोष्माणस्ते हशषसाः। —गौ०शि०(शि०सं०)पृ० 450
2. विवृतं च स्वरोष्मणाम्। —मा०शि० 6/10
3. अकारादिनां वर्णसमाम्नायेन संहिताः सन्तः एते वहन्त्यात्मलाभं प्राप्तुवहिन्त्योगवाहाः। —वा०प्रा० 8/18

अर्थात् उच्चरित होते है, वही अयोगवाह पद से कहे गये है।[1] महाभाष्य में अयोगवाहों के परिगणन में अन्तर है। यहाँ कहा गया है कि जो वर्ण अनुपदिष्ट है वे अयोगवाह संज्ञक है।[2] पाणिनीय शिक्षा के भाष्य में अयोगवाह पद का अर्थ इस प्रकार कहा गया है कि जिन वर्णो का अन्य वर्णों के साथ संयोग नहीं हैं, वे अयोगवाह कहे गये है।[3] अयोगवाह का उल्लेख वाजसनेयि प्रातिशाख्य में प्राप्त होता है। जिह्वामूलीय उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य एवं यम अयोगवाह पद से ज्ञेय है।[4] ऋक् तन्त्र में भी जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य, यम इत्यादि अयोगवाह पद से जाने जाते है।[5] शेष वर्ण योगवाह है।

---

1. योगवहत्वं चेत्यम्। योगेनाकरादिवर्णसमुदायेन संहिताः सन्तः। आत्मानं व वहन्ते इति योगवाहाः। —वा०प्रा०(अ०भ०) 8/18
2. कथं पुनरयोगवाहाः? यद युक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते इति अयोगवाहाः। —म०भाष्य(अयोगवाहोपदेशाधिकरणम्)
3. न विद्यते योगः संयोगो वर्णान्तरेण येषां ते अयोगवाहाः। —पा०शि० (पंजिका भाष्यम्) 22
4. ≍ क इति जिह्वामूलीय। ≍ प इत्युपध्मानीयः। अं इत्यनुस्वारः, अः इति विसर्जनीयः, हुँ इति नासिक्यः। कुँ, खुँ, गुँ, घुँ इति यमाः। —वा०प्रा० 8/19–24
5. अथायोगवाहाः। अः इति विसर्जनीयः ≍ क इति जिह्वामूलीय। प इत्युपध्मानीयः। हुँ मित्यनुनासिकः। अथ यमाः कुँ इति खुँ इति गुँ इति घुँ इति। अथानन्त्य संयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः। अथानुस्वारौ तं आं इत्यनुस्वारौ। —ऋ०तं०1/2

शिक्षाओं में अयोगवाह पद का उल्लेख प्राप्त किया जाता है। पाणिनीय शिक्षा में अनुस्वार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय एवं विसर्ग इन चार वर्णों को अयोगवाह कहा गया है।[1] वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा में अनुस्वार, नासिक्य, विसर्ग, यम, उपध्मानीय, जिह्वामूलीय इन नौ वर्णों को अयोगवाह संज्ञक कहा गया है।[2] चारायणीय शिक्षा में सोलह (16) वर्णों को अयोगवाह माना है।[3] यद्यपि माण्डूकी शिक्षा में योग वाह पद का अस्तित्व प्राप्त नहीं होता है। तथापि तीन अनुस्वार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग एवं यम प्रयुक्त देखे जाते है[4], और इनको अन्यत्र अयोगवाह पद से कहे जाने के कारण यहाँ भी यही अयोगवाह स्वीकार कर सकते है।

उपर्युक्त विवेचन से समझा जाता है कि अयोगवाह पराश्रित है। जिनका उच्चारण पूर्व स्तर को मान करके होता है। शिक्षाओं में अयोगवाह की संख्या के विषय में विषमता व्याप्त है। इसका प्रमुख कारण तत्तत् शाखीय उच्चारण स्थान सम्बन्धी भिन्नता है।

**विसर्जनीय–**

विसर्ग को ही विसर्जनीय पद से कहा गया है। विसर्ग की निष्पत्ति 'वि' पूर्वक√सृज् सर्गे धातु में 'घञ्' प्रत्यय करने पर होती है। वायु के विसर्जन से उद्भव होने से विसर्ग कहलाता है। ऋक् तंत्र के अनुसार विसर्ग पूर्व स्वरान्त स्थानिक होता है।[5]

---

1. अनुस्वारो विसर्गश्च ≍ क ≍ पौ चापि पराश्रितौ।। –पा०शि० 5
2. अनुस्वारो विसर्गश्च नासिकयोऽथ यमस्तथा।
   जिह्वामूलमुपध्मानीय च नवैतेस्युः पराश्रयाः। –वर्ण०र०प्र०शि० 5
3. अनुस्वारो विसर्गश्च कलपाठः प्लुता यमाः।
   जिह्वामूलमुपध्माच षोडशैते पराश्रयाः।। –चा०शि० 18
4. मा०शि० 8/10–11, 10/4, 11/1–5
5. उरसि विसर्जनीयो वा, वेत्यत्रपूर्वस्वरस्थानिकत्वमपि बोधमिति। –ऋ०तं० 13

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में भी कहा गया है कि विसर्ग पूर्व स्वर स्थानिक होता है।[1] वाजसनेयि प्रातिशाख्य स्वर के बाद आने वाले (:) बिन्दुद्वय को विसर्ग मानता है।[2] चतुरध्यायिका में विसर्ग अभिनिष्ट पद से कहा गया है।[3]

शिक्षाओं में प्रायः विसर्ग ऊष्म संज्ञा से प्रसिद्ध है। अतएव नारदीय शिक्षा में विसर्ग के स्थान पर ऊष्म पद प्रयुक्त देखा जाता है। और वह (ऊष्म) आठ प्रकार का कहा गया है।[4] याज्ञवल्क्य शिक्षा में विसर्ग का अतिसुन्दर स्वरुप वर्णित किया गया है। यहाँ कहा गया है कि बालवत्स के श्रृङ्ग के समान एवं अवयस्क कुमारी के स्तन के समान वर्ण के अन्त में अथवा पद के स्थान में प्रयुक्त बिन्दुद्वय ही विसर्ग के नाम से जाने जाते है।[5] याज्ञवल्क्य शिक्षा में विसर्ग का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिए? ऐसी उत्कंठा होने पर शिक्षाकार के अनुसार जैसे– बाल सर्प उच्छवास करता है उसी प्रकार विसर्ग का भी उच्चारण करना चाहिए। किन्तु हकार को विसर्ग मानकर हकारवत् किसी भी प्रकार से उच्चरित नहीं करना चाहिए।[6] पाणिनीय शिक्षा में विविध प्रकार से सृज्य होने के कारण विसर्जनीय पद से ज्ञेय है।[7] माण्डूकी शिक्षा में यद्यपि विसर्ग के स्वरूप

---

1. पूर्वान्त संस्थानो विसर्जनीयः। —तै०प्रा० 2/48
2. अः इति विसर्गः। —वा०प्रा० 21/22
3. विसर्जनीयोऽभिष्टानः। —च०अ० 1/42
4. ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
   जिह्वामूलमुपध्माच गतिरष्टविधोष्माणः। —ना०शि० 2/4/5
5. श्रृङ्गवद्बालवत्सस्य कुमारीकुचयुग्मवत्।
   उभक्षेप स्वरो यत्र सविसर्गमुदाहृतः।। —या०शि० 68 (शि०सं०)
6. यथा बालस्य सर्पस्य उच्छवासो लघुचेतसः।
   एवमूष्मा प्रयोक्तव्यो हकारंपरिवर्जितः।। —या०शि० 70 (शि०सं०)
7. विविधं सृज्यते इति विसर्गः ऊष्मापरसंज्ञः। —पा०शि० (पंजिका) 5

के विषय में उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। तथापि विसर्ग का अष्टविधत्व प्राप्त होता है।[1] यहाँ नारदीय शिक्षा एवं माण्डूकी शिक्षा में विसर्ग के स्वरूप में साम्यता देखी जाती है। क्योंकि नारदीय शिक्षा में भी विसर्ग का अष्टविधत्व शिक्षाकार द्वारा स्वीकार किया गया है। अतः नारदीय शिक्षा विसर्ग के स्वरूप विवेचन में माण्डूकी शिक्षा का अनुवर्तन करती हुई प्रतीत होती है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं में 'अः' विसर्ग पद से अथवा अन्य नामों से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार माण्डूकी शिक्षा में भी 'अः' को ही विसर्ग स्वीकार कर सकते है।

**जिह्वामूलीय–**

जिह्वामूल शब्द में 'छ' प्रत्यय करने पर जिह्वामूलीय शब्द बनता है। जो वर्ण जिह्वामूल से उच्चरित किये जाते है वे ही जिह्वामूलीय कहे गये है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में कहा गया है कि जो वर्ण जिह्वामूल से उत्पन्न होते है वे ही जिह्वामूलीय पद से ज्ञेय है।[2] जिह्वामूलीय वर्णो के विषय के प्रातिशाख्यों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। किन्तु इनकी संख्या के विषय में प्रातिशाख्यकारों में मतैक्यता नहीं है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार लृकार, ल्कार, ≍क तथा क वर्ग जिह्वामूलीय पद से ज्ञेय है।[3] वाजसनेयि प्रातिशाख्यकार का कथन है कि ऋकार एवं क वर्गीय वर्णों को जिह्वामूलीय समझना चाहिए।[4] चतुरध्यायिका में जिह्वामूलीय वर्ण कितने हैं? इस विषय पर वह मौन स्वीकार करता है। जिह्वामूलीय का करण हनुमूल होता है[5] इस प्रकार कहा गया है।

---

1 ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्ट विधोष्मणः। —मा०शि० 10/4

2. जिह्वामूलीयं जिह्वामूलेन जन्यत्वात्। —तै०प्रा०(वै०भ०) 2/35

3. ऋ०प्रा० 1/41

4. ऋक्कौ जिह्वामूले। —वा०प्रा० 1/65

5. जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्। —च०अ० 1/20

शिक्षाओं में भी प्रातिशाख्यों की भाँति जिह्वामूलीय पद का उल्लेख प्राप्त होता है। आपिशलि शिक्षा में जिह्वामूलीय पद को जिह्वय संज्ञा दी गई है।[1] पाणिनीय शिक्षा सूत्र में भी जिह्वामूलीय को जिह्वय कहा गया है।[2] माण्डूकी शिक्षा में विसर्ग की आठ विकृतियों में जिह्वामूलीय भी एक कहा गया है।[3] और वह ≍ क ≍ ख होना चाहिए। इसके अतिरिक्त माण्डूकी शिक्षा में जिह्वामूलीय के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है।

**उपध्मानीय–**

'उप' उपसर्ग पूर्व √ ध्मा धातु में 'अनीयर' प्रत्यय करने पर उपध्मानीय पद बनता है। वस्तुतः उपध्मानीय शब्द का अर्थ है– 'फूँक मारने योग्य'। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के भाष्य में कहा गया है कि उपध्मान से उत्पन्न होने के कारण ये वर्ण उपध्मानीय कहलाते है।[4] ऋक् तन्त्र में 'प' उपध्मानीय पद से ज्ञेय है।[5] चतुरध्यायिका में उपध्मानीय का करण ही कहा गया है किन्तु कौन उपध्मानीय है? इस विषय पर कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।[6] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में 'प' को ही उपध्मानीय माना गया है।[7]

शिक्षाओं में उपध्मानीय पद का विवेचन प्राप्त होता है। यद्यपि अल्प शिक्षाओं में ही उपध्मानीय का उल्लेख प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया

---

1. प वर्ग वर्णानुस्वार जिह्वामूलीयाः जिह्व्याः एकेषाम्। —आ०शि०सू० 2/5
2. जिह्वामूलीयो जिह्वयः। —पा०शि०सू० 1/4
3. जिह्वामूलम्। —मा०शि० 10/4
4. उपध्मानीयः उपध्मानेन जन्यत्वात्। —तै०प्रा० 2/18 पर (वै०भ०)
5. पइत्युपध्मानीयः। —ऋ०तं० 1/2
6. सन्ध्यक्षरेषु वर्णेषु वर्णान्तम् ओष्ठ्यमुच्यते।
   उपध्मानीयमुकारो वः पवर्गः तथा मतः।। —च०अ० 1/25 (भाष्यम्)
7. प इत्युपध्मानीयः। —वा०प्रा० 8/20

है कि अधरोष्ठ में ऊपरी दन्त पंक्ति के स्पर्श के पश्चात् वायु प्रक्षेप ध्मान या फूँक मारकर ध्वनि का उच्चारण होता है।[1] चान्द्र वर्ण शिक्षा सूत्र भी याज्ञवल्क्य शिक्षा के उपरोक्त कथन का अनुवर्तन करता है।[2] षोडश श्लोकी शिक्षा के मतानुसार 'प' 'फ' से पूर्व विसर्ग उपध्मानीय पद से ज्ञेय है।[3] उपध्मानीय भी अर्द्ध विसर्ग रूप है, जो विकल्प से उच्चरित होता है। यह 'फ' के समान उच्चरित होता है। माण्डूकी शिक्षा में ऊष्म के विकारों में उपध्मानीय का भी परिगणन किया गया है,[4] किन्तु उपध्मानीय पद से किस वर्ण का ज्ञान करना चाहिए। ऐसी जिज्ञासा होने पर वह मौन स्वीकार करती है। यद्यपि माण्डूकी शिक्षा में उपध्मानीय के स्वरूप एवं लक्षण विषयक विवेचन का अभाव देखा जाता है। तथापि अप्रतिषिद्ध पर मत के अनुमत होने से यहाँ भी ᳵ प ही उपध्मानीय पद से स्वीकृत है।

**अनुस्वार–**

यह शब्द 'अनु' उपसर्ग पूर्वक √स्वृ धातु से 'धञ्' प्रत्यय लगने से बना है। 'अनुस्वार' का शाब्दिक अर्थ है– वह वर्ण जिसका उच्चारण अन्य वर्ण के पश्चात् होता है। अनु = पश्चात् अन्य वर्णान्तरं, स्वर्यते = उच्चार्यते इत्यनुस्वारः।

---

1. अष्टा वोष्ठ्या उवर्णवकारोपध्मानीयपवर्गाइति।

   –या०शि० 212 (शि०सं०) पृ० 33

2. ओष्ठौ उपध्मानीययोः। –च०व०सू०

3. कखत ᳵ पफत ᳵ पूर्वः क्रमार्द्धविसर्गकः।

   जिह्वामूलीयको ज्ञेयउपध्मानीयसंज्ञकः।।

   –षो०श्लो०शि० 9 (शि०सं०) पृ0 164

4. उपध्मा च। – मा०शि० 10/4

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं में अनुस्वार के स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होते है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के भाष्य में अनुस्वार का निर्वचन इस प्रकार किया गया है– अनुस्वार के पश्चात् आधा भाग स्वर के समान उच्चरित होता है[1] इसलिए इसे अनुस्वार कहा जाता है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में 'अं' को अनुस्वार पद से कहा गया है।[2] ऋक् तन्त्र में भी अं, आं अनुस्वार पद से ज्ञेय है।[3] चतुरध्यायिका में अनुस्वार शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। अनुनासिक शब्द से ही अनुस्वार का भी बोध हो जाता है।[4]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में अनुस्वार के स्वरूप के विषय में पूर्व मात्रिक के होने पर अनुस्वार दीर्घ एवं द्विमात्रिक होने से ह्रस्व होता है। संयोगाक्षर भी ह्रस्व होता है।[5] जहाँ ह्रस्व अथवा दीर्घ से अनुस्वार होता है वहाँ वह दीर्घ संयुक्त वर्णों के परे होता है। यथा – 'स ᳲ स्थाम्।'[6] ऋ व्यंजन वर्ण संयोगादि के परे रहते ह्रस्व अथवा दीर्घ से अनुस्वार द्विमात्रिक समझना चाहिए। यथा– 'देवाना ᳲ हृदये'।[7] वह अनुस्वार दीर्घ अक्षर से

---

1. अनुस्वर्यते पश्चार्द्धे स्वरवदुच्चार्यते इत्यनुस्वारः। –तै०प्रा०(वै०भ०) 1/18
2. अं इत्यनुस्वारः। –वा०प्रा० 8/21
3. अथानुस्वारौ। अं आं इत्यनुस्वारौ। –ऋ०तं० 1/2
4. अनुनासिकंच। –च०अ० 1/53
5. वर्णे तु मात्रिके पूर्व अनुस्वारो द्विमात्रिकः।
   द्विमात्रे मात्रिको ज्ञेयः संयोगाद्यश्च यो भवेत्।। –या०शि० 138 (शि०सं०)
6. अनुस्वारस्योपरिष्टात्संवृतं यत्र दृश्यते।
   तं विजानीयात् स ᳲ स्थामिति दर्शनम्।। –या०शि० 141 (शि०सं०)
7. अनुस्वारो द्विमात्रः स्यादृवर्णव्यंजननोदये।
   ह्रस्वाद्वा यदि वा दीर्घात् देवाना ᳲ हृदये यथा। –या०शि० 65 (शि०सं०)

ह्रस्व कहा गया है किन्तु मन्त्रों में विकल्प से ज्ञेय है।[1] पाणिनीय शिक्षा के पंजिका भाष्य में कहा गया है कि अनुस्वार किसी स्वर के पश्चात् आने वाला वर्ण है।[2] व्यास शिक्षा में भी अनुस्वार के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु अनुस्वार पद से किसका ज्ञान करना चाहिए ? ऐसी उत्कंठा होने पर वह मौन स्वीकार करती है। तथापि कहाँ अनुस्वार होता है इस विषय पर अवश्य कहा गया है कि रेफ ऊष्म होने से नकार से पूर्व उसके उत्तरवर्ती रेफ ऊष्म से परे अप्लुत मकार से पूर्व नकार से यकार का रूप लुप्त होने से पूर्व में अनुस्वार का आगम होता है। ऐसा शिक्षाकार का मत है। यथा् 'अग्नी रेफ सुषदः' यहाँ रेफ होने से, 'कर्णा ꣳ ' यहाँ ऊष्म होनेसे, स ꣳ शितम्मे यहाँ मकार लोप से, महा ꣳ इन्द्रः नकार के यकार होने से एवं लोप होने से अनुस्वार हो जाता है।[3] शिक्षाकार के मतानुसार यजुर्वेद में यह अनुस्वार गकार युक्त उच्चरित होता है। किन्तु 'शान्तिश्शा..................' वह रूप परे रहते अनुस्वार गकार संयुक्त नहीं होता है।[4] ओम्शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः, परमात्मं सरूपम् इति। यहाँ अनुस्वार नित्य नासिक्य कहा गया है।[5] नारदीय शिक्षा में भी अनुस्वार का उल्लेख है। शिक्षाकार के अनुसार रेफ

---

1. अनुस्वारस्तु यो दीर्घादक्षरांच भवेत्परः।
   स तु ह्रस्व इति प्रोक्तो मन्त्रेष्वेव विभाषया।। —या०शि० 142
2. स्वरमनुभवतीत्यनुस्वारः। —पा०शि० (पंजिका भाष्य) 5
3. रोष्म भावान्तु नात्पूर्व लुप्तान्मांच तदुत्तरात्।
   नकाराद्याकृते लुर्प्तादनुस्वारागमो भवेत्।। —व्या०शि० (य०प्र०) 236, 237
4. अनुस्वारो यजुष्येव मध्यायेऽपि यदा भवेत्।
   तदा गकार संयुक्तो न शान्तिश्शासरूपरः।। —व्या०शि० (य०प्र०) 238, 239
5. विज्ञेयाः नित्यनासिक्याः यमानुस्वार पंचमाः।
   —व्या०शि० (स्थानकरण प्रयत्न प्रकरण) 413 पृ0 158

ऊष्मो में मकार अनुस्वारत्व के रूप में माना जाता है।[1] माण्डूकी शिक्षा में अनुस्वार के दोष को कहकर तत्पश्चात् उसके स्वरूप का विवेचन किया गया है। अत्रोक्त अनुस्वार हकारादि वर्णों के परे रहते नित्य होता है किन्तु अनुस्वार का पर सवर्ण रूप दोष यहाँ निषिद्ध है। हकारादि के रहते अनुस्वार कहा गया है। यथा– 'अहोमुचो वातंरहा, दृहश्चेति'[2] यहाँ कहा गया है कि ह्रस्व दीर्घ प्लुत के भेद से अनुस्वार त्रिविध होता है। यथा– 'अयं राजा' यहाँ ह्रस्व अनुस्वार देखा जाता है। 'क्षत्रियाणां' यहाँ दीर्घ अनुस्वार है। 'यशोर्मासं इत्यादि स्थलों में ह्रस्व अनुस्वार देखा जाता है। 'धनूंषि' यहाँ प्लुत अनुस्वार है।[3] अंततः कह सकते है कि यहाँ भी (माण्डूकी शिक्षा में) 'अं' अनुस्वार पद से ज्ञेय है।

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षा–ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्यों में 'अं' अनुस्वार पद से अभीप्सित हैं।

**अनुनासिक–**

'अनु' उपसर्ग पूर्वक √णासृ धातु में 'अचि' प्रत्यय हो जाने पर प्राण वायु के प्रवेश निर्गमन करने से शब्द करता है, इस प्रकार के अर्थ में नासा शब्द बनता है। तदनन्तर 'कनि' प्रत्यय के योग से अनुनासिक शब्द बनता है। अनुनासिक का अर्थ है– ऐसा वर्ण जिसके उच्चारण के लिये मुख में स्थित उच्चारणाङ्गों के साथ ही साथ नासिका की भी अपेक्षा होती है। ऋक् प्रातिशाख्य के भाष्य में उव्वट का कथन है कि जो वर्ण स्वस्थान के साथ–साथ नासिका से उत्पन्न होता है

---

1. ना०शि० 2/2/4
2. अनुस्वारं हि दोषस्तु हकारादिषु वर्जितः।
   अंहो मुचो वातंरहा दृंहश्चेति निदर्शनम्।। —मा०शि० 8/10
3. अनुस्वाराश्च कर्तव्या ह्रस्व दीर्घप्लुतास्त्रयः।
   अयं राजा यशोर्मांसं क्षत्रियाणां धनूंषि च।। —मा०शि० 8/11

उसे अनुनासिक कहा गया है।[1] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की व्याख्या में कहा गया है कि जो वर्ण नासिका का अनुगमन करता है वह अनुनासिक है।[2] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कहा गया है, कि मुख और नासिका दोनों के सहयोग से उच्चरित होने वाला वर्ण अनुनासिक कहलाता है।[3] पाणिनीय सूत्र[4] एवं चतुरध्यायिका[5] में कहा गया है, कि जो वर्ण नासिका सहित मुख से उच्चरित किये जाते है उन्हें अनुनासिक कहा गया है। प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं में अनुनासिक शब्द का प्रयोग निम्नलिखित तीन अर्थों में प्राप्त होता है।

**(क) वर्गो के अन्तिम वर्णों के अर्थ में–**

वर्ग के अन्तिम वर्ण के लिये अनुनासिक का प्रयोग सभी प्रातिशाख्यों में प्राप्त होता है। ऋक् तन्त्र में अन्तिम वर्णों को अनुनासिक कहा गया है।[6] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में उत्तम वर्ण अनुनासिक कहे गये है।[7] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कहा गया है कि वर्गों के अन्तिम वर्ण उत्तम होते है और उत्तम वर्ण को ही अनुनासिक कहा गया है।[8] ऋग्वेद प्रातिशाख्य कार का कथन है कि वर्गों के अन्तिम वर्ण को अनुनासिक समझना चाहिए।[9]

---

1. नासिकामनु यो वर्णों निष्पद्यते स्वकीयस्थानमुपादय स द्विस्थानोऽनुनासिकः। –ऋ०प्रा० (उ०भा०) 1/14
2. नासिकामनुवर्तन्ते इत्यनुनासिकाः। –तै०प्रा० (त्रि०र०) 2/30
3. मुखनासिकाकरणोऽनुनासिकः। –वा०प्रा० 1/75
4. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः। –पा०सू० 1/1/8
5. अनुनासिकानां मुखनासिकम्। –च०अ० 1/27
6. अन्त्योऽनुनासिकः। –ऋ०तं० 2/17
7. अनुस्वारोत्तमानुनासिकाः। –तै०प्रा० 2/30
8. अनुनासिकाश्चोत्तमाः। –वा०प्रा० 1/89
9. अनुनासिकोऽन्त्यः। –ऋ०प्रा० 1/14

अनुनासिक का उल्लेख व्यास शिक्षा में उत्तम पद से देखा जाता है।[1] नारदीय शिक्षा में ङ्, ञ्, ण्, न्, म् ये वर्ण उत्तम कहे गये हैं एवं उत्तम वर्णों को ही अनुनासिक कहा गया है।[2] याज्ञवल्क्य शिक्षा में अनुनासिक का उल्लेख मिलता है यहां भी पंचम अक्षर (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) अनुनासिक कहे गये है।[3] माण्डूकी शिक्षा में ङ्, ञ्, ण्, न्, म् ये वर्ण उत्तम पद समझे जाते है एवं ये उत्तम वर्ण अनुनासिक्य के पर्याय है।[4] इसकी पुष्टि चतुरध्यायिका में की गई है कि उत्तम वर्ण को अनुनासिक समझना चाहिए।[5]

उपर्युक्त स्थलों में अनुनासिक पद का प्रयोग ङ्, ञ्, ण्, न्, म् इन वर्णों के अर्थ में ही किया गया है।

**(ख) अन्तःस्थ–वर्णों के विशेषण के अर्थ में–**

अन्तःस्थ वर्णों के विशेषण के रूप में अनुनासिक का प्रयोग ऋग्वेद प्रातिशाख्य[6], तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[7], वाजसनेयि प्रातिशाख्य[8] तथा चतुरध्यायिका[9] में किया गया है। कि अन्तःस्थ वर्णों के परे रहते नकार और मकार अन्तःस्थ अनुनासिक होते है। शिक्षाओं में उच्चारण विधि ही प्रधान लक्ष्य होने के कारण अनुनासिक का परिगणन होने पर भी कहीं–कहीं अनुनासिक होता है। इस विषय पर विस्तार से वर्णन नहीं किया गया। माण्डूकी शिक्षा भी यहाँ अपवाद नहीं है।

---

1. पंचमस्योत्तमः क्रमात्। –व्या०शि० (सं०प्र०) 10
2. ............... "उत्तमाश्चैव" – उत्तमाः मकारादयः। –ना०शि० 2/5/10
3. या०शि० (उत्तरार्द्ध) पृ० 25
4. उत्तमेः स्पर्शेः। –मा०शि० 11/2
5. उत्तमा अनुनासिकाः। –च०अ० 1/11
6. अन्तस्थासु रेफवर्जं परासु तां तां पदादिष्वनुनासिकां तु। –ऋ०प्रा० 4/7
7. अन्तःस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्। –तै०प्रा० 5/28
8. अन्तःस्थामन्तस्थास्वनु नासिकां परसस्थानाम्। –वा०प्रा० 4/10
9. उभयोर्लकारे लकारोऽनुनासिकः। –च०अ० 2/35

(ग) स्वर–वर्णों के विशेषण के अर्थ में–

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में अनुनासिक का प्रयोग प्राप्त होता है, प्रातिशाख्याकार के अनुसार अनुनासिक स्वर से पूर्व उच्चरित होता है।[1] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[2], वाजसनेयि प्रातिशाख्य[3] एवं चतुरध्यायिका[4] में भी अनुनासिक पद का प्रयोग इसी अर्थ में ही बहुधा किया गया है। यहाँ तो प्रायः वे सभी वर्ण अनुनासिक पद से समझे गये है जिनके उच्चारण में नासिका भी अपेक्षित है। अतएव अनुस्वार नासिक्यपदों का अभाव ही देखा जाता है। शिक्षाओं में स्वर के विशेषण अर्थ में अनुनासिक का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

नासिक्य–

प्रातिशाख्यों में नासिक्य का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋक् तन्त्र में 'हुँ' को नासिक्य पद से कहा गया है।[5] वाजसनेयि प्रातिशाख्य भी 'हुँ' को नासिक्य मानता है।[6] चतुरध्यायिका में अनुनासिक के परे रहते हकार नासिक्य कहा गया है।[7] व्यास शिक्षा में नासिक्य पद से यम अनुस्वार पंचम वर्ण ही कहे गये है हकार तो निमित्त से ही नासिक्य होता है।[8] वस्तुतः नासिक्य कोई दूसरा वर्ण नहीं है हकार ही उत्तम वर्ण के संयोग से नासिक्य पद से जाना जाता है। माण्डूकी शिक्षा में तो नासिक्य पद का प्रयोग देखा

---

1. ऋ०प्रा० 5/26, 9/10
2. नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्यते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः। –तै०प्रा० 15/1
3. वा०प्रा० 4/53
4. नकारमकारयोः लोपे पूर्वस्थानुनासिकाः। –च०अ० 1/67
5. हुमित्यनुनासिकः। –ऋ०तं० 1/2
6. हुँ इति नासिक्यः। –वा०प्रा० 2/23
7. हकारान्नासिक्येन। –च०अ० 1/100
8. अजन्तस्था हकारश्च निमित्तेन तु कीर्तिताः। –व्या०शि० (स्थानकरण प्र०) 414

जाता है तथापि वर्ण पटल में वर्णित नासिक्य यहाँ भी स्वीकार करना चाहिए।[1] चूँकि दोनों एक ही वेद के उपकारी है।

**यम–**

'यम' शब्द नियन्त्रण करना अर्थ वाली √यम धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है– नियन्त्रण। जब पंचम वर्ण से पूर्व उससे भिन्न स्पर्श वर्ण का संयोग होता है तब दोनों वर्णों के मध्य एक नासिक्य वर्ण का आगम हो जाता है, जिसके कारण पूर्ववर्ती स्पर्श वर्ण परवर्ती ध्वनि के साथ संयुक्त होने से नियन्त्रित हो जाती है। नियन्त्रित होने से उसके उच्चारण में होने वाले संयोग का विच्छेद हो जाता है। यह स्पर्श विच्छेद ही यम है। विच्छेद के कारण पूर्व स्पर्श सदृश सानुनासिक ध्वनि का आगम होता है। इस आगम प्राप्त सानुनासिक ध्वनि के साथ पूर्व स्पर्श का युगल सम्बन्ध हो जाता है। उस युगल में द्वितीय को ही 'यम' संज्ञा दी गई है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में यम विच्छेद नाम से भी कहा गया है।[2]

शिक्षा–ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्यों में यम के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त विधान किये गये है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में यम के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि उत्तमों में अनुत्तम नासिक्य होते है ये नासिक्य यम पद से कहे गये है[3], ऐसा विद्वानों का मत है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कुँ खुँ गुँ घुँ इत्यादि यम पद से समझे गये है।[4] ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार अननुनासिक स्पर्श अपने यमों को प्राप्त हो जाते है, यदि बाद में अनुनासिक स्पर्श हो।[5] ऋक् तन्त्र में कुँ खुँ गुँ घुँ इत्यादि ही यम कहे गये है।[6]

---

1. ...................................... नासिक्यः। –वर्ण०प० 1/11
2. अन्तः पदेऽपंचमः पंचमेषु विच्छेदः। –वा०प्रा० 4/163
3. स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः। –तै०प्रा० 21/12
4. कुँ, खुँ, गुँ, घुँ इति यमाः। –वा०प्रा० 8/24
5. स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान्परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु। –ऋ०प्रा० 6/29
6. कुँ इति खुँ इति गुँ इति घुँ इति यमाः,
   अनन्त्यान्त्यसंयोगे यमः पूर्वगुणः। –ऋ०तं० 1/2

चतुरध्यायिका में यम के विषय में प्रतिपादन किया गया है कि एक ही पद में अनुत्तम स्पर्श के बाद उत्तम स्पर्श आने पर उनके मध्य क्रम से यमों द्वारा व्यवधान हो जाता है।[1] अर्थात् उत्तम स्पर्श तथा अनुत्तम स्पर्श के मध्य यम का प्रादुर्भाव हो जाता है।

नारदीय शिक्षा में यम के विषय में कहा गया है कि अनन्त्य गकारादि और पूर्व अनन्त्य नकारादि के परे रहते संयोग जब होता है तब वहाँ मध्य में यम होता है और वह पूर्व वर्ण के सदृश होता है।[2] कहा गया है कि श ष स य र ल व पूर्व शादि वर्णो के साथ वर्गान्त्य मकारादि होते है वहाँ यम उसी प्रकार से नहीं देखे जाते है।[3] यथा– चोर को देखकर पथिक।

व्यास शिक्षा में कहा गया है कि जिस स्थल में ऊष्मों की विकृति नहीं होती है वहाँ विकृत अनादेश से अनुत्तम स्पर्श से उत्तम परे होने पर विवक्षणा आनुपूर्व स्पर्श क्रम से यम संज्ञक नासिक्य आगमों को कहते है। प्रथम स्पर्श से प्रथम यम, द्वितीय स्पर्श से द्वितीय यम, तृतीय स्पर्श से तृतीय यम, चतुर्थ स्पर्श से चतुर्थ यम होता है। यथा –यक्कनारूद्रम्, अग्ने तेजस्विन् इत्यादि।[4] यमों की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहा गया कि श्वास से प्रथम होते है, अर्क और ध्वनि से अन्य घोष होते है। इन अघोषों का विसर्ग के सहचर होने के कारण ईषत् वायु के सहित उच्चरित

---

1. समानपदेऽनुत्मात्स्पर्शादुत्तमे यमैर्यथासंख्यम्। –च०अ० 1/99
2. अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वोऽन्त्यश्च परतोयदि,
   तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः। –ना०शि० 1/2/8
3. वर्गान्त्यांछषसैः सार्द्धमन्तस्थैर्वापि संयुतान्।
   दृष्ट्वा यमा निवर्तन्ते आदेशिकमिवाध्वगाः। –ना०शि० 1/2/9
4. यत्रोष्माष्माविकृते स्पर्शादुत्तमोर्ध्वेत्वनुत्तमात्।
   आनुपूर्व्याष्मानेतान्वर्णयन्त्यागमान् बुधाः।।
   –व्या०शि० (पूर्वागम प्रकरणम्) 355, 356 पृ0 134

होते है। इसके बाद चौथी ध्वनि से श्वास अर्क नाद हकार से प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ वर्ण की तरह तत्–तत् संज्ञा होने से क्रम से चारों यम उत्पन्न होते है[1], एवविध पर्यालोचन के द्वारा ही इस प्रकार आता है।

याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी यम के विषय में सुष्ठु प्रतिपादन किया गया है। कहा गया है कि वर्ग के अन्तिम वर्णों के साथ अपंचम के संयोग होने से यम की उत्पत्ति होती है, और यह यम पूर्व अक्षर का अङ्ग होता है।[2] कुँ खुँ गुँ घुँ इत्यादि चार यम होते है।[3] 'रुक्कमः' यहाँ प्रथम यम, ''सक्थ्ना'' यहाँ दूसरा यम, ''व्विद्दमाते'' यहाँ तीसरा यम, ''जम्भेद्ध्म'' यहाँ चौथा यम है।[4] यहाँ भी अन्तःस्थ श ष स के साथ वर्ग के अन्त में संयोग होने पर यम का प्रतिषेध विहित है।[5] जिस प्रकार मृतक के बान्धव मृतक के शरीर को श्मशान भूमि में छोड़कर चले जाते है।

माण्डूकी शिक्षा में यमों के स्वरूप को अति रमणीयता का रूप देते हुए विवेचन किया गया है। कि स्पर्शो का उत्तम स्पर्शो के द्वारा अनुक्रम से संयोग होने पर आनुपूर्व्य चार यम होते है।[6] यथा– ''रुक्क्मेति'' यहाँ प्रथम यम, 'नृचक्षेत्य' यहाँ द्वितीय

---

1. प्रथमाः श्वासतोऽन्येऽर्कादघोषाश्च ततो यमाः।

   –व्या०शि० (स्थान प्रकरणम्) 394 पृ० 153

2. अपंचमैश्चैक पदे संयुक्तं पंचमात्परम्।
   उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्ग पूर्वाक्षरस्य हि।।   –या०शि० 213 (शि०सं०)

3. चत्वारो यमाः कुँ खुँ गुँ घुँ इति।   –या०शि० 212 (शि०सं०)

4. रूक्क्मेति प्रथमो ज्ञेयः, सक्थ्ना इत्यपरो भवेत्।
   विद्माते तु तृतीयश्च जम्मेद्ध्मश्चतुर्थकः।।   –या०शि० 212 (शि०सं०)

5. पंचमाः शषसैर्य्युक्ता अन्तस्थैवाऽपि संयुताः।
   यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवाः।।   –या०शि० 214 (शि०सं०)

6. स्पर्शानामुत्तमैः स्पर्शैः संयोगाच्चेदनुक्रमात्।
   आनुपूर्व्या यमास्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा।।   –मा०शि० 11/2

यम, ''पद्दमम्'' यहाँ तृतीय यम, ''शंखध्ध्मम्'' यहाँ चतुर्थ यम है।[1] यहाँ यम दोष भी कहे गये है। शिक्षानुसार जहाँ पहले श ष स अन्तःस्थ वर्ण ङ्, ञ्, ण्, न्, म् के साथ संयुक्त होते है। वहाँ शिक्षाविद् यम दोष को कहते है, और यम दोष वर्णों के उच्चारण में त्याज्य है।[2] कहा गया है कि श ष स वर्णों के साथ अन्तःस्थ संयोग को देखकर यम उसी प्रकार परावर्त होते है जिस प्रकार श्मशान से मृत व्यक्ति को छोड़कर उसके बान्धव लौट आते है। अर्थात् उसमें यम नहीं होता है।[3]

माण्डूकी शिक्षा में तो स्वरूप बोधन पूर्वक उनका घोष भी बताया गया है। यह प्रतीत होता है कि उच्चारण विधि से एवं शिक्षाओं में प्रधानता पूर्वक विवेचन करने से ही यम का भी निरूपण प्राथमिक रूप से देखा जाता है।

********

---

1. रुक्क्मेति प्रथमं विद्यानृचक्षेत्यपरं विदुः।
   तृतीयं पद्दमित्याहु शंखध्ध्मम् मिति चोत्तमम्।। —मा०शि० 11/3
2. वर्गान्ताः शषसप्रथमाःसंयुक्ताः यदा स्युरभिधेयाः।
   लघुशास्त्रतत्वज्ञैः यमदोषाः तथा हि परिहार्याः।। —मा०शि० 11/4
3. वर्गान्ताः यत्र दृश्यन्ते शषसैः सह संयुताः।
   यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवाः।। —मा०शि० 11—5

# चतुर्थ अध्याय

## (प्रयत्न प्रकरण)

बल शिक्षा शास्त्र का विषय है। स्थान, प्रयत्न बल इस प्रकार शिक्षा शास्त्रों में कहा गया है। वर्ण के उच्चारण काल में वायु मुख के तत्–तत् स्थान को स्पर्श करती है, वह ही शिक्षाओं में स्थान पद से समझा गया है। उच्चारण के लिए जो प्रयास किया जाता हैं वही प्रयत्न कहलाता है। प्रयत्न शब्द से वर्ण के उच्चारण काल में उच्चारण के अवयव जिह्वादि में उत्पन्न होने वाले वर्णोक्त उत्पत्ति में उपयोगी भूत व्यापार ग्रहण किये जाते है।

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं में प्रयत्न की व्युत्पत्ति के विषय में प्रायः कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। किन्तु अष्टाध्यायी में इसकी व्युत्पत्ति की गई है। 'प्र' उपसर्ग पूर्वक प्रयत्नार्थक यती धातु में√नङ्' प्रत्यय करने पर प्रयत्न शब्द की उत्पत्ति होती है।[1]

**प्रयत्न के भेद–**

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं के अनुसार प्रयत्न के दो भेद स्वीकृत हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न या आस्य प्रयत्न एवं बाह्य प्रयत्न या अनुप्रदान प्रयत्न।[2]

**आभ्यन्तर तथा बाह्य प्रयत्न में अन्तर–**

मुख के भीतर होने वाले प्रयत्न को आभ्यन्तर या आस्य प्रयत्न कहते है। जबकि मुख के बाहर होने वाले प्रयत्नों को बाह्य या अनुप्रदान प्रयत्न कहा जाता है।

**आभ्यन्तर प्रयत्न का स्वरूप एवं भेद–**

मुख के भीतर स्थित जिह्वादि में वर्णोच्चारण के समय में न्यून स्पर्श से जो व्यापार विशेष होते हैं, वे आभ्यन्तर प्रयत्न कहे जाते हैं।

---

1. यजयाचयतविच्छ प्रच्छरक्षो नङ्। –अष्टा० 3/3/90
2. प्रयत्नो द्विविधः आभ्यन्तरो बाह्यश्च। –आ०शि०सू० 5

आभ्यन्तर प्रयत्न कितने प्रकार का होता है, ऐसी जिज्ञासा जाग्रत होने पर प्रायः विद्वानों द्वारा मतैक्यता का अभाव देखा जाता हैं। कुछ विद्वानों के मत में तीन प्रकार का तो कुछ विद्वानों के अनुसार चार, पाँच अथवा आठ प्रकार का आभ्यन्तर प्रयत्न कहा गया हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट एवं अस्पृष्ट तीन प्रकार का आभ्यन्तर प्रयत्न कहा गया हैं। दुःस्पृष्ट पद से ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न समझना चाहिए। स्पर्श वर्णो का स्पृष्ट, अनुस्वार एवं ऊष्म वर्णों का अस्पृष्ट प्रयत्न कहा गया हैं । य र ल व इन वर्णो का दुःस्पृष्ट प्रयत्न होता है। इसी प्रकार ऊष्म, हकार और विसर्ग में भी अस्पृष्ट प्रयत्न समझना चाहिए।[1] ऋक् तन्त्र में भी तीन प्रकार का प्रयत्न कहा गया है, और वह स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट एवं विवृत त्रिविध है। स्पर्श संज्ञक वर्णो का स्पृष्ट, अन्तस्थ वर्णो का दुःस्पृष्ट, स्वर एवं ऊष्म वर्णो का विवृत प्रयत्न कहा गया हैं। किन्तु स्वरों में आकार, इकार, उकार वर्णो का विवृत प्रयत्न कहा गया हैं।[2] चतुरध्यायिका में आभ्यन्तर प्रयत्न के पाँच प्रकार बताये गये है। स्पर्शो का स्पृष्ट, अन्तःस्थों का ईषत्स्पृष्ट, स्वरों का विवृत, स्वरों में अकार का संवृत, एकार व उकार का विवृत और आकार का भी विवृत प्रयत्न बताया गया है।[3]

---

1. दुःस्पृष्टं तु प्राग्घकाराच्चतुर्णाम्। —ऋ०प्रा० 13/10

   स्वरानुस्वारोष्मणाम् स्पृष्टं स्थितम्।

   नैके कण्ठ्स्य स्थितमाहुरूष्मणः।। —ऋ०प्रा० 13/11

2. स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। दुःस्पृष्टमन्तर स्थानाम्।

   विवृतं स्वरोष्मणाम्। विवृततरमाकारै कारौ काराणाम्। —ऋ०तं०1/3

3. स्पृष्ट स्पर्शानां करणम्। ईषत्स्पृष्टम् अन्तःस्थनाम।

   ऊष्मणां विवृतं स्वराणां च। एतेस्पृष्टम्।

   ऐकारौ कारयो विवृतमम् ततोऽव्या कारस्य, संवृतोऽकारः। —च०अ० 1/29—35

प्रायः सभी शिक्षाओं में चार आभ्यन्तर प्रयत्न स्वीकार किये गये हैं। किन्तु कुछ शिक्षाओं में छः एवं आठ आभ्यन्तर प्रयत्न दृष्टिगोचर होते है। पाणिनीय शिक्षा में स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, अस्पृष्ट, अर्द्धस्पृश्ट, विवृत एवं संवृत ये छः प्रयत्न कहे गये हैं।[1] आपिशलि शिक्षा में भेद प्रभेद की दृष्टि से आठ आभ्यन्तर प्रयत्न बताये गये हैं। इनमें स्पर्शो का स्पृष्ट, अनतःस्थों का ईषत्स्पृष्ट, ऊष्मों का ईषद्विवृत, स्वरों का विवृत, स्वरों में एकार, उकार का विवृततर, ऐकार ऊकार का विवृततम्, आकार का अति विवृततम्, अकार का संवृत प्रयत्न कहा गया हैं।[2] शिक्षा का स्वकीय वैशिष्ट्य यह है कि इसमें आकार का अति विवृततम प्रयत्न है। यद्यपि याज्ञवल्क्य शिक्षा में चार प्रयत्न कहे गये हैं। वे प्रयत्न स्पृष्ट, अस्पृष्ट, संवृत एवं विवृत है। स्पर्शो का स्पृष्ट और अन्य वर्णो का अस्पृष्ट प्रयत्न बताया गया है। संवृत और विवृत प्रयत्न जो कहे गये हैं वे बाह्य प्रयत्न है। यहाँ कहा गया है कि अघोष का विवृत एवं घोष का संवृत प्रयत्न कहा गया है। वर्णों का घोष अघोष बोधक विचार तो बाह्य प्रयत्न में किया जाता है न कि आभ्यन्तर प्रयत्न में। इसीलिए अनुमान किया जाता है कि विवृत संवृत के द्वारा शिक्षाकार संवार विवार ही समझने की इच्छा करते है।[3] माण्डूकी शिक्षा में स्पृष्ट, अस्पृष्ट, विवृत एवं संवृत प्रयत्न

---

1. स्वराणाभूष्मणाश्चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
   तेभ्योऽपि विवृतावेऽनै ताभ्यामैचौ तथैव च ।। —पा०शि० 21
   अचोस्पृष्टा यणस्त्वीषंनेमिस्पृष्टा शरः स्मृताः।
   शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः।। —पा०शि०38
2. आभ्यन्तरस्तावत् स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः। ईषत्स्पृष्टकरणाः, अन्तःस्थ। ईषद्विवृत करणा ऊष्माणः। विवृत करणाः स्वराः। तेभ्यो ए ओ विवृत तरौ। ताभ्यामै औ। ताभ्यामप्याकारः। संवृतो अकारः। —आ०शि०3/4—13
3. चतुर्विधं करणं स्पृष्टमस्पृष्टं संवृतं, विवृतंचेति। स्पृष्टा स्पर्शाः। अस्पृष्टा अन्ये। संवृता घोषाः, विवृता अघोषाः। —या०शि० 209 (शि०सं०)

कहे गये हैं। किन्तु यहाँ याज्ञवल्क्य शिक्षा के सदृश प्रयत्न करण शब्द से जाना जाता है। माण्डूकी शिक्षानुसार स्पर्शो का स्पृष्ट, अन्तःस्थ का अस्पृष्ट यम का संवृत एवं स्वरों और ऊष्मों का विवृत प्रयत्न कहा गया हैं।[1]

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं में आभ्यन्तर प्रयत्न का बहुभेद देखकर परस्पर वैषम्यता देखी जाती है। यथा– ऋग्वेद प्रातिशाख्य और ऋक् तन्त्र में आभ्यन्तर प्रयत्न तीन प्रकार का, चतुरध्यायिका में आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का कहा गया है। पाणिनीय शिक्षा में आभ्यन्तर प्रयत्न के छः भेद आपिशलि शिक्षा में आभ्यन्तर प्रयत्न के आठ भेद, याज्ञवल्क्य शिक्षा में उपरोक्त प्रयत्न के दो भेद एवं माण्डूकी शिक्षा में चार भेद द्रष्टव्य हैं। फिर भी प्रयत्न की संख्या के विषय में न्यूनाधिक अवलोकन के उपरान्त परस्पर मत भेद नहीं करना चाहिए। क्योंकि वर्णो के उच्चारण में जिह्वादि का कैसे व्यापार होता है ? इस विषय पर प्राचीन विद्वानों का मत भेद प्राप्त नहीं होता है, उन्हीं के व्यापारों का किसी ग्रन्थ में तीन प्रकार का उल्लेख है तो किसी ग्रन्थ में चार, पाँच, छः एवं आठ प्रकार के आभ्यन्तर प्रयत्नों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रयत्नों का स्वशाखा के उच्चारणानुसार शिक्षाकारों ने वर्गीकरण किया हैं।

**बाह्य प्रयत्न का स्वरूप एवं भेद–**

बाह्य प्रयत्न का दूसरा नाम अनुप्रदान भी है। 'अनु' शब्द पश्चात् अर्थ में प्रयुक्त है। जब कोष्ठय (उदरस्थ) वायु कायाग्नि द्वारा प्रेरित होकर मूर्धा में टकराने के कारण पुनरावर्तित होने पर कण्ठ में आती है। तो कण्ठ की संवारादि पूर्वोक्त तीन अवस्थाएँ होती है। इनके द्वारा ही वर्णो को भी प्रदान किया जाता है।

---

1. वर्णानां तु प्रयोगेषु करणम्स्या चतुर्विधम्।
   संवृतं विवृतञ्च चैव स्पृष्टमस्पृष्टमेव च।। —मा०शि० 6/8
   स्पर्शनां करणं स्पृष्टमन्तस्थानामतोऽन्यथा।
   यमानां संवृतं प्राहु र्विवृतच स्वरोष्मणाम्।। —मा०शि० 6/9

अतः ये (श्वास, नाद और हकार) अनुप्रदान कहे जाते हैं। अनुप्रदान का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है– अनु= पश्चात् अर्थात् प्रथम विकार के पश्चात्। प्रदान= उच्चारणाङ्गों को प्रदान किया जाता है– अर्थात् वर्ण विशेष का रूप देने के लिये वायु को उच्चारणाङ्गों को सौंप दिया जाता है। अतः इस प्रक्रिया को अनुप्रदान कहा गया है। अनुप्रदान की व्याख्या में उव्वट ने प्रतिपादन किया है कि वर्णोत्पत्ति में उपकारक होने से इन्हें बाह्य कहा गया है। वस्तुतः ये आस्य के पूर्वभावी प्रयत्न है।[1]

उच्चारणकर्ता के प्रयत्न से गलविल विकसित होता है, तब विवार होता है एवं गलविल के संकुचित होने से संवार उत्पन्न होता है। गलविल की विकास अवस्था में श्वासमार्ग प्रशस्त होने से निरोध पूर्वक श्वास वेग से ऊपर जाती है। तब श्वास प्रयत्न होता है। गलविल के संकोच से जब वायु आहत पूर्वक निकलता है तब नाद होता है। गलविल के विवृत होने पर श्वास के इधर–उधर अनाहत होने पर नाद की उत्पत्ति के अभाव से अगाम्भीर्य होता है। यही अगाम्भीर्य अघोष है। और आहत होने से गलविल में संवृत जायमान नाद गम्भीर होता है। यही गम्भीर घोष होता है। अतः वर्णों के उच्चारण में गलविल का विवार होता है। विवार के फलस्वरूप नाद घोष होता है। जब ये वर्ण घोष वाले होते है। वे गम्भीर होते है, यही गम्भीर अघोष कहलाते है। जब वह श्वास अल्प मात्रा में निर्यात होता है, तब जो वर्ण उत्पन्न होते है, वे अल्प प्राण संज्ञक होते है और जब प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होते हैं, तब वर्णो का महा प्राण होता है। श्वास के प्राचुर्य होने से ध्वनि ऊष्म होती है तब जो वर्ण उत्पन्न होते है वह ऊष्म संज्ञक कहे जाते हैं।

वर्णो में सर्वप्रथम श्वास नाद होते है। तदनन्तर संवृत विवृत होते है। कण्ठादि स्थान से वर्ण उत्पन्न होते है। बाह्य प्रयत्न तो आस्य से बर्हिभूत अवयव है। और मुख ओष्ठ से काकल तक होता है।[2] आस्य से बाहर स्वर यन्त्र होते है एवं बाह्य प्रयत्न में

---

1. वायुनु प्रदीयते इत्यनुप्रदानम्। किंचतत्। श्वासनादोभयम्।
   केन प्रयत्नेन किमनुप्रदानमापद्यते। –ऋ०प्रा० (उ०भा०) 13/1
2. ओष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलात्। –म०भाष्य० 1/1/4

स्वर यन्त्र ही उच्चारण रूप से होते है। अतः नाभि तल से काकल पर्यन्त वर्ण के उच्चारण में जो प्रयत्न होता है वही बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। यद्यपि वर्णों के स्वरूप निष्पत्ति मुख में ही होती है।

बाह्य प्रयत्न वायु से ही विवार संवार श्वासनाद अघोष घोष अल्पप्राण महा प्राण उदात्त अनुदात्त स्वरित हस्व दीर्घ प्लुत अनुनासिक गुण वर्णो में भी आते हैं। उनमें सर्वप्रथम चौदह स्वर यन्त्र समीपस्थ प्रयत्न हैं। अन्त्य नासिका विवर समीपस्थ प्रयत्न हैं। अर्थात् नासिका विवरस्थ प्रयत्न से ही उत्पन्न होता है। मुख से ये सभी वर्ण बाहर होने के कारण बाह्य पद से जाने जाते हैं।

प्रायः बाह्य प्रयत्न की संख्या के विषय में प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में श्वास, नाद एवं श्वासनाद उभय ये तीन बाह्य प्रयत्न कहे गयें है।[1] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में तीन ही बाह्य प्रयत्न कहे गये है। वे श्वास, नाद तथा श्वासनाद उभय है। वहाँ घोषों का नाद और अन्य वर्णो का श्वास प्रयत्न है। हकार में और चारों वर्गो में श्वासनाद उभय प्रयत्न समझा गया है। अर्थात् जिन वर्णो की उत्पत्ति के पूर्व कण्ठविल की मध्यमा अवस्था होती है। अतएव चार वर्गों में हकार 'श' सुना जाता है। यहाँ ऊष्म विसर्जनीय एवं स्पर्श वर्गो के प्रथम एवं द्वितीय वर्ण अघोष होते है। अघोषों में श्वास प्रयत्न होता है शेष वर्ण घोष है।[2] ऋक् तंत्र के अनुसार श्वास,नाद श्वासनाद उभय ये तीन अनुप्रदान कहे गये हैं किन्तु किन वर्णों का कौन सा बाह्य प्रयत्न है? इस विषय पर किसी प्रकार का कोई उल्लेख प्राप्तव्य

---

1. आपद्यते श्वासतांमादतां वा वक्त्रीहायाम्। उभयं वान्तरोभौ,
   ता वर्णानाम प्रकृतयो वदन्ति श्वासोऽघोषाणामितरेषां तु
   नादः। सोष्मीष्मणां घोषिणां श्वासनादौ। —ऋ०प्रा० 13/1–4

2. विवृते श्वासः। नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु। हकारो
   हचतुर्थेषु। अघोषेषु श्वासः। भूयान्प्रथमेभयोऽन्येषु।
   ऊष्म विसर्जनीय प्रथम द्वितीया अघोष। न हकारः। —तै०प्रा० 2/5–10

नहीं है।[1] चतुरध्यायिका में बाह्य प्रयत्न दो प्रकार का बताया गया है। अघोष वर्णो का श्वास अनुप्रदान और घोष वर्णो का नाद अनुप्रदान कहा गया है।[2] किन वर्णो में घोष तथा अघोष समझना चाहिए? ऐसी उत्कंठा होने पर यह प्रातिशाख्य मौन धारण कर लेता है।

शिक्षाओं में बाह्य प्रयत्न के स्वरूप का निरूपण किया है। सभी शिक्षाओं में बाह्य प्रयत्न की संख्या के सम्बन्ध में एक मत का अभाव देखा जाता है। अर्थात् किसी शिक्षाग्रन्थ में बाह्य प्रयत्न के चार भेद तो कहीं छः भेद कहीं आठ भेद तो कहीं ग्यारह भेद दृष्टि गोचर होते है। पाणिनीय शिक्षा में बाह्य प्रयत्न के छः भेद कहे गये है। और वे विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष है। परन्तु यहाँ भी विवार संवार, विवृत संवृत पद से जाने जाते है। श्वास और नाद का तारतम्य से श्वास ईषच्छवास होता है नाद ईषन्नाद वाला होता है।[3] आपिशलि शिक्षा में विवार, संवार, श्वास,नाद, घोष, अघोष, अल्प प्राण, महाप्राण ये आठ बाह्य प्रयत्न शिक्षा में द्रष्टव्य हैं।[4]

---

1. संवृतो घोषवान्। विवृतोऽघोषेषुनादानुप्रदानाः
   स्वर घोषवन्तः श्वासोऽघोषाणाम्।
   वनीयान् प्रथमावुभौ हचतुर्थानांसन्निवेशोऽन्यः। — ऋ०तं० 1/3
2. श्वासोऽ घोषेष्वनु प्रदानः। नादो घोषवत्स्वरेषु। —च०अ० 1/12—13
3. घोषा वा संवृताः सर्वे अघोषा विवृताः स्मृता।। —पा०शि० 20
   यमोऽनुनासिका न हो नादिनो ह झ षः स्मृता।।
   ईषन्नादायणोजशचश्वासिनस्तु खफादयः।। —पा०शि० 39
   ईषछवासांश्चरो विद्याड़गोर्धमैतत्प्रचक्षते।। —पा०शि० 40
4. वर्गाणां प्रथम द्वितीयाः शषस विसर्जनीय जिह्वामूलीया यमौ
   च प्रथम द्वितीयो विवृतकाण्ठाः, श्वासानुप्रदानाः अघोषाः।
   वर्गयमानां प्रथमे अल्पप्राणाः इतरे सर्वे महाप्राणाः।
   वर्गाणां तृतीय चतुर्थाः अन्तस्थाः हकारानुस्वारो यमौ च
   तृतीय चतुर्थो संवृत कण्ठाः नादानुप्रदानाः, घोष वन्तः।
   वर्ग यमानां तृतीया अन्तस्थाश्चाल्पप्राणाः इतरे सर्वे महाप्राणाः। —आ०शि०

याज्ञवल्क्य शिक्षा में संवार, विवार, घोष, अघोष नामक चार बाह्य प्रयत्न कहे गये है। संवार विवार का संवृत विवृत के द्वारा ही यहाँ व्यवहार किया गया है। घोष का संवृत तथा अघोष का विवृत प्रयत्न बताया गया है।[1] सिद्धान्त कौमुदी में ग्यारह बाह्य प्रयत्न कहे गये है। वे विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्प प्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित है।[2] यद्यपि माण्डूकी शिक्षा में ये वर्ण प्राप्त होते है, जो प्रातिशाख्यों और शिक्षाओं में घोष अघोष नाम से जाने जाते है। किन्तु नामोल्लेख पूर्वक बाह्य प्रयत्न के विषय में एवं घोष अघोष संवार आदि के विषय में प्रतिपादन नही किया गया है। विचार विमर्श करने पर तद् विषयक चिन्तन का अभाव देखा जाता है। प्रातिशाख्यों का शिक्षाओं में अर्न्तभाव देखकर बाह्य प्रयत्न का माण्डूकी शिक्षा में स्वरूप विवेचन का अभाव प्रायः दृष्टिगोचर होता है।

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं में बाह्य प्रयत्न का विवार संवार आदि नाम से विचार किया गया है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में श्वास, नाद एवं श्वासनाद उभय ये ही तीन बाह्य प्रयत्न उपरोक्त दोनों प्रातिशाख्यों में स्वीकार किये गये है। किन्तु चतुरध्यायिका में श्वास, एवं नाद दो बाह्य प्रयत्न स्वीकृत है। पाणिनीय शिक्षा में बाह्य प्रयत्न के छः भेद कहे गये है। आपिशलि शिक्षा में आठ भेद स्वीकार किये हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य शिक्षा में बाह्य प्रयत्न के चार भेद शिक्षाकार द्वारा स्वीकृत है। सिद्धान्त कौमुदी में बाह्य प्रयत्न के ग्यारह भेद माने गये है। माण्डूकी शिक्षा में तद् विषयक प्रयत्न विवेचन का अभाव देखा जाता है अर्थात् बाह्य प्रयत्न का विवेचन प्रायः इस शिक्षा में प्राप्त नहीं होता है।

---

1. संवृताः घोषाः। विवृता अघोषाः। विंशति घोषास्ते
   गजडदवा, घझढधभाः, ङञणनमा, यरलवाश्चेति।
   त्रयोदशाघोषास्ते कचटतपाः, खछठथफाः
   शषसाश्चेति। —या०शि० (शि०सं०) 209
2. अष्टा०(सि०कौ०) 1/1/9

किन्तु प्रातिशाख्यों में कहे गये बाह्य प्रयत्न माण्डूकी शिक्षा में भी समझने चाहिए। प्रातिशाख्यों में स्वरों के बाह्य प्रयत्न स्पष्ट रूप से निर्देश किये गये है। शिक्षाओं में शिष्ट पद के द्वार व्यंजन और स्वर दोनों के प्रयत्न कहे गये है। प्रातिशाख्यों में स्वरों का नाद प्रयत्न एवं शिक्षाओं में घोष बाह्य प्रयत्न कहा गया है। किन्तु नाद घोष की स्वर निष्पत्ति से संवार की अपेक्षा होने से स्वरों का भी संवार नाद घोष वाह्य प्रयत्न है।

********

# पंचम अध्याय

## (स्थान करण प्रकरण)

प्राचीन ध्वनि–वैज्ञानिक ग्रन्थों में एवं शिक्षा ग्रन्थों में उच्चारणावयवों के सक्रिय अंगो को करण एवं अपेक्षाकृत निष्क्रिय अंगो को स्थान कहा गया है। अर्थात् ध्वनियों के उच्चारण में वक्ता की चेष्टाओं के अनुसार अपेक्षित व्यापार करके वायु के प्रवाह में बाधा उत्पन्न करता है। इसी बाधा के परिणामस्वरूप वायु विविध वर्णों के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार अन्दर से आती हुई वायु को जिस अंग विशेष पर रोककर वर्ण का रुप दिया जाता है उस अंग विशेष को उस वर्ण का 'स्थान' कहा गया है तथा जिस अंग के द्वारा वायु को उस अंग विशेष पर रोका जाता है वह अंग उस वर्ण का 'करण' कहलाता है। अतः स्थान निश्चल तथा करण चलायमान होता है।

**स्थान–**

गत्यवरोधार्थक √स्था धातु से अधिकरण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर 'स्थान' शब्द की निष्पत्ति होती है।[1] अर्थात् उच्चारण काल में जहाँ ताल्वादि में वायु की गति का अवरोध होता है वही स्थान पद से ज्ञेय है। ताल्वादि के द्वारा वायु निर्गमन मार्ग का व्यवधान ही वायु के अभिघात में कारण है। ताल्वादि स्थान वर्णोत्पादक वायु के ही स्थान है न कि वर्णों के। उनका वर्ण स्थान व्यवहार तो औपचारिक मात्र है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में स्थान ही अधिकरण पद से कहा गया है।[2] चतुर–ध्यायिका के भाष्य में स्थान के सम्बन्ध में कहा गया है, कि जिसका उपक्रमण किया जाता है वह स्थान पद से कहा गया है। जहाँ वर्ण उत्पन्न होते है वही उसका स्थान समझना चाहिए।[3] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में प्रतिपादित किया गया है कि जिह्वादि की

---

1. करणाधिकरणयोश्च। —अष्टा०
2. अधिकरणं वर्णानाम् स्थानशब्देनोच्यते। —ऋ०प्रा०(उ०भा०) 1/49
3. यदुपक्रम्यते तत् स्थानम्। —च०अ० 1/18

समीपता (सन्निकृष्टता) होती है उसे स्थान कहा जाता है। किन्तु यह समीपता स्वरों की उत्पत्ति में हेतु है और जहाँ व्यंजनों का स्पर्श होता है वह स्थान पद से ज्ञेय है।[1] उपरोक्त प्रातिशाख्य के भाष्य में माहिषेय ने कहा है कि जहाँ वर्ण बैठते हैं वह स्थान पद से ज्ञेय हैं।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के त्रिभाष्यरत्न में भाष्यकार के मतानुसार जो वर्ण जिस अंग के साथ सान्निध्य प्राप्त करता है वह अंग उस वर्ण का स्थान कहलाता है।[3]

स्वरों के उच्चारण में जिह्वादि का जहाँ उपसंहार होता है वही स्वरों का स्थान है। स्वरों से अन्य व्यंजन के उच्चारण में जिह्वादि से जहाँ स्पर्श होता है वह व्यंजनों का स्थान है। स्पष्ट है कि जो स्वरों का अस्पृष्टता है, वही व्यंजनों का स्पृष्टता है। स्वरोच्चारण में जिह्वादि और ताल्वादि का सन्निकृष्टता मात्र होता है न कि स्पर्श। व्यंजन के उच्चारण में स्पर्श ही विशेषरूप से अवधेय है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के वैदिकाभरण भाष्य में भी स्पष्ट किया है। परिमाण कृत भेद से केवल स्वरों में श्रुतिगत भिन्नता उत्पन्न होती है। व्यंजन वर्णों में इस प्रकार की भिन्नता नहीं होती है।[4] स्वर एवं व्यंजन के स्थान विषयक विवेचन अधोलिखित शिक्षाओं के अर्न्तगत किया गया है।

## शिक्षाओं के अनुसार स्थान का वर्गीकरण–

माण्डूकी शिक्षा में वर्णों के आठ स्थान कहे गये है। वे हैं – उरस्, कण्ठ, शिर (मूर्धा), जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ, तालु। यहाँ पाणिनीय शिक्षा भी अपवाद नही है।[5]

---

1. स्वराणाम् यत्रोपसंहारस्तत्स्थानम्। उपसंहारश्च समीपनयनम्।
   अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत्स्थानम्। –तै०प्रा० 2/31–33
2. अस्मिन् तिष्ठतीति तत्स्थानम्। –तै०प्रा० 23/4
3. यस्मिन् तिष्ठति तत् स्थानम्। –तै०प्रा०(त्रि०र०) 23/4
4. परिमाणस्य पृथग्वचनं स्वराख्यवर्णमात्रविषयत्वख्यापनार्थ तेन व्यंजनानां ङकारानुस्वारादीनां कालभेदे वर्णान्यत्वं न भवति। –तै०प्रा० 23/2 पर (वै०भ०)
5. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
   जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।। –पा०शि० 13

माण्डूकी शिक्षा के अनुसार प्रथम स्थान 'उरस्' को कहा गया है। यद्यपि यहाँ किन वर्णो के ये स्थान हैं। इस विषय पर कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। तथापि अन्य शिक्षाओं की सहायता से कहा जाता है। कि अन्तस्थ (य र ल व) तथा पंचमान्त अर्थात् (वर्गो के पंचम वर्ण ङ ञ ण न म) से संयुक्त हकार का उच्चारण स्थान हृदय कहा गया है।[1] याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी हकार के स्थान विषयक सिद्धान्त स्वीकृत है।[2]

माण्डूकी शिक्षा में द्वितीय स्थान 'कण्ठ' का कहा गया है। 'कण' शब्द में उणादिष्ठ प्रत्यय करने पर कर्तरिकरण से कण्ठ शब्द निष्पन्न होता है।[3] याज्ञवल्क्य शिक्षा में अकार, हकार और विसर्जनीय का कण्ठ स्थान कहा गया है।[4] आपिशलि शिक्षा में क वर्ग का भी कण्ठ स्थान कहा गया है।[5] पाणिनीय शिक्षा के अनुसार अकार एवं हकार का कण्ठ स्थान और क वर्ग का जिह्वामूल कहा गया है।[6] सिद्धान्त कौमुदी में क वर्ग का कण्ठ स्थान स्वीकार किया गया है।[7] चान्द्रवर्णसूत्र शिक्षा में भी आपिशलि शिक्षा के समान स्थान विषयक विचारों में सादृश्यता है।[8]

---

1. हकारं पंचमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुक्तम्।
   औरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुर संयुक्तम्।। —पा०शि० 16
2. त्रयः कण्ठ्याः अवर्णहकार विर्सजनीय इति। —या०शि० 212
3. कणेष्ठः। —उ०सू० 108
4. त्रयः कण्ठ्याः अवर्ण हकार विसर्जनीया इति। —या०शि० 212
5. अकुहविसर्जनीयाः कण्ठयाः। —आ०शि०सू० 1/2
6. जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो। —पा०शि० 18
7. अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। —सि०कौ०
8. कण्ठोऽकुहविसर्जनीयानाम्। —चा०व०सू०शि०

क वर्ग की जिह्वामूलीयता अथवा अन्य शिक्षाओं में जिह्वामूलीयता देखी जाती है। क्योंकि जिह्वामूल से ऊपर स्थित देश कण्ठ शब्द से कहा गया है। अतः जहाँ स्थान, करण पृथक–पृथक कहे गये है वहाँ क वर्ग का कण्ठ स्थान अभिहित देखा जाता है किन्तु जहाँ वर्णो के करण का पृथक उल्लेख नहीं है वहाँ क वर्ग का जिह्वामूलीय स्थान कहा गया है। क्योंकि जिह्वामूल से उस वर्ण का स्थान बोध पूर्वक करण का भी ज्ञान होता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कह सकते है कि माण्डूकी शिक्षा में भी अकार और हकार का कण्ठ स्थान कहा गया है।

माण्डूकी शिक्षा में तृतीय स्थान 'शिर' को कहा गया है। यहाँ 'शिर' शब्द मूर्धा स्थान में प्रयुक्त है। 'मुर्धा' शब्द की निष्पत्ति वैचित्रय अर्थ वाली √मुह् धातु से अधिकरण में निपातन से 'ह' के स्थान में 'ध' कर देने पर एवं उकार के दीर्घ हो जाने पर 'मूर्धा' शब्द बनता है।[1] ऋ,टवर्ग ,र,ष वर्णों का मूर्धा स्थान माना गया है। आपिशलि शिक्षा सूत्र[2] पाणिनीय शिक्षा[3] में ऋकार, टवर्ग, रकार एवं षकार का मूर्धा स्थान बताया गया है। किन्तु याज्ञवल्क्य शिक्षा में ऋकार का मूर्धा स्थान अङ्गीकृत नही किया गया है। ऋकार का जिह्वामूलीय स्थान स्वीकृत किया है।[4] प्रातिशाख्य ग्रन्थों में भी प्रायः याज्ञवल्क्य शिक्षा के समान ऋकार का जिह्वामूलीय स्थान विषयक सिद्धान्त ही दृष्टिगोचर होता है। अतएव वाजसनेयि प्रातिशाख्य में स्पष्ट रूप से कवर्ग और ऋकार का स्थान जिह्वामूल ही माना गया है।[5]

---

1. श्वन्नक्षन् ——————————। —उ०सू० 157
2. ऋटुरषा मूर्धन्याः। —आ०शि०सू० 1/8
3. स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा। —पा०शि० 17
4. —————— सप्त जिह्वामूलीयाः ऋ कौ क वर्ग इति। —या०शि० 212
5. ऋ कौ जिह्वामूले। —वा०प्रा० 2/44

माण्डूकी शिक्षा में स्थान परिगणन में चतुर्थ स्थान 'जिह्वामूल' का कहा गया है। कवर्ग, ऋवर्ग, लृवर्ग और क इन सभी वर्णों का स्थान जिह्वामूल है। पाणिनीय शिक्षा में क वर्ग का जिह्वामूल स्थान कहा गया है।[1] याज्ञवल्क्य शिक्षा का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि ऋ वर्ण का जिह्वामूल बताया गया है।[2] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में भी ऋ का जिह्वामूल स्थान कहा गया है।[3]

पंचम् स्थान माण्डूकी शिक्षा में 'दन्त' का कहा गया है। त वर्ग, ल एवं स का उच्चारण स्थान दन्त हैं। दन्त पद से उसका आधार देश समझना चाहिए। याज्ञवल्क्य शिक्षा में लृ, तवर्ग, ल एवं स वर्णों का स्थान दन्त स्वीकृत है।[4] आपिशलि शिक्षा सूत्र[5] एवं पाणिनीय शिक्षा [6] में लृकार, तवर्ग, लकार और सकार का उच्चारण स्थान दन्त माना गया है।

स्थान परिगणन में षष्ठम् स्थान 'नासिका' का माण्डूकी शिक्षा में स्वीकृत है। ङ, ञ, ण, न, म इन पाँच वर्णों का नासिका स्थान माना गया है। किन्तु इन वर्णों का अपने वर्ग (स्ववर्ग) का भी स्थान होता है। यथा– ङकार का जिह्वामूल एवं नासिका उभय स्थान है। आपिशलि शिक्षा में ङ, ञ, ण, न, म का उच्चारण स्थान नासिका कहा गया है।[7] किन्तु पाणिनीय शिक्षा में अनुस्वार और यमों का नासिका स्थान कहा गया है।[8]

---

1. जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो ————————। —पा०शि० 18
2. सप्त जिह्वामूलीयः ऋ कौ क वर्ग इति। —या०शि० 212
3. ऋ कौ जिह्वामूले। —वा०पा० 2/44
4. अष्टौ दन्त्याः लृवर्णलकारसकारतवर्गा इति। —या०शि० 212
5. लृतुलसादन्त्याः। —आ०शि०सू० 1/10
6. ————————————दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः। —पा०शि० 17
7. नमङणाञाः स्वस्थाना नासिकास्थानांच। —आ०शि०सू०
8. अनुस्वारयमाणां च नासिकास्थानमुच्यते। —पा०शि० 22

माण्डूकी शिक्षा में सप्तम् स्थान 'ओष्ठय' का कहा गया है। उ, पवर्ग, उपध्मानीय और व का ओष्ठ्य स्थान समझना चाहिए। यहाँ उकार अठारह प्रकार का ग्राह्य है। वर्ण गणना लोक में उकार इस प्रकार कहने से सकल उकारों का बोध हो जाता है। प वर्ग से प फ ब भ म ये पाँचो वर्ण ज्ञेय है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में उ ऊ ऊ–3 ये तीन वर्ण, प वर्ग, उपध्मानीय और वकार का ओष्ठ्य स्थान कहा गया है।[1] किन्तु आपिशलि शिक्षा सूत्र में वकार का स्थान दन्त–ओष्ठ्य[2] एवं उ, उपध्मानीय का ओष्ठ्य स्थान कहा गया है।[3] पाणिनीय शिक्षा में उकार तथा पवर्ग का ओष्ठ्य स्थान माना गया है।[4] परन्तु क वर्ग, जिह्वामूल तथा वकार का दन्त और ओष्ठ्य[5] एवं ओकार, औकार का कण्ठ और ओष्ठ्य स्थान होता है।[6]

माण्डूकी शिक्षा में अन्तिम स्थान तालु को कहा गया है। अपादानार्थ में √तृ धातु में 'उण्' प्रत्यय करने पर र के स्थान पर 'ला' देश कर देने से तालु शब्द बनता है।[7] इकार, च छ ज झ ञ और य श का उच्चारण स्थान तालु (तालव्य) है। पाणिनीय शिक्षा में इकार, च वर्ग, य एवं शकार का उच्चारण स्थान तालु ही माना गया है।[8] आपिशलि शिक्षा भी अक्षरणः पाणिनीय शिक्षा का अनूवर्तन करती हुई प्रतीत होती है।[9]

---

1. नव ओष्ठ्याः उ ऊ ऊ–3 इत्युवर्णः पवर्गवकारोपध्मानीया। –या०शि० 212
2. वकारो दन्तयोष्ठ्याः। –आ०शि०सू०
3. उयूपध्मानीय ओष्ठ्याः। –आ०शि०सू०
4. ओष्ठ्जावुपू। –पा०शि० 17
5. जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यौ वः स्मृतौ बुधैः। –पा०शि० 18
6. ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ। –पा०शि० 18
7. त्रोरश्च लः। –उ०सू० 5
8. —————— इचुयशास्तालव्या। –पा०शि० 17
9. इचुयशास्तालव्याः। –आ०शि०सू०

किन्तु याज्ञवल्क्य शिक्षा में इ ई ई–3 ये तीन वर्ण च, छ , ज, झ, ञ, य , श तथा एकार का उच्चारण स्थान तालु ही स्वीकार किया गया है।[1]

यद्यपि प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं में स्थान स्वरूप का अति रमणीयता से वर्णन किया गया है किन्तु स्थानों की संख्या के विषय में पर्याप्त वैषम्य दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्यों में कण्ठ, जिह्वामूल, तालु, मूर्धा, दन्तमूल, ओष्ठ, नासिका, वर्स्व इत्यादि नौ स्थान कहे गये है।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में जिह्वाग्र, ओष्ठ, दन्तमूल, दन्त, कण्ठ, नासिका, तालु, हनु, मुखनासिका, हनुमूल, मूर्धा इत्यादि ग्यारह स्थान वर्णित है।[3]

---

1. नव तालव्याः इ ई ई–3 इति वर्णः च छ ज झ
न य शा एकारश्चेति। —या०शि० 212

2. कण्ठयोऽकारः। प्रथम पंचमौ च द्वौ ऊष्मणाम्।
केचिदेता उरस्यौ। ऋकारल्कारौ अथ षष्ठ ऊष्मा
जिह्वामूलीयाः प्रथमश्चवर्गः। तालव्यावेकार चकार–
वर्गा विकारैकारौ यकारः शकारः। मूर्धन्यौ षकार
टकार वर्गौ। दन्तमूलीयस्तु तकार वर्गः। सकाररेफ–
लकाराश्च। रेफोवस्व्यमेके। शेष ओष्ठ्योऽप–
वाद्यनासिक्यान्। —ऋ०प्रा० 1/38–47

3. ओष्ठौ तूपसंहत्ततरौ। ईषत्प्रकृष्टावेकारे। उपसंहत्ततरे हनु।
जिह्वामध्यान्ताम्यां चोत्त–रांजम्भ्यान्त्स्पर्शयति। उपसहव्ततरे
च जिह्वाग्रमृकारर्कारल्कारेषु वर्स्वेषूपसंहरति। —तै०प्रा० 2/14–18
हनुमूले जिह्वामूलेन क वर्गे स्पर्श यति। तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे। जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे। जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु। ओष्ठाभ्यां पवर्गे। तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे। रेफे जिह्वाग्र मध्येन प्रत्यग्दन्तमूलेभ्यः दन्तमूलेषु च लकारे। ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारो। स्पर्श स्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण।
—तै०प्रा० 2/35–44

याज्ञवल्क्य शिक्षा में दस स्थान कहे गये है– उर, शिर, कण्ठ, मूर्धा, दन्तोष्ठ, तालु, दन्तमूल, जिह्वामूल, यम तथा अनुस्वार इत्यादि।[1] आपिशलि शिक्षा में कण्ठ्य, जिह्वामूलीय, तालु, मूर्धा, दन्त, दन्तोष्ठ, ओष्ठ्य, नासिका, कण्ठ–तालु, कण्ठ–ओष्ठ दस स्थान कहे गये है।[2] किन्तु आठ स्थानों में ही अन्य स्थानों का समन्वय करना चाहिए। उन्हीं में ये सभी वर्ण कहे गये है। यम, अनुस्वार और संध्यक्षरो का क्या स्थान है? ऐसी उत्कंठा जाग्रत होने पर कहा जाता है कि याज्ञवल्क्य शिक्षा में यम, अनुस्वार का स्थान परिगणन किया गया है। फिर भी उनका स्थान अन्य शिक्षाओं में नासिका कहा गया है। अयोगवाह आश्रय स्थान भागी होते है इसीलिए अयोगवाहों में परिगणन होने से इनका स्थान तदाश्रय भूत ज्ञेय है।[3]

---

1. तत्र द्वावौरस्यौ ह्व ह्यं इति। त्रयः कण्ठ्या अवर्गहकार
   विसर्गनीया इति। षण्मूर्धन्याः षकारो टवर्गश्चेति।
   नव तालव्या इ वर्ण च वर्ग शकारैकारयकाराः।
   अष्टौ दन्त्या लृवर्णलकार सकारतवर्गा इति। अष्टावोष्ठ्या
   उ वर्ण वकारोपध्मानीय पवर्गा इति। एकोदन्तमूलीयो
   रेफः। सप्त जिह्वामूलीयाः ऋ कौ क वर्ग इति। –या०शि० 212
2. अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्या। जिह्वामूलीयो जिह्वयः।
   इचुयशास्तालव्याः। ऋटुरषा मूर्धन्याः। लृतुलसा
   दन्त्याः। वकारो दन्त्योष्ठ्यः। उयूपध्मानीया ओष्ठयाः।
   अनुस्वार यमा नासिक्याः। एदैतो कण्ठतालव्यौ।
   ओदौतो कण्ठ्योष्ठ्यो। नमङणानाः स्वस्थाना
   नासिकास्थानांच। –आ०शि०सू०
3. अनुस्वार यमानांच नासिकास्थानमुच्यते।
   अयोगवाहाः विज्ञेयाः आश्रय स्थान भागिनः।। –पा०शि०22

सन्ध्यक्षर का स्थान विषयक विवेचन प्रायः सभी शिक्षाओं में अभाव रूप से देखा जाता है, कारण यह प्रतीत होता है कि द्विस्वर के संयोग से उत्पन्न होने के कारण ही इनका स्थान नहीं कहा गया। इन दोनों स्वरों के स्थान में सन्ध्यक्षर होते है उन्हीं दोनों के स्थान को माना गया है। आपिशलि शिक्षा सूत्र में स्पष्ट रुप से कथन है कि एकार और ऐकार का कण्ठ–तालु स्थान एवं ओकार व औकार का कण्ठ–ओष्ठ स्थान माना गया है।[1] यही सन्ध्यक्षर द्विवर्ण वाले होते है इसीलिए उनके स्थान द्वय का कथन उचित है। पाणिनीय शिक्षा सूत्र अक्षरशः आपिशलि का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। यहाँ कहा गया है कि एकार, ऐकार का कण्ठ–तालु स्थान है एवं ओकार, औकार का कण्ठ–ओष्ठ स्थान स्वीकृत है।[2] चतुरध्यायिका में यह स्वीकार किया गया है कि संस्पृष्ट वर्ण सन्ध्यक्षर होते है। उनका उच्चारण समानाक्षर स्वर के समान एक वर्ण की तरह होता है। किन्तु स्थान विधान में एकार ओकार का एक वर्ण की तरह व्यवहार नहीं होता है।[3]

मतों की भिन्नता होने पर भी आठ ही स्थान है। शाखा भेद के द्वारा वर्ण का उच्चारण ध्वनित होता है इस हेतु से वेद मन्त्रों के उच्चारण का प्रकार देश भेद से विशेष सुना जाता है। उच्चारण के विषय में सूक्ष्मतर स्थानादि ही विशेष कारण है। भाषा विशिष्ट एवं शाखा विशिष्ट का ही अनुबोध करके उच्चारण विधि और ध्वनि विशेष वर्णों के उन आचार्यो के द्वारा नाना प्रकार से प्रतिपादित किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि आठ ही स्थान है। इन आठ स्थानों में ही अन्य स्थानों का समन्वय करना चाहिए।

---

1. एवेतो कण्ठ तालव्यो, ओदातो कण्ठोष्ठ्यो। –आ०शि०सू० 1/17–18
2. ए ऐ कण्ठ तालव्यो, ओ औ कण्ठोष्ठ्यो। –पा०शि०सू० 1/19
3. सन्ध्यक्षराणि संस्पृष्टवर्णानि एकवर्णवद्‌वत्तिः।
   नकारोकारयोः स्थानविधौ। –च०अ० 1/40–41

करण–

ध्वनियों के उच्चारण में तथा वक्ता की चेष्टा के अनुसार अपेक्षित व्यापार करके वायु के प्रवाह में बाधा उत्पन्न करता है। इसी बाधा के परिणाम स्वरूप वायु विविध वर्णो के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार अन्दर से आती हुई वायु को जिस अंग विशेष पर रोक कर वर्ण का रूप दिया जाता है वह अंग विशेष उस वर्ण का 'करण' कहलाता है। करण शब्द की निष्पत्ति √डुकृञ धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर होती है। चतुरध्यायिका में उच्चारणावयवार्थक करण के बोध विषयक कथन है कि जिसके द्वारा उपक्रमण किया जाता है अर्थात् जिसके द्वारा वर्ण उच्चारित होता है वह करण कहलाता है।[1]

**करण का वर्गीकरण–**

'करण' शब्द का प्रयोग प्रातिशाख्यों में दो अर्थो में किया गया है। कतिपय प्रातिशाख्यों में 'आभ्यन्तर प्रयत्न' के रूप में तो कतिपय प्रातिशाख्यों में वर्णोच्चारण में प्रयुक्त होने वाले सक्रिय उच्चारणावयवों के रूप में किया गया है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में आभ्यन्तर प्रयत्न के अर्थ में करण शब्द निर्दिष्ट है क्योकि स्पृष्ट, अस्पृष्ट एवं दुःस्पृष्ट का बोध यहाँ करण शब्द से कराया गया है।[2] ऋक् तन्त्र में भी करण का अर्थ आभ्यन्तर प्रयत्न के रूप में स्वीकृत है।[3] किन्तु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[4] एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य[5] में सक्रिय उच्चरणावयव के अर्थ में करण शब्द प्रयुक्त है।

---

1. येनोपक्रम्यते तत् करणम्। –च०अ० 1/18
2. तद्विशेषः करणम्। –ऋ०प्रा० 13/8
3. स्पष्टं करणं स्पर्शानाम्। दुःपृष्टमन्त स्थानाम्। –ऋ०तं० 1/3
4. यदुपसंहरति तत्करणम्। येन स्पर्शयति तत्करणम्। –तै०प्रा० 2/32,34
5. दन्त्या जिह्वाग्रकरणाः। रश्च। मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम्। तालुस्थानामध्येन। समान स्थान करणा नासिक्यौष्ठ्याः। वोदन्तार्ग्रैः। नासिका मूलेन यमाः जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन। कण्ठ्या मध्येन। –वा०प्रा० 1/76–84

महाभाष्य में भी करण शब्द का प्रयोग आभ्यन्तर प्रयत्न के रूप में किया गया है।[1] याज्ञवल्क्य शिक्षा, पाणिनी शिक्षा एवं माण्डूकी शिक्षा में भी करण पद आभ्यन्तर प्रयत्न के अर्थ में प्रयुक्त है।

शब्दोच्चारण में जिह्वा का किसी अंग से आस्यगत स्पर्श या उपक्रम होता है। ये स्पर्शकृत अथवा उपक्रमकृत उच्चारणाङ्गो का वर्गीकरण प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं में वर्णित है। चतुरध्यायिका में करण शब्द उच्चारणावयव के अर्थ में प्रधान रूप से प्रयुक्त है। यहाँ नौ संख्यक करण प्रतिपादित है। कण्ठ वर्णों का अधर कण्ठ, जिह्वामूलीय वर्णों का हनुमूल, तालव्य वर्णों का मध्य जिह्वा, मूर्धन्य वर्णों का प्रतिवेष्टित जिह्वा का अग्र भाग, षकार का द्रोणिका, दन्त्य वर्णों का प्रस्तीर्ण जिह्वा का अग्र भाग, ओष्ठ वर्णों का अधोष्ठ, नासिका वर्णों का नासिका, अनुनासिक वर्णों का मुख नासिका एवं रेफ का दन्त मूल इत्यादि करण कहे गये है।[2] अर्थात् इन वर्णों के अधर कण्ठ, हनुमूल, जिह्वा, ओष्ठ, नासिका एवं दन्तमूल करण है। चतुरध्यायिका में आभ्यन्तर प्रयत्न के अर्थ में भी 'करण' शब्द का उल्लेख देखा जाता है।[3]

प्रायः शिक्षाओं में करण पद से आभ्यन्तर प्रयत्न ही जाना जाता है। कतिपय शिक्षाओं में उच्चारणावयव के अर्थ में भी बोध होता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा[4],

---

1. स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। —पा०सू० 1/1/10 (महाभाष्य)
2. कण्ठ्यानामधरकण्ठः। जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्। तालव्यानां मध्य जिह्वम्। मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम्। षकारस्य द्रोणिका। दन्त्यानांजिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम्। ओष्ठयानाम धरोष्ठम्।नासिक्यानां नासिका। अनुनासिकानां मुखनासिकम्। रेफस्य दन्तमूलानि। —च०अ० 1/19–28
3. स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्। —च०अ० 1/29
4. चतुर्विधं करणं। स्पृष्टम स्पृष्टं संवृतं विवृतं चेति। अस्पृष्टा अन्ये संवृता घोषाः विवृता अघोषाः। —या०शि० 209

पाणिनीय शिक्षा[1] एवं माण्डूकी शिक्षा[2] में आभ्यन्तर प्रयत्न के अर्थ में ही प्रयुक्त है। आपिशलि में करण का व्यवहार उच्चारणावयव के अर्थ में किया गया है। क वर्गादि का जिह्वामूल करण, तालव्य वर्णों का जिह्वामध्य करण, मूर्धन्य का जिह्वोपाग्र, दन्त्य वर्णों का जिह्वाग्र एवं अतिरिक्त वर्णों का करण उनका स्वस्थान ही समझना चाहिए।[3]

वक्ता की चेष्टा के अनुसार विविध वर्णों की सृष्टि के लिए मुख्य–विवर में प्रवेश करती है। तत्पश्चात् मुख्य विवर में पहुँची वायु को वर्ण स्वरूप प्रदान करने के लिए दो उच्चारणागों द्वारा विकृत किया जाता है। इस प्रक्रिया में एक अंग अचल एवं निष्क्रिय तथा दूसरा अंग चल एवं सक्रिय होकर कार्य करता है, जो अंग चल एवं अपेक्षाकृत सक्रिय रहता है उसे 'करण' संज्ञा प्रदान की गई है।

********

---

1. स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
   तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामेचौ तथैव च ।।– —पा०शि० 21
   अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषंनेमिस्पृष्टाः शरः स्मृताः।
   शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः।। —पा०शि० 38
2. वर्णानां तु प्रयोगेषु करणं स्याच्चतुर्विधम्।
   संवृतं विवृतं चैव, स्पृष्टम स्पृमेव च ।। —मा०शि० 6/8
   स्पर्शानां करणं स्पृष्टमन्तस्थानामतोऽन्यथा।
   यमानां संवृतं प्राहुर्विवृतंच स्वरोष्मणाम्।। —मा०शि० 6/9
3. करणमपि जिह्वायतालव्य मूर्धन्य दन्त्यानां
   जिह्वाकरणम्। जिह्वामूलेन जिह्वायानाम।
   जिह्वामध्येन तालव्यानाम्। जिह्वोपाग्रेण
   मूर्धन्यानाम्। जिह्वाग्राधः करणं वा जिह्वाग्रेण
   दन्त्यानाम्। शेषाः स्वस्थानकरणाः। —आ०शि० 2/1–8

# षष्ठ अध्याय

## (वर्णोच्चारण काल)

वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल को वर्णकाल कहा जाता है। अर्थात् वर्णों का काल ही वर्ण काल है। वर्ण उच्चारण कर्ता यथेच्छ वर्णों के उच्चारण में ह्रस्वता अथवा दीर्घता कर सकता है। इसीलिए ये ही इनका उच्चारण काल कहा जा सकता है। क्योंकि भारतीय वाड्.मय में शास्त्रीय सिद्धान्त ही स्वीकार करने योग्य है। चतुरध्यायिका का कथन है कि शास्त्र के अनुसार ही कार्य करना चाहिए।[1] प्रायः प्रातिशाख्य एवं शिक्षा ग्रन्थों में मात्रा काल अथवा वर्णकाल के विषय में निरूपण किया गया है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कहा गया है कि चाष पक्षी के बोलने में जितना समय लगता है, वह एक मात्रिक होता है। इसी प्रकार वायस पक्षी के बोलने में जो समय लगता है, वह द्विमात्रिक होता है। एवं मयूर के बोलने में जो समय लगता है वह त्रिमात्रिक होता है।[2] इसी प्रकार का उल्लेख याज्ञवल्क्य शिक्षा[3], पाणिनीय शिक्षा[4] एवं माण्डूकी शिक्षा[5] में प्राप्त होता है। व्यास शिक्षा में अड्.गुली का स्फोटन एक मात्रिक

---

1. यथा शास्त्रम् प्रसन्धानम्। —च०अ० 4/122
2. चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत्।
   शिखी त्रिमात्रों विज्ञेयः एष मात्रा परिग्रहः।। —ऋ०प्रा० 13/50
3. चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत्।। —या०शि० 15
   मयूरस्तु त्रिमात्रां वै मात्राणामिति संस्थितिः। —या०शि० 16
4. चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रंत्वेव वायसः।
   शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम्।। —पा०शि० 49
5. चाषस्तु वदते मात्रं द्विमात्रं वायसोऽब्रवीत्।
   शिखी त्रिमात्रं विज्ञेय एष मात्रा परिग्रहः।। —मा०शि० 13/3

कहा गया है।[1] नारदीय शिक्षा के अनुसार नेत्रों में निमेष पतन का जो काल उपलक्षित है, वही मात्रा काल कहा गया है। अर्थात् उच्चार्यमाण वर्ण एक मात्रिक होता है। मेघों में विद्युत के चमकने में जो काल लक्षित है वह एक मात्रिक कहा गया है।[2] माण्डूकी शिक्षा[3] भी नारदीय शिक्षा का अनुसरण करती है। माण्डूकी शिक्षा एवं याज्ञवल्क्य शिक्षा ये दोनों शिक्षायें नारदीय शिक्षा का समर्थन करती है।[4]

वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल परिमाण को एक मात्रा कहा गया है। परन्तु यह परिमाण मध्यम वृत्ति में किये जाने वाले उच्चारण में लगे काल का परिमाण है। वर्णों के उच्चारण में दो गुने समय को द्विमात्रिक एवं उच्चारण में तीन गुने समय को त्रिमात्रिक कहा गया है।

स्वर,व्यञजन के भेद से वर्ण दो प्रकार के होते हैं। ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत स्वर के त्रिविध रूप हैं। चतुरध्यायिका में स्वरों के काल विचार के अवसर पर कहा गया है कि एकमात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ एवं त्रिमात्रिक प्लुत संज्ञक होता है।[5] माण्डूकी शिक्षा के अनुसार एकमात्रिक ह्रस्व, दिमात्रिक दीर्घ और त्रिमात्रिक प्लुत होता है।[6]

---

1. अङ्.गुली स्फोटनं यावान् तावान् कालस्तु मात्रिकः। —व्या०शि० 27/3
2. निमेषकाला मात्रा स्याद्विद्युत्कालेति चापरे।
   ऋक्स्वरा तुल्ययोगा वा मतिः स्यात् सोमशर्मणाः। —ना०शि० 2/3/8
3. अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण यो वर्णः समुदीयते।
   स एक मात्रो द्विस्तावान्दीर्घस्तु प्लुत उच्यते।। —मा०शि० 13/1
4. निमेषो मात्राकालः स्याद्विद्युत्कालेति चापरे।। —ना०शि० 2/3/8
5. एक मात्रो ह्रस्वः। द्विमात्रो दीर्घः । त्रिमात्र प्लुतः। —च०अ० 1/59–62
6. स एकमात्रो द्विस्तावान् दीर्घस्तु प्लुत उच्यते ।। —मा०शि० 13/1

याज्ञवल्क्य शिक्षा उपरोक्त शिक्षा (माण्डूकी शिक्षा) का समर्थन करती है।[1] वर्णरत्न प्रदीप शिक्षा में भी इसी प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है।[2]

निष्कर्षतः कह सकते है कि स्वरों के उच्चारण में एक मात्रा काल ह्रस्व, द्विमात्रा काल दीर्घ एवं त्रिमात्राकाल वाला प्लुत संज्ञक ज्ञेय है।

मात्रा का मानक तत्व–

प्रातिशाख्य ग्रन्थों एवं शिक्षाओं में वर्णों के उच्चारण काल को अणु मात्रिक कहा गया है। मात्रा की सूक्ष्मतम् इकाई अणु कही गई है। ऋक् तंत्र में कहा गया है कि अकार की अर्द्ध मात्रा अणु संज्ञक है।[3] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में अर्द्धमात्रा काल को व्यञ्जन की मात्रा के अर्द्धभाग को अणु कहा गया है।[4] चतुरध्यायिका के अनुसार अणु की एक चौथाई मात्रा स्वीकृत है।[5]

शिक्षाओं में मात्रा के सूक्ष्मतम् काल का उल्लेख प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा[6] एवं लोमशी शिक्षा[7] में कहा गया है।

---

1. एक मात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते
   त्रिमात्रस्तु प्लुतोज्ञेयो------। —या0शि0 13
2. एक मात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
   त्रिमात्रस्तु प्लुतोज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्।। —वर्ण०र०प्र०शि० 22
3. तदर्द्धमणु । —ऋ०तं० 41
4. व्यंजनमर्धमात्रम्। तदर्धमणु । —वा०प्रा० 1/59,60
5. अभिनिहित प्रश्लिष्ट ----------अणुमात्रा–
   विकम्पितं तत्कवयो वदन्ति। —च०अ० 3/65
6. सूर्यरश्मि प्रतीकाशात्कणिका यत्र दृश्यते।
   आणवस्यतु सा मात्रा मात्रा तु चतुराणवा ।। —या०शि० 9 (शि० सं०)
7. सूर्यरश्मि प्रतीकाशा कणिका यत्र दृश्यते।
   अणोस्तु तत्प्रमाणम् स्यान्मात्रा तु चतुराणवत्।। —लो०शि० 7/7

कि सूर्य के रश्मि प्रकाश में जो सूक्ष्म रज कण दिखाई देता है, वह अणु मात्रा परिमाण वाला है। माण्डूकी शिक्षा में उक्त विषय का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

वर्णोच्चारण में ध्वनि के चार भाग मान करके प्रत्येक भाग को अणु संज्ञक कहा गया है। अणु के पश्चात अत्यधिक सूक्ष्म मानक परमाणु कहलाता है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में अणु की अर्द्धमात्रा परमाणु संज्ञक है।[1] यही मात्रा की सूक्ष्मतम् इकाई है। उच्चारण में लगने वाले परिमाण को मापने का कल्पित मान मात्रा है। एवं मात्रा की सूक्ष्मतम् इकाई अणु अथवा परमाणु ही है।

शिक्षा–ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्यों के अनुशीलन से मात्रा सम्बन्धी निम्नलिखित चार तथ्य स्पष्ट होते हैं।

## स्वर–वर्णों का उच्चारण काल

स्वरों के उच्चारण काल के आधार पर तीन भागों में विभक्त किया गया है। जिन स्वरों के उच्चारण में सबसे कम समय अपेक्षित होता है, वे ह्रस्व स्वर कहलाते हैं। जिनके उच्चारण में उससे अधिक समय लगता है, वे दीर्घ कहे गये हैं। एवं जिन स्वरों के उच्चारण में सर्वाधिक समय अपेक्षित होता है वे प्लुत संज्ञक कहे गये हैं।

**(1) ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल–**

सभी प्रातिशाख्यों में स्वरों के ह्रस्व रूप का उच्चारण एक मात्रा काल स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार ह्रस्व स्वर एक मात्रा कालिक होता है।[2] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कहा गया है, कि अकार के उच्चारण काल वाला स्वर ह्रस्व कहलाता है। ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल एक मात्रा होती है।[3] चतुरध्यायिका में ह्रस्व स्वर को एक मात्रा काल में उच्चरित करना चाहिए।

---

1. परमाण्वर्धाणुमात्रा। —वा०प्रा० 1/61
2. मात्रा ह्रस्वः। —ऋ०प्रा० 1/27
3. अमात्रो ह्रस्वः। मात्रा च। —वा०प्रा० 1/55–56

ऐसा कहा गया है।[1] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के वैदिका भरण भाष्यकार का कथन है, कि अकार के तुल्य उच्चारण काल वाला स्वर ह्रस्व होता है।[2]

प्रातिशाख्यों की भाँति शिक्षाग्रन्थों में भी ह्रस्व का उच्चारण काल एक मात्रा काल स्वीकार किया गया है।[3]

**दीर्घ स्वर का उच्चारण काल–**

प्रायः प्रातिशाख्यों में दीर्घ स्वरों का उच्चारण काल द्विमात्रिक कहा गया है।[4] अर्थात् दीर्घ स्वरों को दो मात्रा काल में उच्चरित किया जाता है।

---

1. एक मात्रो ह्रस्वः। –च०अ० 1/59
2. अकारेण तुल्यकालस्वरो ह्रस्व संज्ञो भवति । –तै०प्रा० 1/33 (वै० भ० )
3. एक मात्रो भवेद् ह्रस्वो। – या० शि० 13

   अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण यो वर्णः समुदीर्यते।

   स एक मात्रो ————————————।। –मा०शि० 13/1

   चाषस्तु वदते मात्रं ——————————। –मा०शि० 13/3

   चाषस्तु वदते मात्रां ——————————।। –या०शि० 15
4. द्वे दीर्घः। –ऋ०तं० 43

   द्वे दीर्घे। –ऋ०प्रा० 1/29

   द्विमात्रो दीर्घः। –च०अ० 1/61

   द्विस्तावान् दीर्घः। –तै०प्रा० 1/35

   द्विस्तावान् दीर्घः। –वा०प्रा० 1/57

शिक्षा–ग्रन्थों में भी दीर्घ स्वरों को दो मात्रिक (द्विमात्रिक) स्वीकार किया गया है।[1]

**प्लुत स्वर का उच्चारणकाल–**

प्लुत का शाब्दिक अर्थ 'कूदना' है। प्लुत शब्द कूदना अर्थ वाली √प्लु धातु से 'क्त्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। प्लुत स्वर तीन मात्रा काल में उच्चरित होता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के वैदिका भरण भाष्यानुसार बाण की भाँति दूरगामी होने से इसे प्लुत कहा जाता है।[2] अर्थात् एक मात्रिक स्वर जब कूदकर तीन मात्रा में उच्चरित हो जाता है, तब वह प्लुत संज्ञक होता है। अन्य प्रातिशाख्यों में प्लुत स्वर तीन मात्रा काल में उच्चरित होता है।[3] याज्ञवल्क्य शिक्षा में प्लुत त्रिमात्रिक कहा गया है।[4] माण्डूकी शिक्षा में त्रिमात्रा कालिक वर्ण को प्लुत संज्ञक कहा गया है।[5] इसी प्रकार अन्य शिक्षा–ग्रन्थों में भी प्लुत का विवेचन किया गया है।

अतः स्पष्ट है कि प्लुत स्वर तीन मात्रा काल में ही उच्चरित किया जाता है।

---

1. द्विमात्रो दीर्घ उच्यते —या०शि० 13(शि० सं०)
   मात्रा सह भवेद् दीर्घ ह्रस्वं मात्रां विना भवेत् —पा०शि० 5
   ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति वा कालतो नियमा अचि। —पा०शि० 11
   द्विस्तावान् दीर्घस्तु। —मा०शि० 13/1
2. शरादिवद्दूरगामित्वाप्लुत इत्युच्यते। —तै०प्रा० 1/38 (वै० भ०)
3. त्रिस्त्रः प्लुत उच्यते स्वरः। —ऋ०प्रा० 1/30
   प्लुतस्त्रिः। —वा०प्रा० 1/58
   त्रिः प्लुतः। —तै०प्रा० 1/36
   त्रिमात्रः प्लुतः। —च०अ० 1/62
4. त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो। – —या०शि० 13
5. ——–—— दीर्घस्तु प्लुत उच्यते। —मा०शि० 13/1

### व्यंजन वर्णों का उच्चारण काल–

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाओं में व्यंजन का उच्चारण काल एक मात्रिक अथवा अर्द्ध मात्रिक स्वीकार किया गया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के अनुसार व्यंजन वर्णों को आधी मात्रा में उच्चरित माना गया है।[1] ऋक् तन्त्र में व्यंजन वर्णों को एक मात्रिक अथवा अर्द्ध मात्रा में उच्चरित करना चाहिए ऐसा कथन है।[2] किन्तु चतुरध्यायिका में कहा गया है कि व्यंजन वर्णों का उच्चारण एक मात्रिक करना चाहिए।[3] शिक्षा ग्रन्थों में भी व्यंजन वर्णों के उच्चारण काल का उल्लेख प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में व्यंजन वर्णों का उच्चारण काल अर्द्ध मात्रा माना गया है।[4] आपिशलि शिक्षा के अनुसार स्वरवर्ती नासिक्य व्यंजन को दीर्घ मात्रा वाला कहा गया है।[5] व्यास शिक्षा में कहा गया है कि संयुक्त व्यंजनों में प्रत्येक व्यंजन का काल चौथाई मात्रा माना गया है।[6] पाराशरी शिक्षा में ऊष्म व्यंजन का उच्चारण काल दीर्घ स्वर के समान द्विमात्रिक कहा गया है।[7]

निष्कर्षतः व्यंजनों का उच्चारण काल आधी मात्रा सामान्य उच्चारण की दृष्टि से अधिक उचित प्रतीत होता है।

---

1. व्यंजनमर्धमात्रा। —वा०प्रा० 1/59
2. मात्रार्धमात्रा वा। —ऋ०त० 28
3. एक मात्रा ह्रस्वः, व्यंजनानि च। —च०अ० 1/59–60
4. व्यंजन चार्द्ध मात्रिकम्। —या०शि० 13
5. द्विमात्रा उत्तमो ह्रस्वाद् अध्यर्धो व्यंजनान्तरः।
   दीर्घादनन्तरस्तद्वात् मात्रिको व्यंजनान्तरः। —आपि०शि० 26
6. हलयुक्तं हलुत्तरं तदणुमात्रं प्रकीर्तितम्। —व्या०शि० 27/4
7. यथा संख्यातु दीर्घस्य तथा चोष्मा प्रकीर्तिता।
   ऊष्मा दीर्घ समत्वं च क्षिप्रं कुर्यात् तदर्द्धकम्।। —परा०शि० 27 (शि०सं०)

अनुस्वार वर्णों का उच्चारण काल–

शिक्षा ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्यों में अनुस्वार वर्णों का उच्चारण काल कहा गया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के अनुसार ह्रस्व स्वर पूर्व में होने पर अनुस्वार डेढ़ मात्रा काल एवं पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर का अर्द्ध मात्राकाल होता है।[1] दीर्घ–स्वर से परवर्ती अनुस्वार को अर्द्ध मात्राकाल में एवं पूर्ववर्ती दीर्घ–स्वर का डेढ़ मात्राकाल कहा गया है।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में अनुस्वार को ह्रस्व स्वर के बराबर काल में उच्चरित करना चाहिए।[3] ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार अनुस्वार से पूर्व ह्रस्व स्वर वर्ण की अर्द्ध स्वर भक्ति से न्यून तथा ह्रस्व स्वर वर्ण के बाद स्थित अनुस्वार अर्द्ध स्वर भक्ति से अधिक होता है।[4]

शिक्षा ग्रन्थों में याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि एकमात्रिक स्वर के पूर्ववर्ती आने वाला अनुस्वार दो मात्रा काल में उच्चरित होता है एवं द्विमात्रिक स्वर के पूर्ववर्ती आने वाला अनुस्वार एक मात्रा काल में उच्चरित होता है।[5]

---

1. अनुस्वारो ह्रस्वपूर्वोऽध्यर्धमात्रा पूर्वाचार्धमात्रेति। —वा०प्रा० 4/150
2. दीर्घदर्धमात्रा पूर्वाचाध्यर्धा। —वा०प्रा० 4/151
3. अनुस्वारश्च। —तै०प्रा० 1/34
4. ह्रस्वामर्धस्वर भक्त्यासमाप्तामनुस्वारस्योपधामाहुरेके।
   अनुस्वारंतावतैवाधिकं च ह्रस्वोपधम्। —ऋ०प्रा० 13/32
5. अनुस्वारो द्विमात्रः स्याद् वर्णव्यंजनोदये।
   ह्रस्वो वा यदि वा दीर्घ देवानां हृदये तथा।। —या०शि० 139 (शि०सं०)
   अनुस्वारस्यो परिष्टात्संवृतं यत्र दृश्यते।
   दीर्घं तं तु विजानीयाच्छोता ग्रावाणेति निदर्शनम्।। —या०शि० 140

लोमशी शिक्षा[1] में भी याज्ञवल्क्य शिक्षा के समान उल्लेख प्राप्त होता है। माण्डूकी शिक्षा में अनुस्वार के ह्रस्व दीर्घ प्लुत काल स्वीकार किए गये है। अनुस्वार का प्लुतत्व नाम त्रिमात्रिक कहा गया है।[2]

विराम वर्णों का उच्चारण काल–

वेद मन्त्रों का उच्चारण करते समय जब वक्ता किसी विशेष स्थल पर अल्प काल के लिए उच्चारण की प्रक्रिया को रोक देता है, तो उच्चारण के इस अभाव को विराम कहते है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार पदपाठ में 'समस्तपदों' के पृथक्करण में अवग्रह को एक मात्रा कालिक कहा गया है। अर्थात् समस्तपद को जब अवगृहीत किया जाता है, तब उन दोनों पदों के मध्य एक मात्रिक विराम होता है।[3] ऋक् तन्त्र में दो स्वरों के मध्य में अर्ध मात्रिक विराम कहा गया है।[4] किन्तु सामगानों में दो मन्त्रों के मध्य त्रिमात्रा कालिक विराम का विधान किया गया है।[5]

प्रायः शिक्षा ग्रन्थों में भी विराम का उल्लेख प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार, अवग्रह में अर्द्धमात्रिक विराम होता है। एवं दो पदों के मध्य में एक मात्रा कालिक विराम करना चाहिए।[6]

---

1. मात्रा द्विमात्रोऽनुस्वारो द्विमात्रान्मात्र एव च।
   मात्रिकादपि संयोगे मात्रिकस्तु द्विरूपवत्।। —लो०शि० 7/14
2. अनुस्वाराश्च कर्त्तव्या ह्रस्व दीर्घप्लुतास्त्रयः। —मा०शि० 8/11
3. अवग्रहाणामन्ते च विरामो मात्रिकस्स्मृतः। —तै०प्रा० (वै०भै०) 22/13
4. स्वरयोरर्धमात्रा। —ऋ०तं० 35
5. त्रिमात्रं सामसु। —ऋ०तं० 39
6. अवग्रहे तु कालः स्यादर्धमात्रात्मको हि सः।
   पदयोरन्तरे कालः एकमात्रा विधीयते।। —या०शि० 13

व्यास शिक्षा में विराम की व्याख्या करते हुए इसे अनुच्चारण काल कहा है।[1] अर्थात् जब पद अथवा वाक्य का उच्चारण करते समय विशेष स्थल पर अल्प विश्राम कर पुनः उच्चारण प्रारम्भ किया जाता है, तो उस अनुच्चारण काल को विराम कहा जाता है। माण्डूकी शिक्षा में कहा गया है कि अवग्रह में अर्द्धमात्रिक विराम होता है। पद पाठ में, दो पदों के मध्य एक मात्रिक विराम, ऋचा के अर्द्ध भाग के अन्त में द्विमात्रिक विराम एवं सम्पूर्ण ऋचाओं के अन्त में त्रिमात्रिक विराम होता है।[2] इसी में विराम के पाँच प्रकार बताये गये है। कही पाद विभाग द्वारा, कही पाद के अर्द्ध भाग में, कही पद में, कही अर्थ में और कही शब्द में विराम कहा गया है।[3] शिक्षा के अनुसार क्षेप संज्ञक ये विराम छन्द में ही प्रयुक्त होते है, इसलिए इसके उच्चारण में वृत्ति रूप न हो, वही विराम की भूमिका विशेष रूप से अनिवार्य होती है।[4]

********

---

1. विरामः तूर्णाम्भूतः कालः। —व्या०शि० (व्याख्या)
2. अवग्रहेऽर्द्धमात्रं स्यात्कालो मात्रा पदान्तरे।
   अर्द्धचे द्वे तथा पादे त्रिमात्रं स्यादृगन्तरम्।। —मा०शि० 13/1
3. क्वचित्पाद विभागेन क्वचितदर्धे क्वचित्पदे।
   क्वचिदर्धे क्वचिद्शब्दे विरामः पंचधा स्मृतः।। —मा०शि० 13/4
4. छन्दस्येते प्रयुज्यन्ते क्रमेण क्षेप संज्ञकाः।
   सविरामं प्रयोक्तव्या येन वृत्तिन्न विद्यते।। —मा०शि० 13/5

# सप्तम् अध्याय

## (उच्चारण विधि प्रकरण)

शिक्षा–ग्रन्थों का मुख्य रूप से प्रतिपाद्य विषय उच्चारण विधि ही है। एतदर्थ प्रायः शिक्षाग्रन्थों में उच्चारण विधि का अस्तित्व प्राप्त होता है। यद्यपि उच्चारण भूत स्थानों में विवेचित उच्चारण विधि का विवेचन प्रायः गतार्थ हो गया है। स्थानादि उच्चारण विधि में आते हैं। अर्थात् जिस वर्ण का जितने काल में स्थान, प्रयत्न, अनुप्रदान आदि के द्वारा उच्चारण कहा गया है वह वर्ण उतने ही काल में उन्हीं स्थान प्रयत्नों के द्वारा ही उच्चारण करने योग्य है। उच्चारण में उनके शास्त्रीय होने से उच्चारण विधि प्राप्त होती है।

माण्डूकी शिक्षानुसार वर्णों का उचारण न उच्च स्वर से, न नीच स्वर से, न अङ्गों को शिथिल करके और न ही तीक्ष्ण स्वर से करना चाहिए। अपितु मधुर कण्ठ से वर्णों का उच्चारण करना चाहिए। क्योंकि मधुरता से उच्चरित वर्ण पाठक की अभिलाषा को पूर्ण करता है।[1] यथा– 'व्याघ्री' अपने पुत्रों को दाँतों से पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाती है। किन्तु पकड़ा गया वह शिशु दन्त पीड़ा का अनुभव नहीं करता है। इसी प्रकार वर्णों का उच्चारण करना चाहिए। दन्तादि स्थानों के द्वारा उच्चारण किये जाने पर भी श्रोताओं को इस प्रकार प्रतीत होता है कि ये वर्ण वक्ता के द्वारा बल पूर्वक दन्तादि के निष्पीड़न से उच्चरित होते है।[2] शिक्षा–ग्रन्थों में इस हेतु से

---

1. नात्युच्चैर्नाति वा नीचै र्घोषणः सदनस्य खम्।
   प्रब्रूयान्नाति तीक्ष्णेन कण्ठे न मृदुनादिना। —मा०शि० 4/4, 4/5
2. यथा व्याघ्री हरेत्पुत्रान्दष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
   भीता पतन भेदाभ्यां तद्वद् वर्णान्प्रयोजयेत्।।
   —मा०शि० 4/7, ना०शि० 2/7/30, पा०शि० 25, या०शि० 195

वर्ण न व्यक्त और न पीड़ित उच्चरित किये जाने चाहिए। वर्णों का सम्यकता पूर्वक उच्चारण करने वाला ब्रह्मलोक में सम्मान का पात्र होता है।[1] माण्डूकी शिक्षानुसार जिस प्रकार योजनों दूर से लक्ष्य को कहने मात्र से नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसी प्रकार उन्माद रहित वाणी ही अपने अर्थ का समुचित बोध कराती है।[2]

माण्डूकी शिक्षा एवं अन्य शिक्षा–ग्रन्थों में सामान्य उच्चारण विधि का विवेचन है कि जिस प्रकार कच्छप अपने सभी अङ्गों को समेट लेता है। उसी प्रकार पाठक भी शरीर की चेष्टा होने पर इधर–उधर दृष्टि व्यापार एवं मनोव्यापार पर नियन्त्रण करके ही वर्णों का उच्चारण करना चाहिए।[3] क्योंकि शरीर की चेष्टा अनियन्त्रित हो जाने पर इधर–उधर हस्तादि अवयवों के चालन से वर्णों की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसीलिए वर्ण निष्पादक वायु का प्रशस्त संचार आवश्यक है, जिसके लिए शरीर की स्थिति पर नियन्त्रण अपेक्षित है। साथ ही शब्द प्रयोगार्थक (शब्द के प्रयोग के लिए) शब्द विषयक ज्ञान धारा भी अपेक्षित है। दृष्टि एवं मन का इधर–उधर अनावश्यक व्यापार होने पर अवश्य ही उसकी ज्ञान धारा में व्यवधान होगा। वर्णों के उच्चारण में सिर के

---

1. एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः।
   सम्यग्वर्ण प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते।
   –मा०शि० 4/8, ना०शि० 2/7/31, पा०शि० 31

2. शनैरध्वसु वक्त्रेण न परं योजनाद्ब्रजेत्।
   न हि पार्ष्णिहिता वाणी प्रयोगान्वक्तु मर्हति।।
   –मा०शि० 4/9, ना०शि० 2/7/15–17

3.(क) कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य चेष्टां दृष्टिं दिशन्मनः।
   स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीतो वर्णानुच्चारयेद्बुधः।। –ना०शि० 1/6/12

(ख) कूमोऽङ्गानीव संहृदय हस्तदृष्टिर्दृढंमनः।
   स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीतो वर्णानुच्चारयेद्बुधः।। –या०शि० 20–21

न कांपने योग्य एवं मुख दोष को अवश्य ठीक करना चाहिए।[1] क्योंकि सिर के कम्पन से और मुख के दोष से वाक्य स्थाल में वाक्य घटक पदों का बोध अनायास नहीं हो सकता। शिक्षा–ग्रन्थों के अनुसार वर्णों का उच्चारण अत्यधिक हनन पूर्वक नहीं होना चाहिए और न ही हनन की प्रतीति होनी चाहिए। वर्णों का उच्चारण न तो गाकर करना चाहिए और न ही सिर के कम्पन के साथ करना चाहिए अर्थात् वर्णों का उच्चारण स्पष्ट रूप से करना चाहिए।[2]

वर्णोच्चारण में उच्चारणावयवों का निष्पीडन नहीं करना चाहिए, और न ही अस्पष्ट उच्चारण करना चाहिए। सुधीजन वर्णों को बराबर सन्देह रहित उच्चारण करें। अर्थात् ऐसा उच्चारण नहीं करना चाहिए, जिसके कारण वर्णों के उच्चारण में सन्देह उत्पन्न हो जाए।[3]

यद्यपि शिक्षा–ग्रन्थ मुख्य रूप से वेदाङ्ग भूत है, इसलिए वेदोच्चारण में एवं भाषा में उपकारक होने से ये विधियाँ ही प्रचलित है।

**वेदों में वर्णोच्चारण विधि–**

माण्डूकी शिक्षा में यद्यपि वेद विषयक उच्चारण विधि का प्रदर्शन विस्तार के पद पर आरुढ़ नहीं होता है। तथापि उसका पूर्ण रूप से अभाव है, ऐसा भी नहीं है फिर भी अन्य शिक्षा–ग्रन्थों का आश्रय लेकर इस प्रकरण पर विस्तार के भय से संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है।

---

1. कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य चेष्टां दृष्टं दृढ़ं मनः।
   न कम्पयेच्छिरः पादौ मुखदोषांश्च वर्जयेत्।। –मा०शि० 2/12–13
2. नाभ्याहन्यान्न निर्हन्यान्न प्रगायेन्न कम्पयेत्। –ना०शि० 1/6/15
   नाभ्याहन्यान्न निर्हन्यान्न गायेन्न च कम्पयेत्। –या०शि० 21
   नाभिहन्न्यान्न निर्हन्यान्न प्रगायेन्न कम्पयेत्। –मा०शि० 5/6
3. नातिनिष्पीडयेद्वर्णान्न चाव्यक्तानुदाहरेत्।
   समानश्लक्ष्णान सन्दिग्धान्वर्णानुच्चार येद् बुधः।। –मा०शि० 12/8

**"य" वर्ण का जकारोच्चारण–**

माण्डूकी शिक्षा के अनुसार हलन्त पद से उत्तरस्य यकार का आदि मिश्र होता है। अर्थात् दो उच्चारण होते है। अन्यत्र स्थलों में यह मात्र यकार होता है।[1] यथा– हर्यत = हय्र्यत। इसी प्रकार पादादि, पदादि, व्यंजन संयोग में तथा अवग्रह होने पर यकार का उच्चारण जकार की भाँति होता था। अन्यत्र यकार को यकार ही उच्चरित किया जाता था।[2] यथा– पादादौ (यज्ञेन यज्ञमयजन्त) पदादौ (यज्ञो बभूव) संयोगे (सूर्यस्य = सूय्र्यस्य) अवग्रहे (यसम् = यज्ञम्)।

अन्य शिक्षा–ग्रन्थों में कहा गया है कि रेफ एवं हकार की भांति ऋकार के योग होने पर यदि ऋकार उत्तर (परवर्ती) में हो तब पूर्ववर्ती यकार का उच्चारण 'ज' रूप में किया जाता था।[3]

**'ष' वर्ण का खकारोच्चारण–**

माण्डूकी शिक्षा में 'ष' वर्ण का खकारोच्चारण सम्बन्धी उल्लेख प्रायः दृष्टि गोचर नहीं होता है। किन्तु अन्य शिक्षा–ग्रन्थों में षकार का खकारोच्चारण करने का विधान प्राप्त होता है। शिक्षा–ग्रन्थों के अनुसार टवर्गीय स्पर्शों के अतिरिक्त कोई स्वर या व्यंजन बाद में होने पर 'ष' वर्ण का उच्चारण 'ख' वर्ण के रूप में किया जाता था।[4]

---

1. हलन्तादुत्तरो यस्यु पदादऽवग्रहेषु च।
   यस्य स्वम्माद्य इत्येषो योऽन्यः स य इति स्मृतः।। –मा०शि० 8/6
2. पादादौ च पदादौ च संयोगावग्रहेषु च।
   यः शब्द इति विज्ञेयो योऽन्यः स य इति स्मृतः।।
   –मा०शि० 8/7, ना०शि० 2/1/16, या०शि० 150
3. पदान्तमध्य ऋहरेफयुग्यस्य यश्च। –के०शि० 2
   यकारर्कार युक्तस्य जकारः सर्वथा भवेत्। –द्वि०ल०माध्य०शि० 5
4. षकारस्य रवकारः स्यात् टुक्योगे तु नो भवेत्। –द्वि०ल०माध्य०शि० 1

**ऋकार एवं लृकार का सैकारोच्चारण–**

केशवी शिक्षा के अनुसार, ऊष्म वर्ण परे रहते उर्ध्व रेफ का एकार सहित उच्चारण होता है।[1] 'ऋ' वर्ण का भी एकार के साथ (सैकोच्चारण) उच्चारण होता है।[2] यथा– "कृष्णोऽसि" का क्रेष्णोऽसि, "पितृमते" का पित्रेमते। अन्य शिक्षा–ग्रन्थों एवं शिक्षा सूत्र में भी उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।[3] प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा के अनुसार 'लृ' वर्ण का उच्चारण भी एकार के साथ होता है।[4] यथा "क्लृप्तम्" का उच्चारण "क्लेप्तम्" रूप में किया जाता है।

**अनुस्वार का ठ॰ (गुँ) रूप में उच्चारण–**

अनुस्वार का ठ॰ (गुँ) रूप में उच्चारण द्वितीय लघु माध्यन्दिनीय शिक्षा में प्राप्त होता है।[5] माण्डूकी शिक्षानुसार नकारान्त पद पूर्व में हो और उत्तर में स्वर हो वहाँ ह्रस्व मात्र उच्चारण होता है। इसी प्रकार श ष स इन तीनों सकारों और

---

1. अहल्शल्यूदर्ध्वरेफस्य सैकारः प्राक् च। –के॰शि॰ 4
2. हल्युतायुतस्योः सैकारश्च पदान्त मध्ये हल्युतायुतस्य ऋकारस्य
   ऋवर्णस्य सैकारइवोच्चारः स्याच्छन्दसि माध्यन्दिनीये।
   –के॰शि॰ 8 (शि॰सं॰पृ॰ 147)
3. रेफो रेकत्वमाप्नोति शषहेषु परेषु च। –द्वि॰ल॰माध्य॰शि॰ 10
   ऋकारस्य तु सँय्युक्ता सय्युक्तएव विशेषेण सर्वत्रैवम् –प्रति॰सू॰ 6
   अस्यार्थः पदान्तमध्येषु सय्युक्तासंयुक्तस्य
   ऋवर्णस्य रेकारः स्यात्। सर्वत्र संहितायां पदेच।
   यथा कृष्णोऽसि इत्यत्र क्रेष्णो सीत्युच्चारः।
   ऋत्वियो इत्यत्र रेत्वियः इत्युच्चारः।
4. वार्तिकेन लृकारस्यापि ले इत्युच्चारः।
   क्लृप्तमित्यत्र क्लेप्तमित्युच्चारः।। –प्रा॰प्र॰शि॰ (शि॰सं॰पृ॰ 296)
5. अनुस्वारो यत्र कुत्र ठ॰ (गुँ) कारो भवति ध्रुवम्। –द्वि॰ल॰मा॰शि॰ 12

प्रत्ययों में भी समझना चाहिए।[1] यथा – द्रस्यूनधम। अन्य शिखाओं में भी अनुस्वार का ठ॰ (गुँ) रूप में उच्चारण सम्बन्धी उल्लेख मिलता है।[2] माण्डूकी शिक्षा में अनुस्वार के स्थान में ह्रस्व दीर्घ प्लुत का निर्देश होने से यह अनुमान किया जाता है कि कहीं यह ह्रस्व होता है। कहीं दीर्घ और कहीं प्लुत उच्चारण होता है।[3] द्वितीय लघु माध्यन्दिनीय शिक्षा में कहा गया है कि यह उच्चारण ह्रस्व दीर्घ एवं गुरू (प्लुत) तीन रूपों में होता है।[4]

**यकार तथा वकार वर्णों का उच्चारण–**

माण्डूकी शिक्षा में यकार तथा वकार वर्णों के उच्चारण में अभाव दृष्टिगोचर होता है। किन्तु याज्ञवल्क्य शिक्षानुसार यकार एवं वकार का उच्चारण तीन प्रकार से होता है। पदादि में विद्यमान होने पर यकार का उच्चारण गुरु रूप में, पदादि के मध्य में लघु रूप में तथा पदान्त में लघुतर रूप में उच्चरित होता है।[5] यथा– 'य्यदिदिवायदि य्यस्मान्नजात' में य का उच्चारण गुरु रूप में होता है। 'नाशयित्री वलासस्या' में य का उच्चारण लघु रूप होता है। 'महाय्इन्द्रों' में य का उच्चारण लघुतर रूप में होता है। इसी प्रकार वकार का भी त्रिविध उच्चारण याज्ञवल्क्य शिक्षा में प्राप्त होता है। पद के आदि

---

1. नकारान्ते पदे पूर्वे स्वरे च परसंस्थिते।
   ह्रस्वो मात्रः प्रयोक्तव्यः शषसप्रत्ययेषु च।। –मा॰शि॰ 13/10
2. ह्रस्वात्परो भवेद्दीर्घो हर्ठ॰ सऽइति दर्शनम्।
   दीर्घात्परो भवेद्ह्रस्वो मा ँ सेभ्यऽइति दर्शनम्।
   गुरौ परे ह्यनुस्वारो गुरुरेव हि स स्मृतः।। –द्वि॰ल॰मा॰शि॰ 13, 14
3. अनुस्वाराश्च कर्तव्या ह्रस्वदीर्घप्लुतास्त्रयः। –मा॰शि॰ 8/11
4. ह्रस्वो दीर्घो गुरुश्चेति विविधः परिकीर्तितः। –द्वि॰ल॰मा॰शि॰ 13
5. यवर्णस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघूलघुतरः।
   आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते तु लघूतरः।। –या॰शि॰ 156

में विद्यमान होने पर गुरु रूप में, मध्य में विद्यमान होने पर लघु रूप में एवं पदान्त में विद्यमान होने पर लघूतर रूप में उच्चरित होता है।[1] यथा – 'वाचस्प्पतिम्' में वकार गुरु रूप में उच्चरित होता है। 'देवस्य चेततः' में वकार लघु रूप में उच्चरित होता है। 'विष्णव उरुगाय' में वकार का उच्चारण लघूतर रूप में होता है। इसी प्रकार अन्य शिक्षा–ग्रन्थों में भी उल्लेख प्राप्त होता है।[2] किन्तु एक अन्य स्थल में याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि पद के अन्त में यकार एवं वकार वर्ण सन्धि जन्य होने पर अथवा इनके पूर्व उपसर्ग होने पर यकार एवं वकार का लघु रूप में उच्चारण होता है।[3] यथा– उत्तमास्योषधे, संव्वपामि। किन्तु मा, स एवं न शब्दों के परे ये वर्ण विकल्प से अन्तःस्थ अर्थात् कहीं लघु एवं कहीं लघुतर रूप में उच्चरित होते है। अन्य शिखा–ग्रन्थों में भी पूर्व–विवेचित उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

अन्त में निष्कर्ष रुपेण यह कहा जा सकता है कि यकार एवं वकार वर्ण विभिन्न परिवेशों (परिस्थितियों) में ह्रस्व, दीर्घ एवं गुरु उच्चरित होते है।

---

1. वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुलघूतरः।
   आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूतरः।। –या०शि० 155
2. वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुलर्घुलर्घूतरः।
   आदौ गुरुर्ल्लघुर्म्मध्ये पदान्ते तु लघूतरः।। –च०पारा०शि० 61
   वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुलघूतरः।
   आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूतरः।। –अमो०शि० 27
3. सन्धिजौ तु पदान्तीयावुपसर्गपरौ लघू।
   अथ मा स न शब्देभ्यो विभाषाम्रेडिते यवौ।। –या०शि० 157
4. सन्धिजौ तु पदान्तीयावुपसर्गपरोलघु।
   अथ मासन शब्देभ्यो विभाषाऽऽम्रेडिते यवौ।। –प्रा०प्र०शि० (शि०सं० 298)
   वो वां वा वै वि वौ पाठे उपसर्गात्परो लघुः।
   अथ मा स न शब्देभ्यो विभाषाऽऽम्रेडिते यवौ।। –ल०मो०शि० 9

**उच्चारण वृत्ति का विभाजन–**

वृत्ति शब्द √वृत् धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। जिसका शाब्दिक अर्थ है– गति। इस प्रकार वृत्ति का अर्थ है–'उच्चारण की गति'। अर्थात् वक्ता कभी मन्द गति से बोलता है, कभी मध्यम गति से बोलता है और कभी तीव्र गति से बोलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार मध्यम गति को ही वाक् प्रयोग में उचित माना गया है।[1]

माण्डूकी शिक्षा में भी उच्चारण गतियां बताई गई हैं। ये उच्चारण गतियां शिक्षा शास्त्र में वृत्तियाँ कहीं जाती है। माण्डूकी शिक्षा भी यहाँ अपवाद नहीं है। और यह वृत्तियाँ तीन प्रकार की होती है– द्रुता मध्यमा एवं विलम्बिता।[2] माण्डूकी शिक्षा के अनुसार प्रथमा वृत्ति द्रुत होती है। इन वृत्तियों में उत्तरोत्तर काल आधिक्य होता है। पाणिनीय सूत्र के महाभाष्य पर वृत्ति में कैयट ने इन वृत्तियों में लगने वाले काल की मात्रा का अनुपात 9 : 12 : 16 ही स्वीकार किया है। नौ पलों में द्रुता वृत्ति, द्वादश पलों में मध्यमा वृत्ति एवं षोडश पलों में विलम्बिता का उच्चारण किया जाता है।[3] शिक्षानुसार मध्यमा में एक मात्रा का अन्तर एवं विलम्बिता में दो मात्रा का अन्तर होता है। काल की अधिकता से विलम्बिता वृत्ति निन्दित होती है। शिक्षाकार के मत में जो व्यक्ति वर्ण सम्पदा की इच्छा करता है (चाहता है) वह कभी इस विलम्बिता

---

1. मध्यमेन स वाक्प्रयोगः। –तै०प्रा० 23/18
2. तिस्त्रो वृत्तीरनुक्रान्ता द्रुतः मध्यविलम्बिताः।
   यथाऽनुपूर्वं प्रथमा द्रुता वृत्तिः प्रशस्यते।। –मा०शि० 1/1
   तिस्त्रो वृत्तीरूपदिशन्ति वाचो विलम्बितां मध्यमां च द्रुतांच। –ऋ०प्रा० 13/46
3. द्रुतं श्लोकं ऋचं वोच्चारयति वक्तरि नाडिकाया यस्याः
   नव पलानि स्रवन्ति तस्या एव मध्यमायां वृत्तौ द्वादश
   पलानि स्रवन्ति। ......................... विलम्बितायां तु वृत्तौ षोडशपलानि
   स्रवन्ति। –पा०सू० 1/1/170 म०भाष्य० (कै०)

वृत्ति को नहीं मानता है।[1] द्रुता कहाँ होती है। मध्यमा कहाँ होती है अथवा विलम्बिता वृत्ति कहाँ आश्रयणीय है। ऐसी उत्कंठा होने पर माण्डूकी शिक्षा में प्रतिपादन किया गया है कि अभ्यासार्थ अर्थात् अपने पाठ को कण्ठस्थ करते समय आवृत्ति हेतु द्रुता वृत्ति का आश्रय ले सकते है। प्रयोगार्थ अर्थात् कर्मानुष्ठानादि में (यज्ञादि कर्म) उच्चारण के लिए मध्यम वृत्ति का ही आश्रय ले सकते है। उपदेशार्थ अर्थात् शिक्षाओं के अध्यापन में अथवा प्रवचन काल में विलम्बिता वृत्ति ही आश्रयणीय है। अभ्यासार्थ में द्रुता वृत्ति शिक्षाकार के द्वारा अनुमन्य की जाती है। अन्यत्र वह सर्वत्र निन्दित है। मध्यमा वृत्ति यद्यपि अभ्यास स्थल में दोष का वहन करने वाली नहीं है। जब अल्प समय होने पर पठित ग्रन्थ की अधिकाधिक आवृत्ति मात्र ही अभिलषित हो तब मध्यम वृत्ति से अनुप्रयुज्ज मान होने के कारण वहाँ द्रुता वृत्ति ही मानी गई है। और जहाँ कुछ विराम लेकर पद के उच्चारण में विधिवत् बोध अभिप्सित होगा। यथा–उपदेश काल में वहाँ विलम्बिता का आश्रय ले सकते है।[2] अन्य शिक्षा–ग्रन्थों में भी ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

शिक्षाओं में इन वृत्तियों के अपने–अपने देवता भी कहे गये है। यथा– द्रुता वृत्ति के अग्नि एवं मरुत देवता, बिलम्बिता वृत्ति के प्रजापति देवता तथा मध्यमा वृत्ति के इन्द्र देवता कहे गये है। इन देवताओं के कहे जाने का क्या अभिप्राय है ? ऐसी उत्कंठा के समाधान में शिक्षा–ग्रन्थों में कुछ भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

---

1. मध्यमैकान्तरावृत्तिद्वर्यन्तरा हि विलम्बिता।
   नैनां बुधः प्रयुज्जीत् यदीच्छेद्वर्णसम्पदम्।। —मा०शि० 1/2
2. अभ्यासार्थे द्रुत वृत्तिरूपलब्धैर्विलम्बिता।
   मध्यमा तु प्रयोगार्थे न तद्ववचनमन्यथा।। —मा०शि० 1/3
3. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
   शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद्वृत्तिं बिलम्बिताम्।।
   —ऋ०प्रा० 13/49, या०शि० 54, ना०शि० 1/6/21

तथापि परम्परा के अनुरोध से अनुमान किया जाता है, कि जिस वृत्ति का जो देवता होता है, उसको मान करके ही स्तुति की जाती है। और स्तुति करने पर प्रसन्न होकर अभिलाषाओं को प्रदान करता है। शिक्षानुसार अग्नि और वायु में विलम्बिता वृत्ति सर्वत्र निन्दित है।[1] इन वृत्तियों में सम्पूर्ण व्यवहार के लिए मध्यमा वृत्ति ही प्रशस्त है। अन्य दोष युक्त है। शिक्षानुसार विलम्बिता वृत्ति के दोष प्रकाशित किये गये है। द्रुता वृत्ति में सुस्पष्ट उच्चारण एवं अक्षरों की अभिव्यक्ति में अभाव देखा जाता है। अतः द्रुता एवं विलम्बिता वृत्ति को छोड़कर मध्यमा वृत्ति को ही माना गया है अथवा मध्यमा वृत्ति का ही आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि अक्षर की अभिव्यक्ति मध्यमा वृत्ति में ही सम्भावित है। विलम्बिता वृत्ति में उच्चारण से अक्षर की अभिव्यक्ति में भी दोष प्रकाशित होने से यह वृत्ति निन्दित है।[2] ये सभी वृत्तियाँ निर्दोष है। जब सुन्दर पढ़ा गया सुवक्ता शिक्षाविद् जिस किसी वृत्ति को मानकरके उच्चारण करता है। वह वृत्ति निर्दोष होती है। अर्थात् इन वृत्तियों का दोषत्व अथवा अदोषत्व अल्पज्ञ के उच्चारण में होता है।[3]

**उच्चारणार्थ प्रातरादि सवन व्यवस्था–**

वर्णोच्चारण में जिस प्रकार वृत्तियाँ होती है, उसी प्रकार उनके स्वर भी कहे गये है। माण्डूकी शिक्षा में ये स्वर मन्द्र, मध्यम एवं तार आदि संज्ञाओं से निर्दिष्ट है।

---

1. ऐन्द्री तु मध्यमा वृत्तिः प्राजापत्यां विलम्बिता।
   अग्निमारुतयोर्वृत्तिः सर्वशास्त्रेषु निन्दिता।। –या०शि० 55, मा०शि० 1/4
2. दोषाः प्रकाशास्तु विलम्बितायाम् वर्णा द्रुतायाम् न च सूपलक्षाः।
   तस्माद् द्रुतां चैव विलम्बिताम् च त्यक्त्वा नरो मध्यमया प्रयुंजयात्।।
   –मा०शि० 1/5
3. नात्युच्चैर्नाति वा नीचैर्घोषणः सदनस्य रवम्।
   प्रब्रूयान्नातितीक्ष्णेन कण्ठेन मृदुनादिना। –मा०शि० 4/4–5

यज्ञादि धार्मिक कृत्यों में मन्त्रोच्चारण में इन स्वरों का प्रयोग किया जाता है। प्रातः काल जो कर्म किया जाता है, वह प्रातः सवन कहा जाता है। मध्याह्न में जो कर्म किया जाता है वह माध्यन्दिन कहा जाता है। एवं सायं काल जो कर्म किया जाता है वह तार संज्ञक तृतीय सवन कहलाता है। इन तीनों सवनों में वर्णों के उच्चारण में भेद देखा जाता है। अर्थात् एक स्वर में ही वर्णों का उच्चारण नहीं किया जाता। वर्णोच्चारण के लिए शिक्षाकारों ने प्रातः सवन व्यवस्था बनाई है। माण्डूकी शिक्षा[1] एवं पाणिनीय शिक्षा[2] में कहा गया है कि प्रातः सवन में वर्णों का उच्चारण हृदय में स्थित व्याघ्र ध्वनि की तरह गम्भीर स्वर से करना चाहिए। दिन के मध्य में चक्रवाक पक्षी के कूँजने के समान कण्ठ गत स्वर से वर्णोच्चारण करना चाहिए। एवं सायं काल अर्थात तृतीय सवन में मयूर, हंस कोकिल आदि के स्वर के समान सिर को स्थित रखते हुए नाद स्वर से वर्णों को उच्चरित करना चाहिए। इन स्वरों के तीन स्थान हृदय, कण्ठ और शिर कहे गये है। यहाँ तृतीय सवन को सायंकाल परक माना गया है। तृतीय सवन तार संज्ञक स्वर को शिर गत सदा प्रयोग करना चाहिए।[3] माण्डूकी शिक्षा में स्वर व्यवस्था के लिए सवन विशेष में मन्द्र, मध्यम एवं तार स्वरों का क्रमशः प्रातः सवन योग, माध्यन्दिन योग और तृतीय सवन योग इन विशेषणों से समझा गया है।

---

1. प्रातर्वदेन्नित्यमुरः स्थितेन स्वरेण शाद्दूलरुतोपमेन।
   माध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्यैः कूजित सन्निभेन।। —मा०शि० 4/5
2. प्रातः पठेन्नित्यमुर स्थितेन स्वरेण शाद्दूलरूतोपमेन।
   मध्यंदिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्व संकूजित संनिभेन।। —पा०शि० 36
3. तारं तु विद्यात्सवनन्तृतीयं शिखण्डिनातच्च सदा प्रयोज्यम्।
   मयूर हंसादिमृदुस्वराणां तुल्येन नादेन शिरः सुखेन।। —मा०शि० 4/6
   तारन्तु विद्यात्सवनं तृतीयं शिरोगतन्तच्च सदा प्रयोज्जम्।
   मयूर हंसाम्बुभृत स्वराणां तुल्येन नादेन शिर स्थितेन।। —पा०शि० 37

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विवक्षा के द्वारा उच्चारण कर्ता के प्रयत्न द्वारा मूलाधार से उद्गत वायु के द्वारा उरदेश में संचरित जो स्वर उत्पन्न होता है। वह मन्द्र कहलाता है। मन्द्र स्वर से ही उच्चारण प्रातः सवन में अभिप्सित है। उसी वायु के द्वारा कण्ठ देश में संचारित करते हुए निष्पादित होता है, वह मध्यम स्वर कहलाता है। मध्यम की तरह उच्चारण माध्यन्दिन सवन में अभिहित है। उसी वायु के द्वारा पुनः सिर देश में संचरित करता हुआ स्वर उत्पन्न होता है, वह तार होता है। तार स्वर का उच्चारण तृतीय सवन में अभिलसित है।

**उच्चारण गुण–**

उच्चारण विधि ही शिक्षाओं का प्रधान विषय होने से प्रायः सभी शिक्षाओं में उच्चारण के गुण दोष प्रकाशित किये गये है। किसी पदार्थ का दोष रहित होना ही उसका गुण होता है। अर्थात् उन सभी का गुण साहित्य की अपेक्षा दोष रहित अनिवार्य है। दोषों के अधिक होने से सर्वप्रथम गुणों का ही प्रतिपादन किया जाएगा। क्योंकि गुण का बोध होने पर दोष स्वतः ज्ञात हो जाते है। वस्तुतः शास्त्र विहीत उच्चारण होने से थोड़ा भी अन्य उच्चारण दोष के लिए भी होता है। अतः शिक्षाकारों ने जिस रीति से वर्णो का उच्चारण बताया है। वहाँ रेखा मात्र भी अनतिक्रमण करके वर्णो का उच्चारण होना यही प्रधान गुण है।

माण्डूकी शिक्षा में उच्चारण गुणों का अति सुन्दर निरूपण किया है। शिक्षानुसार माधुर्य उच्चारण श्रोताओं के चित को आह्लादित करता है। अतः माधुर्य ही उच्चारण करना चाहिए। उच्चारण का माधुर्य गुण स्वीकार किया जाता है।[1] सुस्वर भी उच्चारण का गुण है। सुस्वर में उच्चारित वर्ण अल्प समय तक ही अभिलाशायें प्रदान

---

1. कण्ठेन मृदुनादिना ..................... । –मा०शि०4/4

करता है।[1] सुव्यक्तत्व गुण रूप को इसमें स्वीकार किया गया है।[2] सम उच्चारण माण्डूकी शिक्षा में वाणी का गुण है।[3] एकाग्र मन में ही निर्विकार आता है। निर्विकारता से मन में स्थिरता उत्पन्न होती है। चित्त की स्थिरता से ही वाणी का सम्यक् उच्चारण किया जा सकता है।[4] निर्भय भी उच्चारण गुण कहा जाता है। क्योंकि निर्भय से ही वाणी में मार्धुय आता है। मधुर पद अभिप्सित प्रदान करता है।[5]

शिक्षानुसार श्रोताओं की रुचि भी वर्णोच्चारण के मार्धुय में हेतु है। अर्थात् पाठकों को सतत् चिन्तन करना चाहिए। कि उसके समक्ष श्रोता कैसा है? उसके स्वभाव के अनुरूप ही वर्णों का उच्चारण करना चाहिए। श्रोताओं का रूचि विषयक चिन्तन किया है। आचार्य सम् नामक पाठ सुनना चाहते है, पण्डित पदच्छेद पूर्वक पाठ को सुनना चाहते है। स्त्रियाँ मधुर पाठ सुनना चाहती है। अन्य उच्च पाठ के अभिप्सित होते है।[6]

---

1. एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या न मुक्ता न च पीडयेत्।
   सम्यग्वर्णप्रयोगेन ब्रह्मलोके महीयते।। —मा०शि० 4/8
   एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः।
   सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते।। —ना०शि० 2/7/31, पा०शि० 31
2. नातिनिष्पीडयेद् वर्णान्न चाव्यक्तानुदाहरेत्।
   समान्श्लक्ष्णानसन्दिग्धान्वर्णानुच्चार येद् बुधः।। —मा०शि० 12/8
3. यथा नौ स्त्रोतसां मध्ये समं गच्छति संयुता।
   तैलधारेव वा वाणी तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्।। —मा०शि० 4/15
4. श्रुतिं वाचोऽनुगांकृत्वा वाचम् कृत्वा मनोऽनुगाम्।
   दृष्टिं हस्तानुगां कृत्वा ततः पदभिवोच्चरेत्।। —मा०शि० 2/14
5. निर्भयो मधुरो भवति माधुर्यात्सिद्विमाप्नुयात्। —मा०शि० 14/7
6. आचार्याः सममिच्छन्ति पदच्छेदन्तु पण्डिताः।
   स्त्रियो मधुर मिच्छन्ति विक्रुष्टमितरे जनाः।।

   —मा०शि० 16/13, या०शि० 120, ना०शि० 1/2/13

उच्चारण दोष–

शिक्षा–ग्रन्थों में दोषों पर अधिक प्रकाश डाला गया है। क्योंकि गुणों की अपेक्षा दोष ज्ञान पहले होना चाहिए। दोष के अभाव में गुण ही देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति दोषों को जानता है वह गुणों को भी जानता है।

माण्डूकी शिक्षा[1] के अतिरिक्त नारदीय शिक्षा[2], याज्ञवल्क्य शिक्षा[3] एवं पाणिनीय शिक्षा[4] में उच्चारण दोषों का वर्णन किया गया है।

---

1. ब्रुवन् भ्रुवौ कर्णललाटनासिका न कम्पयेदोष्ठ चलुर्ननिर्भुजेत्।
   मुखं न विक्लिश्य न नग्न वक्त्रजो न चापिमन्दृष्टिहनुर्न वाह्यवाक्।।
   –मा०शि० 12/5
   न रुक्षवाक्स्यान्न च उत्स्वरं वदेन्न चानिमेषो न च गर्वमाचरेत्। गजव्यवेषी बलवानतन्द्रितो व्यपेत रोषश्रमशोकहर्षभीः।। –मा०शि० 12/6
   न चानुकूजत्पदमादितो ब्रुवन्न नासिका नित्यमनुष्ठितं वदेत्। न चापदान्ते श्रम पीडितः श्वसेन्न चोच्छवसेदुक्तपदोऽप्यभीक्ष्णशः।। –मा०शि० 12/7
   नातिनिष्पीडयेद्वर्णान्न् चाव्यक्तानुदाहरेत्। –मा०शि० 12/8
2. शङ्कितंभीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम्। काक स्वरं शिरसि गतं तथा स्थान विवर्ज्जितम्।। विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्। व्याकुलं तालुहीनं च गीतिदोषाश्चतुर्दश।। –ना०शि० 1/3/11–12 (शि०सं०पृ० 404)
3. शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तं सानुनासिकम्। काक स्वरं शीर्षगतं तथा स्थान विवर्जितम्।। विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्। व्याकुलं तालुहीन च पाठदोषांचतुर्दश।। –या०शि० 26, 27, 28
4. शङ्कितंभ्भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
   काक स्वरं शिरसि गन्तथा स्थान विवर्जितम्।।
   उपांशु दष्टं त्वरितं निरस्तम्बिलम्बित गद्गदितं प्रगीतम्।।
   निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्न दीनं नतु सानुनास्यम्।। –पा०शि० 34, 35

माण्डूकी शिक्षानुसार उच्चारण के अवसर पर भौहें, कान, ललाट, नासिका का कम्पन निषिद्ध है।[1] उच्चारण के अवसर पर ओष्ठों को विकृत्य करके नहीं बोलना चाहिए।[2]

विपूर्वक √क्लिश् धातु में 'ल्यपि' प्रत्यय करने पर विक्लिश्य पद बनता है। विक्लिश्य पद का अर्थ विकृष्ट्य होता है। अर्थात् वर्ण जहाँ विकृष्ट्य उच्चारण किया जाता है। वहाँ विक्लिष्ट नामक दोष होता है।[3]

जहाँ किसी वर्ण का उच्चारण रिक्त मुख से किया जाता है वहाँ 'नग्न वक्त्रजो' नामक दोष होता है।[4] जब एक मुख अवयव उच्चारण काल में अन्य मुख अवयव को नहीं स्पर्श करता है। तब मुख में रिक्तता आ जाती है। उस समय उच्चारण किये जाने वाले वर्ण में अस्पृष्टता दिखाई देती है। इस प्रकार की अस्पृष्टता ही 'नग्न वक्त्रजो' दोष कहलाती है।

**'न चापि संदृष्टहनु'** इस पद समूह में प्रथित संदृष्ट दोष कहा गया है। सम् पूर्वक √दंश धातु में 'क्त' प्रत्यय करने पर संदृष्ट पद की निष्पत्ति होती है। इसका शाब्दिक अर्थ मिलित होता है। उक्त कथन का आशय है– जब किसी वर्ण के उच्चारण में हन समीप्य प्राप्त होता है। उस समय निष्पद्य मान ध्वनि दन्त घर्षण पूर्वक होती है। और जो वर्ण होता है वह दोष युक्त होता है।[5] समास से संदृष्ट पद का अर्थ दन्त दर्शन पूर्व उच्चारण को कहने के लिए योग्य होता है। अर्थात् यहाँ वर्णों का उच्चारण दन्तों को परस्पर आहत करके होता है। इस प्रकार का उच्चारण माण्डूकी शिक्षा में निषिद्ध है।

---

1. ब्रुवन् भ्रुवौ कर्णललाट नासिका न कम्पयेत्............। –मा०शि० 12/5
2. ओष्ठ चलुर्न निर्भुजेत। –मा०शि० 12/5
3. मुखं न विक्लिश्य ..............................। –मा०शि० 12/5
4. न नग्नवक्त्रजो ....................................। –मा०शि० 12/5
5. न चापिमन्दृष्टिहनुः ..............................। –मा०शि० 12/5

प्रायः देखा जाता है कि कुछ लोगों का ऐसा अभ्यास है कि वे दन्त घर्षण पूर्वक अथवा ओष्ठय निदर्शन पूर्वक वर्णों का उच्चारण करते है।

**'न वाह्यवाक्'** इस कथन से समझा जाता है कि ये वर्ण वाणी के स्थान से बाहर उच्चरित होते है। वे 'वाह्य वाक्' इस नाम से ज्ञेय है। तात्पर्य यह हैं कि जिस वर्ण का जिस स्थान से उच्चारण करना चाहिए। वही से अन्य स्थान वालों का उच्चारण जहाँ किया जाता है वहाँ वाह्य वाक् होता है। शिक्षानुसार इस प्रकार के उच्चारणों की दोषों में गणना की जाती है।[1]

**'न रुक्षवाक् स्यात्'** इस वाक्य से प्रतिपादित किया गया है कि उच्चारण इस प्रकार का हो कि वह कर्ण कुहर में प्रवेश करते ही श्रोता को आह्लादित कर दें।[2]

**'न उत्स्वरं वदेत्'** इस वाक्य के द्वारा इस शिक्षा में बताया गया है कि उच्चारण में अन्यथा स्वर न बोले अर्थात् दीर्घ का ह्रस्व, ह्रस्व का दीर्घ अथवा प्लुत नहीं बोलना चाहिए।[3]

**'न चानिमेषः'** इस वाक्यांश के द्वारा कहा गया है कि वर्णों का उच्चारण अनिमेष होकर न करें। अनुमान किया जाता है कि यहाँ अनिमेष पद दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है। प्रथम अर्थ उच्चारण की निरन्तरता है। द्वितीय अर्थ निमेष पतन का अभाव स्वीकार किया जा सकता है। प्रथम अर्थ स्वीकार करने पर कहा जा सकता हैं कि जब उच्चारण यति के बिना होता है तो दोष होता है। द्वितीय अर्थ में तो जब कोई पाठक वर्णों को अनिमेष होकर उच्चारित करता है तब वह उच्चारण श्रोताओं के लिए अच्छा नहीं होता है। इसीलिए दोनों प्रकार का उच्चारण नहीं करना चाहिए। यही शिक्षाकार का निर्देश है।[4]

---

1. न वाह्यवाक्। —मा०शि० 12/5
2. न रुक्षवाक् स्यात् ............................... । —मा०शि० 12/6
3. न चउत्स्वरं वदेत् ............................. । —मा०शि० 12/6
4. न चानिमेषो .................................... । —मा०शि० 12/6

**'न च गर्वमाचरेत्'** इस वाक्य में कहा गया है कि वर्णों का उच्चारण स गर्व न करें। क्योंकि स गर्व उच्चारण में वक्ता प्रशंसा का पात्र नहीं होता है। और अन्य स्थानों से वर्ण स्खलित होते है।[1] पाठक वर्णों का उच्चारण सरोष, सश्रम, सशोक, सहर्ष, सभय न करें।[2]

**'न चानुकूजत्पदमादितो ब्रुवन्'** इस वाक्य से समझा गया है कि उच्चारण के समय में आदि से पद बोलना चाहिए। अनुकूजन नहीं करना चाहिए अर्थात् पद के आदि वर्ण को पाठक इस प्रकार से उच्चारण करें कि उच्चारण किये जाने वाले वर्ण की तरह अन्य ध्वनि न हो।[3]

**'न नासिका नित्यमनुष्ठितं वदेत्'** इस वाक्य के द्वारा समझा गया है कि निरनुनासिका वर्ण को सानुनासिक नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के उच्चारण करने पर दोष होता है।[4]

**'न चापदान्ते श्रमपीडितः श्वसेन्'** इस श्लोक में कहा गया है कि उच्चारण काल में जहाँ पाद समाप्ति न हो वहाँ श्रम पीडित की तरह श्वास न लें। अर्थात् पाद के मध्य में इस प्रकार की श्वास न ले, जिस प्रकार श्रम खिन्न व्यक्ति श्वास लेता है। कहने का आशय है कि उच्चारण सुख पूर्वक करना चाहिए।[5]

**'न चोच्छसेदुक्तपदोऽप्यभीक्ष्णशः'** इस वाक्य से प्रतिपादित किया गया है कि उक्त पद को भृश न बोले यहाँ श्वास पद उच्चारण के अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार प्रतीति होती है।[6]

---

1. न च गर्वमाचरेत् ..........................। —मा०शि० 12/6
2. गजव्यवेषी बलवानतन्द्रितो व्यपेत रोषश्रमशोकहर्षभीः। —मा०शि० 12/6
3. न चानुकूजत्पदमादितो ब्रुवन् .........................। —मा०शि० 12/7
4. न नासिका नित्यमनुष्ठितं वदेत। —मा०शि० 12/7
5. न चापदान्ते श्रमपीडितः श्वसेन् .........................। —मा०शि० 12/7
6. न चोच्छ्वसेदुक्त पदोऽप्यभीक्ष्णशः। —मा०शि० 12/7

**'नातिनिष्पीडयेद्वर्णान्'** इस वाक्य के अनुसार जाना जाता है कि माण्डूकी शिक्षा में अन्य शिक्षाओं की तरह निष्पीडन पद का प्रयोग उसी अर्थ में किया गया है इसलिए निष्पीडित पद का अर्थ प्रयत्न की अधिकता से उच्चरित होता है। यहाँ प्रयत्न की अपेक्षा अधिक प्रयत्न के द्वारा उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार का उच्चारण माण्डूकी शिक्षा में दोषत्व को स्वीकार नहीं करता है।[1]

**'न चाव्यक्तानुदाहरेत्'** इस वाक्य के द्वारा निर्देश किया गया है कि वर्णों का उच्चारण स्पष्ट रूप से करना चाहिए। स्पष्ट उच्चारण से ही शब्दों के अर्थ का बोध होता है। जब वर्ण अस्पष्ट उच्चारित होते है। तब व्यक्त रूप दोष आता है।[2] यहाँ भी अर्न्तमुख (उपांशु) उच्चारण भी दोष को ही स्वीकार करता है।[3] शिक्षानुसार जो मनुष्य वर्णों को उपांशु त्वरित भय सहित उच्चारित करता है वह सन्देह ही प्राप्त करता है अर्थात् उसके तत्व को नहीं जानता है।

माण्डूकी शिक्षा में वृत्ति के स्वरूप निरूपण में द्रुत वृत्ति एवं विलम्बित वृत्ति को दोष के रूप में माना गया है। किन्तु अन्यत्र दोष होने पर भी अभ्यास, उपदेश आदि में गुणवत्ता मानी गई है। इसका भाव यह है कि जिस स्थल विशेष में उसी प्रकार उच्चारण करना शास्त्रीय दृष्टि से विहित है तो वहाँ वह दोष नहीं है।

**वर्णोच्चारणार्थ शक्याशक्य विचार–**

वर्णों के सम्यक् उच्चारण करने में अध्येता की शरीराकृति भी उपकारक होती है। माण्डूकी शिक्षा में वर्णोच्चारण में क्या क्षम्य है ? और क्या अक्षम्य ? दूसरे शब्दों में, इन वर्णों का उच्चारण करने में कौन समर्थ है ? और कौन असमर्थ है ? वर्णोच्चारण अथवा मन्त्रोच्चारण के लिए शरीरादि की स्थिति कैसी अपेक्षित है। इस उत्कंठा के

---

1. नातिनिष्पीडयेद्वर्णान् ............................ । —मा०शि० 12/8
2. न चाव्यक्तानुदाहरेत्। —मा०शि० 12/8
3. उपांशु त्वरितं चैव योऽधीतेऽवत्रसन्निव।
   अपिरूपसहस्त्रैस्तु संशयेष्वेव वर्तते।। —मा०शि० 16/3

समाधान में माण्डूकी शिक्षा में कहा गया है कि उन्नत दन्त वर्णों को बोलने में समर्थ नहीं है। विकृत ओष्ठ वाला भी वर्णोच्चारण में असमर्थ होता है और न ही नासिका प्रधान वर्णोच्चारक वर्णों का प्रयोग करना चाहिए। महाप्राणादि और कण्ठ तालव्यादि का प्रयत्न स्थान से उच्चारण किये जाने वाले वर्ण तत्–तत् स्थान प्रयत्नों के द्वारा उच्चारण कर्ता उच्चारण करने में असमर्थ होता है। हिन्दी भाषा में 'गद्गद' शब्द का अर्थ 'तोतला' बोलने वाला बताया गया है। जब उच्चारण कर्ता बीच–बीच में विराम लेकर उच्चारण करता है तो इस प्रकार के उच्चारण को भाषा में हकलाना कहते है।[1] अन्य शिक्षा–ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है।[2]

अंततः प्रश्न यह उठता है कि कौन विधिवत् वर्णोच्चारण करने में समर्थ है। इस जिज्ञासा के समाधान में माण्डूकी शिक्षा में कहा गया है कि जिसकी प्रकृति सुन्दर हो, शरीर एवं मन का स्वास्थ्य ठीक हो, दन्तोष्ठ विकार रहित हो, वही वर्णों के उच्चारण में समर्थ है। यहाँ दन्तोष्ठ पद उच्चारणावयवों का ही उपलक्षण है। इसीलिए जिसके सभी उच्चारण अवयव अपने–अपने व्यापार करने में समर्थ है। वह वर्णोच्चारण में समर्थ होता है। तो तत्व पूर्वक पढ़ता है। वह शिक्षा में पार पा सकता है।[3]

---

1. न करालो न लम्बोष्ठो न च सर्वानुनासिकः।
   गद्गदो बद्धजिवह्श्च प्रयोगान्वक्तुमर्हति।। —मा०शि० 15/2
2. न करालो न लम्बोष्ठो न च सर्वानुनासिकः।
   गद्गदो बद्धजिवह्श्च प्रयोगान्वक्तुमर्हति।। —ना०शि 2/8/12
   न करालो न लम्बोष्ठो नावव्यक्तो नानुनासिकः।
   गद्गदो बद्धजिवह्श्च न वर्णान्वक्तुमर्हति।। —या०शि० 24–25
3. प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ।
   अधीतं येन तत्वेन सशिक्षा पारयिष्यति।। —मा०शि० 15/3

याज्ञवल्क्य शिक्षा उक्त कथन का समर्थन करती है।[1] माण्डूकी शिक्षा में कहा गया है कि लोग गुणों के कारण ही पूजे जाते है। इसीलिए आगत शास्त्र ही श्रेष्ठ होते है। कोई ज्ञान के कारण सम्मान के पात्र होते है, कोई वर्णों के सुन्दर प्रयोग से प्रशंसा के पात्र होते है, किन्तु मुझमें एक भी गुण नहीं है। यह अवश्य आश्चर्य है।[2]

********

---

1. प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ।
   प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान्वक्तुमर्हति।। —या०शि० 25, 26
2. आगमैरधिकाः केचिद्विज्ञानैरपरेऽधिकाः।
   प्रयोग सौष्ठवादन्ये नाहमस्मीति विस्मयः।। —मा०शि० 15/4

# अष्टम् अध्याय

## (स्वर प्रकरण)

वेदार्थ ज्ञान के लिए व्याकरणादि उपकारक है, उसी प्रकार स्वर भी। वेदाध्ययन में स्वरों की अत्यधिक महत्ता है। वैदिक मन्त्रों के शुद्ध पाठ एवं समुचित अर्थबोध के लिए स्वरों का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। स्वर ज्ञान से रहित वेद रूपी सागर को पार नहीं किया जा सकता। वेद में स्वरों की प्रधानता का एक मुख्य कारण अर्थ नियामकता भी है अर्थात् शब्द के एक होने पर भी स्वर–भेद से उसका अर्थ–भेद हो जाया करता है। स्वर के उच्चारण में एक साधारण त्रुटि अनर्थ का कारण बन जाती है।[1]

संस्कृत वाङ्मय में स्वर शब्द अनेकार्थक रूप में प्रयुक्त है। षड्विंश ब्राह्मण में प्रजापति ही स्वर के अर्थ में प्रयुक्त है।[2] ताण्ड्य ब्राह्मण में स्वर प्राण अर्थ में देखा जाता है।[3] गोपथ ब्राह्मण स्वर शब्द सूर्य[4] एवं सोम[5] इन दोनों अर्थों में कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में पशु अर्थ में[6] एवं शतपथ ब्राह्मण में लक्ष्मी पद[7] का प्रयोग किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में उदात्तादि विशिष्ट उच्चारण में स्वर पद प्रयुक्त है।[8] ऋक्संहिता में स्वर युक्त शब्दात्मिक वाणी स्वर पद से कही गई है।[9] ऋग्वेद प्रातिशाख्य[10]

---

1. मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
   स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।–पा०शि० 52
2. प्रजापतिः स्वराः। –षड्विं०ब्रा 3/6
3. प्राणः स्वराः। –ताण्ड०ब्रा० 7/9/10
4. एष ह वै सूर्यो भूत्वाऽमुस्मिन् लोके स्वरित।
   तद्यत् स्वरति तस्मात्स्वरः। –गो०ब्रा० 1/5/14
5. यदाह स्वरोऽसीति सोमं वा एतदाह। –गो०ब्रा० 1/5/14
6. पशवो वै स्वराः। –ऐत०ब्रा० 3/24
7. श्रीर्वै स्वरः। –शत०ब्रा० 11/4/2/10
8. तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिद्दृक्षन्त एव। –शत०ब्रा० 14/4/1/27
9. अधि स्वरे। –ऋ०सं० 8/72/7
10. एते स्वराः। –ऋ०प्रा० 1/3

वाजसनेयि प्रातिशाख्य[1], तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[2] एवं ऋक्तंत्र[3] में स्वर का प्रयोग वार्णिक स्वर के अर्थ में किया गया है। चतुरध्यायिका में भी अक्षर को स्वर कहा गया है।[4] अक्षर ही उच्चनीचादि धर्मो को मान करके उदात्तादि संज्ञा के द्वारा ज्ञेय है।[5] आपिशलि शिक्षा में[6] एवं पाणिनीय शिक्षा[7] में स्वर का प्रयोग वार्णिक अर्थ में किया गया है। नारदीय शिक्षा में क्रुष्टादि पद से स्वर कहा गया है।[8] यही षड्जादि स्वरार्थ बोध में स्वीकृत है।[9]

याज्ञवल्क्य शिक्षा[10] एवं पाणिनीय शिक्षा[11] में स्वर उदात्तादि में अर्थ में प्रयुक्त है। माण्डूकी शिक्षा में प्रधान रुप से साम स्वर ही स्वर पद से प्रयुक्त है।[12] एवं यही स्वार पद से भी स्वर का पर्याय कहा गया है।[13] ऋग्वेद प्रातिशाख्य

---

1. तत्र स्वराः प्रथमम्। —वा०प्रा० 8/2
2. षोडशादितः स्वराः। —तै०प्रा० 1/5
3. अइति आइति स्वराः। —ऋ०तं० 1/2
4. स्वरोऽक्षरम्। —च०अ० 1/93
5. समानयमेऽक्षर मुच्चैरूदात्तम्।
   नीचैरनुदात्तम्। आक्षितम् स्वरितम्।। —च०अ० 1/14–16
6. विवृत करणाः स्वराः। —आ०शि०सू० 3/7
7. स्वरा विंशतिरेकश्च। लृकारः प्लुत एव च। —पा०शि० 4–5
8. तृतीय प्रथम क्रुष्टान्त्याहवरकाः स्वरान्। —ना०शि० 1/1/11
9. षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारोमध्यमस्तया।
   पंचमो धैंवतश्चैव निषादः सप्तमः स्वरः। —ना०शि० 1/2/5
10. त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः। —या०शि० 6
11. उदात्तश्चानुदात्तश्च सवरितश्च स्वरास्त्रयः। —पा०शि० 11
12. षड्जऋषभ गान्धारो मध्यमः पंचमस्तया।
    धैवतश्च निषादश्च स्वराः सप्तेह सामसु।। —मा०शि० 1/8
13. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचितस्तया।
    चतुर्विधः स्वरो दृष्टः स्वरचिन्ता विशारदै।। —मा०शि० 2/5

में स्वर ही यम कहे गये है।[1]

वेदों में शब्द स्वरूप के सन्देह काल में स्वर ही निर्णायक होते है। यथा–'नतस्य प्रतिमा अस्ति।'[2] मन्त्र के दो अर्थ प्रतीत होते हैं, प्रथम 'नम्रीभूतस्य प्रभोः प्रतिमा' एवं द्वितीय 'तस्य प्रतिमा नास्ति।' संहिता का क्या अर्थ है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि द्वितीय अर्थ ही सर्वथा उचित प्रतीत होता है क्योंकि स्वर शास्त्र के अनुसार एक पद में एक ही उदात्त होता है। किन्तु यहाँ दोनों पदों में उदात्त है। अतः दोनों को पृथक कहा जा सकता है। संहिता के अनुरूप द्वितीय अर्थ ही उचित प्रतीत होता है।

स्वरों के वेद ज्ञान में उपकारक वर्ण स्वरूप, फल विषयक एवं निर्णायक होने से अनुशीलन करके ही प्राचीन ग्रन्थों में, यज्ञादि में एवं पाठ में स्वरों के ज्ञान की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में सस्वर वाची ऋत्विक् ही यज्ञ कर्म करने योग्य होता है। क्योंकि यज्ञों में सस्वर वाची ऋत्विक ही प्रशंसा पात्र समझा जाता है।[3] शिक्षाओं में स्वरों की प्रशंसा में कहा गया है कि जो स्वर हीन वेदों का उच्चारण करते है वह अध्येता व्याधि पीड़ित होता है।[4] याज्ञवल्क्य शिक्षा में स्वर का वेदार्थ बोध में महत्व स्वीकार करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वर वर्ण हीन सभ्रष्ट वेदों के उच्चारण में प्रयोग करता है वह अति शीघ्र समाप्त हो जाता है।[5] नारदीय शिक्षा के अनुसार, यज्ञों में स्वर वर्णों से हीन जो मन्त्र यजमान के द्वारा प्रयोग किए जाते है,

---

1. सप्तस्वरा ये यमास्ते। —ऋ०प्रा० 13/44
2. माध्य० सं० 32/2
3. वाचिस्वरमिच्छेत। तया स्वर सम्पन्नयार्त्विज्यं
   कुर्यात्। तस्माद् यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव। —शत०ब्रा० 14/4/1/27
4. अवक्षरं ह्यनायुष्यं विस्वरं व्याधिपीडितम्। —पा०शि० 53
5. स्वरहीनं तु योऽधीते मन्त्रं वेदविदो विदुः।
   न साधयति यजूंषि भुक्तम व्यंजनं यथा। —या०शि० 41

वह यजमान का सर्वस्व नष्ट करते है।[1] माण्डूकी शिक्षा में कहा गया है कि जो वेद पाठी वेदों को हस्तहीन एवं स्वर हीन वर्णो के रहित अध्ययन करता है। वह अति शीघ्र उन्हीं वेदों के द्वारा नष्ट हो जाता है।[2]

अंततः स्वराष्ट्रक्रम में वेंकट माधव ने स्वर के महत्व को स्वीकार करके कहा है कि दीपक के साथ जाता हुआ मनुष्य पथ से विचलित नहीं होता, उसी प्रकार स्वर शास्त्रज्ञ वेद रूपी समुद्र को पार करता है अर्थात् स्वर की सहायता से वेदों के रहस्यों का जिज्ञासु शीघ्र ही उसमें गति प्राप्त करता है।[3]

वैदिक वाङ्मय में स्वर का अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है। परन्तु प्रसंग में स्वर का उदात्तादि उच्चारण–धर्म के अर्थ में ही अपेक्षित है।

**स्वर का स्वरूप एवं स्वर विभाजन–**

षड्जादि स्वरों का अर्न्तभाव माण्डूकी शिक्षा में स्वीकार किया गया है। शिक्षानुसार सात साम स्वरों में चार स्वर ही वेदों में उपकारक हैं। छन्दों के लिए उपकारक शेष तीन उनमें नहीं देखे जाते है।[4] माण्डूक ऋषि के मत में षड्ज, ऋषभ, धैवत, निषाद ये चार स्वर ही छन्दों में देखे जाते है। शेष उनमें दृश्य नहीं है।[5]

---

1. प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो विमन्त्रः प्रयुज्यते।
   यज्ञेषु यजमानस्य रूषत्यायुः प्रजां पशून्।। —ना०शि० 1/1/6
2. हस्ताद् भ्रष्टः स्वराद् भ्रष्टो न वेदफलमश्नुते।
   हस्तहीनन् तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।। —मा०शि० 3/3
3. अन्धकारे दीपिकाभिः गच्छन स्खलति क्वचित्।
   एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटाः इति।। —स्व०रा०क्र० 1/8
4. सप्त स्वरास्तु गीयन्ते सामभिः सामगैर्बुधैः।
   चत्वार एव छन्दोभ्यस्त्रयस्तत्र विवर्जिताः।। —मा०शि० 1/7
5. प्रथमावन्तिमौ चैव वर्त्तन्ते छन्दसि स्वराः।
   त्रयो मध्या निवर्त्तन्त्ते मण्डूकस्य मतं यथा।। —मा०शि० 2/3

उनमें ऋषभ को स्वरित, धैवत को प्रचित, निषाद को उदात्त एवं षड्ज को अनुदात्त कहा गया है।[1] यद्यपि माण्डूकी शिक्षा में ऋषभ, धैवत, निषाद, षड्ज स्वरों का उदात्तादि स्वरों में ही अर्न्तभाव समझा गया है। किन्तु याज्ञवल्क्य शिक्षा में निषाद और गान्धार उदात्त है ऋषभ धैवत अनुदात्त है एवं षड्ज, मध्यम और पंचम स्वरित है।[2] उदात्तादि में षड्जादि के अर्न्तभाव का क्या अभिप्राय है ? इस जिज्ञासा के समाधान में कहा जाता है। कि यथा उदात्तादि की उत्पत्ति हुई उसी प्रकार षड्जादि स्वरों की भी हुई है। अर्थात् ताल्वादि स्थान में जिन–जिन भाव विशेषों के द्वारा उदात्तादि की उत्पत्ति हुई है। उन्हीं भागों के द्वारा ही षड्जादि स्वरों की उत्पत्ति हुई है। अन्यथा षड्जादि स्वरों की उदात्तादि स्वरों के समान स्वरूपता कैसे होती। इसी प्रकार षड्जादि भी उदात्तादि के समान ताल्वादि भागों में उत्पन्न होते है। इसीलिए उनकी तत्–तत् रूपता है इस प्रकार की एक रूपता सदा इसमें अर्न्तभाव रूप में स्वीकृत है।

वैदिक वाङ्मय में स्वरों की संख्या के विषय में मतैक्यता नहीं है। चतुरध्यायिका में उदात्त, अनुदात्त स्वरित ये तीन स्वर कहे गये है।[3] माण्डूकी शिक्षा में उदात्त अनुदात्त स्वरित एवं प्रचय इन चार स्वरों का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] किन्तु नारदीय शिक्षा में स्वर पाँच प्रकार के कहे गये है, वे उदात्त, अनुदात्त, स्वरित प्रचित एवं निघात है।

---

1. द्वितीयं स्वरितम्प्राहुः षष्ठ प्रचित उच्यते।
   उच्चं विद्यान्निषादं तु नीचं षड्जमुदात्द्दतम्।। —मा०शि० 2/4
2. उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतो।
   शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपंचमाः।। —या०शि० 7
3. समानयमे उच्चैरूदात्तम्। नीचैरनुदात्तम्। आक्षिप्तं स्वरितम्।
   —च०अ० 1/14, 15, 16
4. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचितस्तथा।
   चतुर्विधः स्वरो दृष्टः स्वर चिन्ता विशारदैः।। —मा०शि० 2/5

यहाँ स्वरित ही प्रचय के परे रहते हनन करने से निघात पद से कहा जाता है। निघात ही प्रचय के अभाव में शुद्ध स्वरित होता है।[1] महाभाष्य में स्वरों की संख्या सात बतलाई गई है। वे उदात्त, उदात्ततर है। ये स्वर अन्य से विशिष्ट है। इसीलिए एक श्रुति इत्यादि स्वर पद से कहे गये है।[2] माण्डूकी शिक्षा में भी सात स्वरों का उल्लेख है। किन्तु ये स्वर महाभाष्य में कहे गये स्वरों से भिन्न है। ये स्वर षड्जादि नामों से प्रसिद्ध है।[3] याज्ञवल्क्य शिक्षा में ये सात स्वर गान्धर्व वेदीय कहे गये है।[4] यही गान्धर्व वेदीय स्वर षड्जादि स्वर है। जो वेद में उदात्तादि स्वर से ज्ञेय है। इन्हीं षड्जादि सात स्वरों का उदात्त अनुदात्त एवं स्वरित में अर्न्तभाव समझा गया है।[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वरों के भेद में एक रूपता दृष्टिगोचर नहीं होती है। किन्तु आलोचना करने पर प्रतीत होता है कि मुख्य स्वर उदात्त अनुदात्त एवं स्वरित ही है। इस कथन की पुष्टि चतुरध्यायिका[6] एवं ऋग्वेद प्रातिशाख्य[7] में की गई है।

---

1. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरित प्रचिते तथा।
   निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पंचधा।। —ना०शि० 1/7/19
2. सप्त स्वराः भवन्ति _ उदात्तः, उदात्ततरः,
   अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते,
   यउदात्तः सोऽन्येन विशिष्ट, एक श्रुतिः सप्तमः। —म०भाष्य० 1/2/33
3. षड्ज ऋषभ गान्धारो मध्यमः पंचमस्तथा।
   धैवतश्च निषादश्च स्वराः सप्तेह सामसु।। —मा०शि० 1/8
4. गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः। —या०शि० 6
5. उच्चौ निषाद गान्धारौ नीचावृषभ धैवतो।
   शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यम पंचमाः। —या०शि० 7
6. समानयमे उच्चैरुदात्तम्। नीचैरनुदात्तम्।
   आक्षिप्तं स्वरितम्। —च०अ० 1/14, 15, 16
7. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः। —ऋ०प्रा० 3/1

**उदात्त का स्वरूप एवं उच्चारण प्रक्रिया–**

उदात्त का शाब्दिक अर्थ है ऊपर उठाकर ग्रहण किया हुआ। 'उच्चैरादीयते इति उदात्तः' अर्थात् जिस ध्वनि के उच्चारण में ध्वनि का ग्रहण उच्चसुर में होता है, वह उदात्त है। उदात्त की व्युत्पत्ति आचार्यो ने अनेक प्रकार से की है। सामान्य रूप से उत् पूर्वक आपूर्वक दा धातु में 'क्त' प्रत्यय करने पर उदात्त शब्द निष्पन्न होता है। सर्वप्रथम उदात्त का प्रयोग गोपथ ब्राह्मण में किया गया है।[1] निरूक्त में भी उदात्त का उल्लेख मिलता है।[2] जो पारिभाषिक कार्यो में ही विहित है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में उदात्त शब्द व्यवहरित है।[3] किन्तु आयाम संज्ञा से। आयाम का क्या आशय है। ? इस प्रश्न के उत्तर में उव्वट ने लिखा है कि आयाम पद से गात्रों का उर्ध्वगमन जाना जाता है।[4] अर्थात् जिसके उच्चारण में वायु निमित्त होने से गात्रों का उर्ध्व गमन होता है। और तदन्तर जो वर्ण उत्पन्न होता है उसे उदात्त समझना चाहिए। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में उदात्त के विषय में प्रतिपादन किया गया है कि गात्रों के उर्ध्व गमन से जो वर्ण उच्चरित होता है, वह उदात्त है।[5] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के माहिषेय भाष्य में उदात्त का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि जिन वर्णों के उच्चारण में गात्रों की दीर्घता, स्वर की कठिनता एवं कण्ठ विवर की संवृतता होती है, वे उदात्त होते है।[6] अर्थात् उच्च स्वरों के द्वारा जो स्वर ऊपर खींचा जाता है, वह उदात्त संज्ञक होता है। शौनक चतुरध्यायिका में "उच्चैरूदात्तम्"

---

1. स्वरितोदात्त एकाक्षरं ओकारं ऋग्वेदे। –गो०ब्रा० 1/1/25
2. अस्या इति चास्येति चौदात्तं प्रथमादेशे। –निरू० 4/4
3. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः। –ऋ०प्रा० 3/1
4. आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणां,
   तेन य उच्यते स उदात्तः। –ऋ०प्रा० 3/1 (उ०भा०)
5. समान स्थाने मूर्ध्व आसन्ने उपरिभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणः
   उदात्त गुणकत्वात् उदात्त संज्ञो भवति। –तै०प्रा०(वै०भ०) 1/38
6. आयामो दारूण्यमणुता स्वस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य।–तै०प्रा०(माहि०भा०)22/9

कहा गया हैं। यहाँ 'उच्चै' पद देखकरके हिवट्नी महोदय ने सूत्र की व्याख्या में कहा है कि जो उच्च स्वर के द्वारा उच्चारित होता है। वह उदात्त होता है। किन्तु पर्यालोचन के द्वारा जहाँ 'उच्चै' पद के द्वारा उर्ध्व गमन ही अभिप्सित है। "समानयमे" यह पद सूचित करता है कि एक ही स्थानों में जब वर्ण उर्ध्व भाग से उच्चरित होते है तब उदात्त कहे जाते है।[1]

शिक्षा–ग्रन्थों में भी उदात्त के उच्चारण–विधि के सन्दर्भ में पर्याप्त विवेचन मिलता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में उदात्तादि धर्म ही स्वर रूप में समझे जाते है। स्वर व्यंजन भी सस्वर कर्ता है। ऐसा शिक्षाकार का मत है। तत्–तत् स्थानों में वायु के अभिघात से ही स्वर उत्पन्न होते है। किन्तु यह अभिघात एक नहीं है उनमें उर्ध्व भाग, अधो भाग और मध्य भाग इस प्रकार अवान्तर भागों को परिकल्पित करके उदात्तादि समझे जाते है।[2] आपिशलि शिक्षा के अनुसार जब सभी अंगो का प्रयत्न तीव्र होता है। कण्ठविल संकुचिज होता है और संकोच से वायु की तीव्र गति से ध्वनि होती है। जो रौक्ष्य होता है। वही उदात्त पद से कहा गया है।[3] पाणिनीय शिक्षा सूत्र में आपिशलि शिक्षा के अनुसार उदात्त के स्वरूप को बताया गया है। यहाँ भी स्वर की रूक्षता उदात्त के नाम से ज्ञेय हैं।[4] और अन्य उच्चारण 'उच्चै' को लेकर के उदात्त की व्यवस्था की गई है। अर्थात जिस स्वर के उच्चारण में सामान्य रूप से उच्च स्वर होता है, वह स्वर उदात्त होता है।[5]

---

1. उच्चैरुदात्तम्। —च०अ० 1/14
2. वायोरुर्ध्वं गच्छतः शरीरस्य वक्षः स्थलस्य
   कण्ठस्य भ्रूमध्यस्य च आयामो भवति। —या०शि०
3. सर्वांगानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठ विलस्य चाणुत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति मतुदात्तमाचक्षते। —आ०शि० 8/20
4. तत्र यदानुसारि प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्राणां निग्रहः कण्ठ विलस्य चाल्पत्वं, स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति तमुदात्तमाचक्षते।—पा०शि०सू० 8/21
5. अर्थोऽयं उच्चनीचस्थानवस्थितत्वात् प्रसिद्धिः
   इत्यस्य वार्तिककस्य व्याख्यानात् ध्वन्यते। —म०भाष्य० 1/2/29–30

किन्तु यह मत महर्षि पतंजलि का नहीं है। क्योंकि उन्होने लिखा है कि वर्णों का उच्चारण स्थान तीन भागों में विभक्त करके उच्च स्थान के द्वारा उदात्त का, निम्न भाग के द्वारा अनुदात्त का और मध्य भाग के द्वारा स्वरित का उच्चारण होता है।[1] माण्डूकी शिक्षा में यद्यपि उदात्त का उल्लेख है। किन्तु यहाँ स्वरों का उदात्तादित्व माना गया है। व्यंजन ही स्वरों के अनुवर्तन है। इसीलिए वे ही उदात्तादि धर्म से सुशोभित होते है। किन्तु इनके उदात्तादि धर्म के व्यवहार में स्वर हेतु है।[2] माण्डूकी शिक्षा में उदात्त के उच्चारण के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया और जो कुछ भी कहा गया है वह सब अति न्यून है जिसके द्वारा उदात्त के ऊपर विशेष प्रकाश नही पड़ता है। फिर भी चतुरध्यायिका में कहा गया है कि उदात्त सम्बन्धी दोनों को समझना चाहिए। उदात्त अनुदात्त स्वरितों में उदात्त की ही प्रधानता मानी गई है। पद के जिस अंश में उदात्त होता है वह अंश अर्थ की दृष्टि से महान होता है। आचार्य यास्क ने भी उदात्त का अर्थ उत्कृष्ट माना है।[3]

**अनुदात्त का स्वरूप एवं उच्चारण प्रक्रिया–**

जो उदात्त न हो वह अनुदात्त है। अर्थात् उदात्त भिन्न को ही अनुदात्त समझना चाहिए। 'नीचैरादीयते' इस विग्रह के द्वारा उच्चारण स्थान के निम्न भाग से जो स्वर उच्चरित होता है वह अनुदात्त होता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में अनुदात्त विश्रम्भ पद से समझा गया है। विश्रम्भ का अर्थ गात्रों का अधोगमन कहा गया है। अर्थात् जिस वर्ण का उच्चारण ताल्वादि स्थानों के अघोभाग से होता है। वह वर्ण अनुदात्त संज्ञक होता है।[4]

---

1. समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः ?
   उरः कण्ठः शिर इति ..........................। –म०भाष्य० 1/2/29–30
2. स्वरः उच्चः स्वरोनीचः स्वरः स्वरित उच्यते।
   व्यंजनान्यनुवर्तन्ते यत्रासौ तिष्ठति स्वरः।। –मा०शि० 5/11
3. तीव्रार्थ तरमुदात्तम्। –निरु० 4/25
4. विश्रम्भो नामाधोगनं गत्राणां वायुनिमित्तम्
   तेन यः उच्यते सोऽनुदात्तः। –ऋ०प्रा० (उ०भा०) 3/1

यद्यपि अनुदात्तादियों की निष्पत्ति में अवयवों के उच्चारण की मुख्य भूमिका स्वीकृत की गई है। किन्तु उच्चनीचादि का विभाजन स्थनों में ही कह सकते है। इसीलिए जब उच्चारण के अवयव नीचे जाते है तो स्थानों का अधोभाग स्पर्श होता है। तभी अनुदात्त संज्ञक स्वर का जन्म होता है। चतुरध्यायिका में भी नीचैरनुदात्तम् सूत्र से अनुदात्त समझना चाहिए। यहाँ 'नीचैः' पद के द्वारा ताल्वादि स्थान ही अभिप्सित है। यद्यपि इसकी व्याख्या में ह्विटनी महोदय ने 'नीचैः' के उच्चारण से ही अनुदात्त कहा है।[1] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के माहिषेय भाष्य में अनुदात्त का लक्षण बताते हुए कहा है कि जब नीच प्रयत्न के द्वारा गात्रों की शैथिल्यता से कण्ठ विवार का विस्तार होने से जो वर्ण उत्पन्न होता है। वह अनुदात्त संज्ञक और मृदु होता है।[2] यही उव्वट का भी कथन है कि समान स्थान के अधोभाग में प्रयत्न करने पर जो वर्ण उच्चरित होता है वह अनुदात्त कहलाता है। अर्थात् उदात्त विरुद्ध गुण जिस वर्ण का होता हे उसको अनुदात्त संज्ञक समझना चाहिए।[3]

शिक्षा–ग्रन्थों में भी अनुदात्त का वर्णन है। आपिशलि शिक्षा के अनुसार जब सर्वाङ्गानुसार प्रयत्न मन्द होता है, तब गात्रं की शिथिलता से कण्ठ विलय का विकास हो जाने से और वायु की गति मन्द हो जाने से जो स्वर उत्पन्न होता है वह स्निग्ध होता है। उसी पद को विद्वान अनुदात्त कहते है।[4]

---

1. नीचैरनुदात्तम्। —च०अ० 1/15
2. तै०प्रा० (माहि०भाष्य) 1/39
3. तै०प्रा० (उ०भा०) 1/39
4. यदा तु मन्द्रः प्रयत्नो भवति, तदा गात्रस्य ससनं
   कर्ण विलस्य महत्वं स्वरस्य, च वायोर्मन्दगतित्वात्–
   स्निग्धता भवति, तमनुदात्तं प्रचक्षते। —आपि०शि० 8/21

पाणिनीय शिक्षा सूत्र[1] में अनुदात्त के स्वरूप को आपिशलि शिक्षा की तरह कहा गया है। माण्डूकी शिक्षा में स्वर ही नीचः (अनुदात्त) होता है।[2] किन्तु उसके स्वरूप की जिज्ञासा के समाधान में विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। अतः स्पष्ट होता है कि अनुदात्त के उच्चारण में गात्रों को आरामदेह की अवस्था में रखकर स्निग्ध स्वर से कण्ठ को आराम से विस्तारित करके अनुदात्त का उच्चारण किया जाता है।

**स्वरित का स्वरूप एवं उच्चारण प्रक्रिया–**

स्वृ शब्द उपतापार्थक धातु से 'स्वर' शब्द निष्पन्न होता है। स्वर जिसमें हुआ हो इस प्रकार के अर्थ में 'अच्' प्रत्यय के योग से स्वर शब्द की व्युत्पत्ति होती है।[3] अथवा स्वर आक्षेपार्थक धातु से भी 'घ' प्रत्यय करने पर स्वर शब्द बनता है। तत्पश्चात् 'अच्' प्रत्यय के योग से स्वरित पद निष्पन्न होता है। जिस स्थल में गात्रों का आक्षेप (तिर्यक्गमन) होने पर जो स्वर उत्पन्न होता है, वह स्वरित संज्ञक कहलाता है।

शिक्षाओं एवं प्रातिशाख्यों में उदात्त अनुदात्त के साथ स्वरित का भी प्रयोग स्वतन्त्र रूप से किया गया है। प्रातिशाख्यों में स्वरित का अति रमणीय विवेचन देखा जाता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार जब गात्रों का आपेक्ष होता है तब स्वरित स्वर होता है।[4] स्वरित का क्या आशय है ? इस जिज्ञासा के समाधान में आचार्य उव्वट ने लिखा है कि गात्रों का तिर्यक गमन ही आपेक्ष नाम से जाना जाता है। अर्थात् वायु के निमित्त से जब गात्रों का तिर्यक गमन होता है। तभी जो स्वर उत्पन्न होता है वही

---

1. यदा मन्दः प्रयत्नो भवति, तदा गात्रानामं प्रसन्न्त्वं
   कण्ठविलस्य च बहुलं स्वरस्य च वार्योमन्दगतित्वात्–
   स्निग्धता भवति। तमनुदात्त प्रचक्षते। –पा०शि०सू० 8/22
2. स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव तु। –मा०शि० 6/1
3. तदस्य संजातं तारकादिभ्यः इतच्। –अष्टा० 5/2/36
4. उदात्तानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।
   आयाम विश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते।। –ऋ०प्रा० 3/1

स्वरित संज्ञक होता है।[1] ऋग्वेद प्रातिशाख्य में अन्यत्र कहा गया है कि जिस अक्षर में उदात्त अनुदात्त इन दोनों में समाहार होता है, उसे स्वरित संज्ञक समझना चाहिए।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[3] एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य[4] में उदात्त अनुदात्त के समाहार को स्वरित कहा गया है। चतुरध्यायिका में भी आपेक्ष ही स्वरित का हेतु कहा गया है। जो स्वर आक्षिप्त किया जाता है वही स्वरित पद से ज्ञेय है। आक्षिप्त यहाँ स्वरित को कहा गया है।[5]

शिक्षा–ग्रन्थों में स्वरित के स्वरूप के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। नारदीय शिक्षा में स्वरित के स्वरूप में कहा गया है कि उच्च स्वर तथा नीच स्वर के मध्य एक साधारण श्रुति होती है उस स्वार को ही स्वरित कहते है।[6] याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार उदात्त और अनुदात्त के संयोग से जो स्वर उच्चरित होता है वही स्वरित कहलाता है।[7] आपिशलि शिक्षा सूत्र में भी स्वरित के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि जहाँ उदात्त एवं अनुदात्त में सन्निपात हो वह स्वरित पद से ज्ञेय है।[8] पाणिनीय शिक्षा सूत्र में दोनों स्वरों के सन्निकर्ष से स्वरित कहा गया है।[9] व्यास शिक्षा के अनुसार उदात्त अनुदातत स्वरों के समाहार को स्वरित कहा गया है।[10] माण्डूकी

---

1. आक्षेपो नाम तीर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तिम्। —ऋ०प्रा० 3/1 (उ०भा०)
2. एकाक्षर समावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः। —ऋ०प्रा० 3/3
3. समाहारः स्वरितः। —तै०प्रा० 1/40
4. उभयवान्स्वरितः। —वा०प्रा० 1/110
5. आक्षिप्तं स्वरितम्। —च०अ० 1/16
6. उच्चनीचस्य यन्मध्ये साधारणमिति श्रुतिः।।
   तं स्वारं स्वर संज्ञायाम् प्रतिजानन्ति शैक्षिकाः।। —ना०शि० 1/8/7
7. उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वार उच्चते। —या०शि० 228 (शि०सं०)
8. उदात्तानुदात्तस्वरसन्निपातत् स्वरित इति। —आपि०शि०सू० 8/22
9. उदात्तानुदात्तस्वर सन्निकर्षात् स्वरित इति। —पा०शि०सू० 8/23
10. भवेतत्र समाहारः स्वरितश्चोच्चनीचयोः। —व्या०शि०

शिक्षा में स्वरित स्वरूप के विषय में कुछ भी उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता है। किन्तु स्वरित के भेद अवश्य कहे गये हैं।

अतः पर्यालोचन के द्वारा जाना जाता है कि उदात्त अनुदात्त स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थान में गात्रों के आपेक्ष से समाहार सन्निपात एवं सन्निकर्ष से स्वरित कहा गया है। उनमें अन्त्य तीन समानार्थक है। किन्तु उदात्त अनुदात्त में समाहार का क्या अर्थ है ? इस विषय पर अवश्य मन आन्दोलित होता है। क्योंकि वैदिक भाषा में इस प्रकार का कोई स्वर नहीं है। जो उदात्त अनुदात्त का समाहार रूप हो फिर भी एक ही स्वर कहीं उदात्त रूप से और कहीं अनुदात्त रूप से समझा जाता है। यदि उदात्त अनुदात्त वर्णों का समाहार स्वरित हो तब दोनों वर्णों की स्वरित संज्ञा होगी। किसी अक्षर विशेष की नहीं। इसीलिए उदात्त अनुदात्त का समाहार रूप प्रतीयमान अर्थ भी उचित नहीं है। तब किन दो वर्णो का समाहार स्वरित होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में काशिका में कहा गया है कि उदात्त अनुदात्त वर्ण धर्मो का समाहार ही स्वरित का कारण स्वीकार किया गया है। इसलिए उदात्त अनुदात्त वर्ण धर्मों का ही समाहार उचित होता है। जिसके द्वारा उदात्त अनुदात्त वर्ण धर्मों के एक अच् में समाहित हो जाने के कारण जो संज्ञा होती है। वह स्वरित नाम से ज्ञेय है।[1]

शिक्षा–ग्रन्थों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि समाहार का वस्तुतः तात्पर्य जतुकाष्ठवत् मिश्रण से है एवं यह व्यवस्था केवल स्वतन्त्र स्वरित के लिए है। उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त जब स्वरित में परिवर्तित हो जाता है तो उसका स्वरितत्व दुग्धजलवत् होता है। वास्तव में स्वतन्त्र स्वरित ही मुख्य स्वरित है।

---

1. उदात्तानुदात्तस्वरसमाहारौ योऽच् स स्वरितसंज्ञो भवति।
समार्थ्याच्चात्र लोकवेदयोः प्रसिद्धौ गुणावेववर्णधर्मावु–
दात्तानुदात्तावेव गृहयेते नाचौ। तौ समाहियेते यस्मिन्नचि
तस्य स्वरित इत्येषा संज्ञा विधीयते। —आष्टा०(काशिका) 1/2/31

उदात्त के बाद आने वाले अनुदात्त का स्वरित में परिवर्तन तो उदात्त के प्रभाव के कारण होता है। स्वरित में उदात्त का एवं अनुदात्त का कितना अंश होता है, इस प्रश्न के उत्तर में ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कहा गया है कि यदि स्वरित स्वराघात में उच्चरित होने वाला स्वर एक मात्रिक होगा। तो उसकी प्रारम्भिक आधी मात्रा उदात्त से उच्चतर उच्चरित होगी। और यदि स्वरित स्वर की मात्रा दीर्घ अथवा प्लुत होगी। तो उसकी प्रारम्भिक एक मात्रा अथवा डेढ़ मात्रा उदात्त से उच्चतर उच्चरित होगी। इसी प्रकार शेष मात्रा उदात्त के समान–श्रुति में उच्चरित होगी।[1]

अतः स्पष्ट है कि उदात्त तथा अनुदात्त का सम्मिश्रित स्वर होने के कारण इसका उच्चारण उच्चारणावयवों के उच्चतम या निम्नतम भाग से न करके मध्य भाग से किया जाता है। इस प्रकार इसका उच्चारण तिर्यक् रुपेण किया जाता है।

**स्वरित भेद–**

शिक्षा–ग्रन्थों में स्वरित के बधुविध भेद प्राप्त होते है। किन्तु स्वरित भेद में शिक्षा ग्रन्थों में साम्यता दृष्टिगोचर नहीं होती है। किसी शिक्षा में पाँच, किसी में सात तो किसी में आठ भेद स्वीकार किये है। परन्तु चतुरध्यायिका में मुख्य रूप से छः भेद स्वीकृत हैं। वे अभिनिहित, जात्य, क्षैप, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यंजन, पादवृत्त नाम से ज्ञेय है।[2] स्वराष्टक शिक्षा में जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्राश्लिष्ट इत्यादि पाँच भेद स्वरित के स्वीकार किये है।[3]

---

1. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा।
   अनुदात्तः परः शेषः स उदात्त श्रुतिः। —ऋ०प्रा० 3/4–5
2. एकारौकारौ पदान्तौ परतोऽकारं सोऽभिनिहितः। —च०अ० 3/3/55
   इकारयोः प्राश्लिष्टः। —च०अ० 3/3/56
   अनुदात्तपूर्वात्संयोगाद्यवान्तात्स्वरितं परमपूर्वं वा जात्यः।—च०अ० 3/3/57
   अन्तः स्थापताबुदात्तस्यानुदात्ते क्षैप्रः —च०अ० 3/3/58
   व्यंजन व्यवेतस्तैरोव्यंजनः। —च०अ० 3/3/63
   विवृतौ पादवृत्तः। —च०अ० 3/3/3
3. स्वरितं पंचधा जात्याभिनिहितक्षैप्रप्राश्लिष्ट भेदात्।
   इति ऊर्ध्वम् एषां लक्षणानि उक्तानि।। —स्वराष्ट०शि० 2/7

नारदीय शिक्षा[1] एवं शैशरीय शिक्षा[2] में सात स्वर कहे गये है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में आठ स्वरित ही निर्दिष्ट है।[3] माण्डूकी शिक्षा में अभिनिहित, प्रश्लिष्ट, जात्य, क्षैप्र, पादवृत्त, तैरोव्यंजन, तिरोविराम एवं ताथाभाव्य नाम से स्वरित कहे गये है। यहाँ भी आठ स्वरित स्वीकृत है।[4]

यद्यपि इस प्रतिज्ञा कारिका में आद्य सप्त स्वरों का बलाबल विचार विहित है। ताथाभाव्यं का उल्लेख प्रकरण के अन्तिम श्लोक में किया गया है। अतः प्रतीत होता है कि स्वरितों में सप्त स्वरों की तरह ताथाभाव्य संज्ञक स्वरित का महत्वपूर्ण स्थान नही है। क्यों नही है ? इस जिज्ञासा का समाधान ताथाभाव्य स्वरित के स्वरूप विवेचन के समय ही होगा।

माण्डूकी शिक्षा में उक्त स्वरितों का ज्ञान अधोलिखित रेखाचित्र से किया जा सकता है।

---

1. जात्यः क्षैप्रोऽभिनिहितस्तैरोव्यंजन एव च।
   तिरोविरामः प्रश्लिष्टः पादवृत्तश्च सप्तमः।। —ना०शि० 1/8/10
2. सप्तस्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषामेव तु लक्षणम्। —शै०शि० 232
3. अष्टौ स्वरान्प्रवक्ष्यामि तेषामेव तु लक्षणम्।
   जात्योऽभिनिहितः क्षैप्र प्रश्लिष्टश्च तथाऽपरः।। --या०शि० 75
   तैरोव्यंजनसंज्ञश्च तथा तैरोविरामकः।
   पादवृत्तो भवेत तत् ताथाभाव्य इति स्वराः। —या०शि० 76
4. सप्त स्वरान्प्रवक्ष्यामि तषां चैव बलाबलम्।
   लक्षणानि च सर्वेषां सुक्तस्तानि निबोधमे।। —मा०शि० 7/1
   अभिनिहितः प्राश्लिष्टो जात्यः क्षैप्रश्च पादवृत्तश्च।
   तैरोव्यंजनः षष्ठस्तिरोविरामश्च सप्तमः।। —मा०शि० 7/2
   द्वयोरुदात्त योर्मध्ये नीचोऽस्ति यदवग्रहः।
   ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनपान्निदर्शनम्।। —मा०शि० 7/10
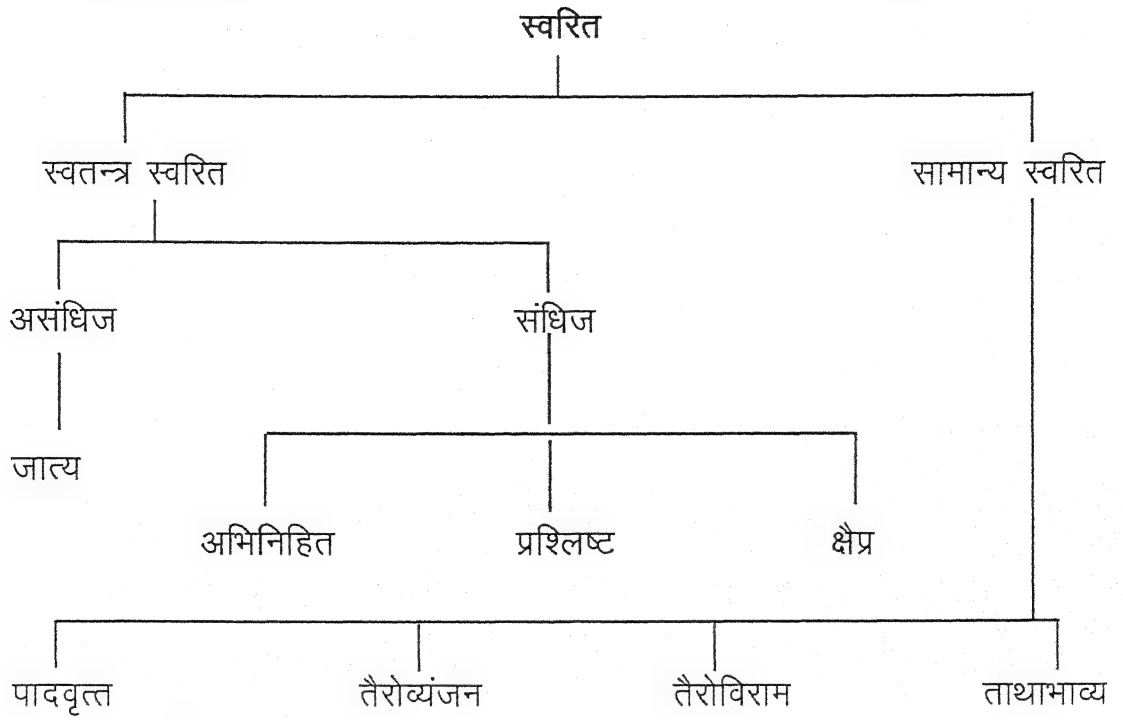
**अभिनिहित स्वरित–**

चतुरध्यायिका के अनुसार एकार ओकार से परे अनुदात्त का लोप होता है। उसे अभिनिहित स्वर कहा गया है।[1] यथा– ते+अवदन्=तेऽऽवदन्।[2] याज्ञवल्क्य शिक्षा[3] एवं नारदीय शिक्षा[4] में भी अभिनिहित का यही स्वरूप स्वीकृत है। अभिनिहित स्वरित स्वतन्त्र स्वरित में ही सन्धि स्वरित के नाम से जाना जाता है। क्योंकि इसमें अकार की पूर्वरूपता होती है। माण्डूकी शिक्षा के अनुसार जब उदात्त एकार ओकर से परे अनुदात्त अकार लुप्त होता है, वहाँ जायमान स्वरित अभिनिहित होता है।[5]

---

1. एकारौकारो पदान्तौ परतोऽकारं सोऽभिनिहितः। –च०अ० 3/3/55
2. अ०सं० 5/17/1
3. ए ओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो रिफितश्च यः।
   अकारो लुप्यते यत्र तं चाभिनिहितं विदुः।। –या०शि० 78
4. ए ओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो निहितश्च यः।
   अकारं यत्रलुम्पति तमभिनिहितं विदुः।। –ना०शि० 2/1/3
5. ए ओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो रेफितश्च यः।
   अकारं यत्र लुम्पति तमभिनिहितं विदुः।। –मा०शि० 7/3

प्रायः इस प्रकार का उल्लेख अन्य शिक्षा–ग्रन्थों में भी दृष्टिगोचर होता है।

**प्रश्लिष्ट स्वरित–**

इकार उदात्त जब अनुदात्त इकार से संयुक्त होता है, तब प्रश्लिष्ट स्वरित होता है। प्रश्लिष्ट ही माण्डूकी में प्राक्श्लिष्ट नाम से जाना जाता है। यथा– अभि+इन्धताम् = अभीन्धताम्पि।[1] चतुरध्यायिका के अनुस्वार भी उदात्त अनुदात्त के ह्रस्व इकार की जहाँ सन्धि होती है, वहाँ प्रश्लिष्ट स्वरित बोध्य है।[2] याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि इकार उदात्त जहा अनुदात्त इकार से संयुक्त होता है, वह प्रश्लिष्ट स्वरित है।[3] नारदीय शिक्षा के अनुसार इकार उदात्त जब अनुदात्त इकार से संयुक्त हो वहाँ प्रश्लिष्ट स्वर समझना चाहिए।[4] ऋक् प्रातिशाख्य[5] एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य[6] में भी उदात्त इकार जब अनुदात्त इकार से संयुक्त हो, वहाँ प्रश्लिष्ट स्वरित समझना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि ह्रस्व इकार की सन्धि से प्रश्लिष्ट स्वरित्र होता है। अर्थात् जहाँ उदात्त इकार अथवा अनुदात्त इकार होता है, वहाँ प्रश्लिष्ट सन्धि होती है। सन्धि जन्य स्वर उदात्त ही होता है। यथा–एणी+इव= एणीव।[7]

---

1. इकारं यत्र पश्येयुरिकारेणैव संयुतम्।
   उदात्तोऽप्यनुदात्तस्य प्राश्लिष्टोऽभीन्धतामपि।। —मा०शि० 7/4
2. इकारयोः प्राश्लिष्टः। —च०अ० 3/3/56
3. इकारो दृश्यते यत्र इकारेण च संय्युतः।
   उदात्तश्चानुदात्तेन प्रश्लिष्टो भवति स्वरः।। —या०शि० 80 (शि0सं0)
4. इकारं यत्र पश्येयुरिकारेणैव संयुतम्।
   उदात्तमनुदात्तेन प्रश्लिष्टं तं निवोधत।। —ना०शि० 2/1/6
5. इकारयोश्च प्रश्लेषे। —ऋ०प्रा० 3/13
6. इ वर्ण उभयतो ह्रस्वः प्रश्लिष्टः। —वा०प्रा० 1/116
7. अ०सं० 5/14/11

**क्षैप्र स्वरित–**

माण्डूकी शिक्षा में स्वतन्त्र स्वरित में क्षैप्र स्वरित का अन्तिम स्थान है। उनमें उदात्त इकार, उकार का यकार वकार होता है और अनुदात्त के परे रहते क्षैप्र स्वरित संज्ञक समझना चाहिए।[1] चतुरध्यायिका में क्षैप्र स्वरित के स्वरूप को कहा गया है कि जहाँ उदात्त स्वर अन्तःस्थों में परिवर्तित होता है उसके परे रहते अनुदात्त स्वरित क्षैप्र स्वरित नाम से ज्ञेय है।[2] याज्ञवल्क्य शिक्षा[3] एवं नारदीय शिक्षा[4] में भी कहा गया है कि जहाँ उदात्त इकार उकार के स्थान पर क्रमशः यकार एवं वकार होता है तथा परवर्ती अनुदात्त स्वरित होता है। इसे ही क्षैप्र स्वरित कहा गया है।

स्पष्ट है कि जहाँ पर उदात्त इकार एवं उकार का यकार तथा वकार हो जाता है एवं उससे परवर्ती अनुदात्त स्वरित होता है तो वहाँ क्षैप्र स्वरित होता है। अन्य शिक्षा–ग्रन्थ भी इसी नियम को स्वीकार करते है।

**जात्य स्वरित–**

जात्य स्वरित स्वतन्त्र स्वरित से भिन्न होता है। और यह असंधिज से उत्पन्न होता है। एक पद में पूर्व अनुदात्त या अपूर्व स्वरित को जात्य स्वरित समझना चाहिए। और जात्य स्वरित सतत संयुक्त वर्ण में ही रहता है।

---

1. इ उ वर्णौ यदोदा त् ता वापद्येते यवौ क्वचित्।
   अनुदात्त प्रत्ययें स्याद्विद्धि क्षैप्रस्य लक्षणम्।। —मा०शि० 7/6
2. अन्तः स्थापतावुदात्तस्यानुदात्ते क्षैप्रः। —च०अ० 3/2/58
3. इ उ वर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित्।
   अनुदात्ते परे नित्यं विद्यात् क्षैप्रस्य लक्षणम्।। —या०शि० 79
4. इ उ वर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित्।
   अनुदात्ते प्रत्यये नित्यं विद्यात्क्षैप्रस्य लक्षणम्।। —ना०शि० 2/1/2

ऋग्वेद प्रातिशाख्य[1] एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य[2] में जात्य के स्वरूप को कहा गया है कि एक पद में जो अक्षर यकार वकार के सहित स्वरित होता है। तब वह अनुदात्त पूर्व अथवा अपूर्व होता है। उसे ही जात्य स्वरित समझा जाता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में जात्य स्वरित को नित्य नाम से जाना जाता है।[3] जात्य स्वरित में उदात्त, अनुदात्त के संगत की आवश्यकता नहीं होती है। यहाँ स्वरित स्वभावतः ही होता है अतः जात्य संज्ञक उच्चरित होता है। चतुरध्यायिका में कहा गया है कि जब एक पद में यकार वकार के साथ संयुक्त अक्षर यदि स्वरित हो और वह अक्षर अनुदात्त पूर्व अथवा अपूर्व हो तब वहाँ जात्य स्वरित समझना चाहिए।[4]

शिक्षा–ग्रन्थों में भी जात्य स्वरित का स्वरूप विवेचन किया गया है। नारदीय शिक्षा के अनुसार जहाँ यकार वकार के साथ जो अक्षर स्वरित हो एवं उसके अनन्तर अन्य उदात्त न हो तब वह जात्य स्वरित संज्ञक होता है।[5] याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि जहाँ एक ही पद में यकार अथवा वकार से युक्त पूर्व अनुदात्य स्वर हो वहाँ जात्य स्वरित होता है।[6] यथा– 'धान्यम्, सुप्वेति'।[7] माण्डूकी शिक्षा में यकार वकार के साथ जो अक्षर स्वरित होता है और वह उदात्त न हो तब वहाँ जात्य स्वरित समझा जाता है।[8]

---

1. अतौऽन्यत्स्वरितं स्वारं जात्यमाचछते पदे। –ऋ०प्रा० 3/8
2. एकपदे नीचपूर्वः सवयो जात्यः। –वा०प्रा० 1/111
3. सयकार वकारं त्वक्षरं यत्र स्वर्यते स्थिते पदेऽनुदात्त–
   पूर्वऽपूर्वे वा नित्यः इत्येव जानीयाता। –तै०प्रा० 20/2
4. अनुदात्य पूर्वात् संयोगाद्यवान्तात्स्वरितं परम पूर्वं वा जात्यः।–च०अ० 3/3/57
5. सयकारर्ठ० सवं वाऽप्यक्षरर्ठ० स्वरितम् भवेत्।
   न चोदात्तं पुरस्तस्य जात्यः स्वारः स उच्यते।। –ना०शि० 2/1/1
6. नीच पूर्वः सयकारवकारो वा जात्यः स्वरितो भवति।
   अपूर्वोऽपि सयकारः सवकारो वा जात्यः स्वरो भवति।। –या०शि० 78
7. या०शि० 78 (शि०सं० पृ० 10)
8. मयकारं सववाऽप्यक्षरं स्वरितं भवेत्।
   न चोदात्तं पुरस्तस्य जात्यः स्वर्दृत्य एव तु।। –मा०शि० 7/5

प्रायः शिक्षाओं एवं प्रातिशाख्यों में जात्य स्वरित की सत्ता एक पद में ही स्वीकृत है। संहिता पाठ में सम्पूर्ण पाद को एकांश मानकरके स्वर का उच्चारण किया जाता है। वहाँ पद के स्वरूप में विकार उत्पन्न हो जाता है। जिसके द्वारा एक स्वर अन्य के द्वारा प्रभावित होता है। संहिता में उदात्त भी जात्य स्वरित से पूर्व हो सकता है। किन्तु यह उदात्त नहीं, बल्कि स्वरित है। जात्य स्वरित उदात्त सदृश होता है। यथा– एक पद में एक ही उदात्त होता है। उसी प्रकार से जात्य स्वतन्त्र स्वर एक ही होता है। एक पद में अनेक उदात्त हो सकते है किन्तु जात्य की एक ही सत्ता होती है।

**पादवृत्त स्वरित–**

स्वरित स्वर से पूर्व कोई स्वर हो एवं उसमें सन्धि न हो तो वह स्वरित पादवृत्त स्वरित संज्ञक होता है। सन्धि रहित दो स्वर वर्णों के मध्य विवृत्ति होती है। विवृत्ति संज्ञक व्यवधान होने पर जब पदान्त उदात्त स्वर के प्रभाव से पदादि अनुदात्त स्वर स्वरित हो, तो उस विवृत्ति स्थल में उपस्थित होने के कारण पादवृत्त स्वरित कहलाता है। चतुरध्यायिका में पादवृत्त स्वरित का लक्षण कहा गया है। विवृत उदात्त से अनुदात्त जब स्वरित होता है। तब वह स्वरित पादवृत्त संज्ञक होता है।[1] ऋग्वेद प्रातिशाख्य[2], तैत्तिरीय, प्रातिशाख्य[3] एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य[4] में कहा गया है कि जहाँ दो पदों के स्वरों के मध्य विवृत्ति होती है। पद के मध्य में होने के कारण उत्पन्न स्वरित को पादवृत्त स्वरित कहते है।

माण्डूकी शिक्षा के अनुसार जहाँ दो पदों में विवृत्ति होती है। वहाँ पूर्व पदान्त उदात्त से उत्तर पद का आदि अनुदात्त स्वरित हो तो वह स्वरित, पादवृत्त या

---

1. विवृत्तौ पादवृत्तः। —च०अ० 3/3/63
2. स्वर्यतन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्। —ऋ०प्रा० 3/17
3. पदविवृत्यां पद विवृत्तः। —तै०प्रा० 20/6
4. विवृत्ति लक्षण पादविवृतः। —वा०प्रा० 1/119

वैवृत स्वरित होता है।[1] यथा– शिवो अग्ने।[2] याज्ञवल्क्य[3] एवं नारदीय शिक्षा[4] भी यहाँ अपवाद नहीं है।

शिक्षा–प्रातिशाख्यों के अनुसार जहाँ दोनों पदों की विवृत्ति है। पादवृत्त का भी वही अस्तित्व समझना चाहिए।

**तैरोव्यंजन स्वरित–**

तैरोव्यंजन का लक्षण चतुरध्यायिका में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि व्यंजन के व्यवधान होने पर भी जहाँ स्वरित हो वहाँ तैरोव्यंजन स्वरित ज्ञेय है।[5] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[6] एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य[7] में इस कथन की पुष्टि की गई है।

शिक्षा–ग्रन्थों में भी तैरोव्यंजन स्वरित का उल्लेख किया गया है। याज्ञवल्क्य[8] एवं नारदीय शिक्षा[9] में कहा गया है कि जहाँ पूर्ववती उदात्त एवं परवर्ती अनुदात्त के मध्य व्यंजन का व्यवधान होने पर भी स्वरित हो जाता है, वहाँ तैरोव्यंजन स्वरित होता है।

---

1. स्वरिते स्वरितम् यत्र विवृत्यां यत्र संहिता।
   तं पादवृत्तं जानीयात्ते त्वस्मिन्यवमादधुः।। —मा०शि० 7/7
2. अ०सं० 2/6/3
3. द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्य्यत्र न दृश्यते।
   विवृत्तिस्तत्र विज्ञेयायऽईशेति निदर्शनम्।। —या०शि० 94 (शि०सं०)
4. स्वरे चेत् स्वरितं यत्र विवृता यत्र संहिता।
   एतत् पादान्तवृत्तस्य लक्षण ठं० शास्त्र चोदितम्।। —ना०शि० 2/1/7
5. व्यंजनव्यवेतस्तैरोव्यंजनः। —च०अ० 3/3/62
6. उदात्तपूर्वस्तैरोव्यंजनः। —तै०प्रा० 20/7
7. स्वरोव्यंजनयुस्तैरोव्यंजनः। —वा०प्रा० 1/117
8. उदात्तपूर्वो यत्किंचिद् व्यंजनेन युतः स्वरः।
   एष सर्वबहुःस्वारस्तैरोव्यंजन उच्यते।। —या०शि० 81
9. उदात्त पूर्वं यत्किंचित् छन्दसि स्वरितं भवेत्।
   एष सर्वबहुस्वारस्तैरोव्यंजन उच्यते। —ना०शि० 2/1/4

माण्डूकी शिक्षा के अनुसार जहाँ उदात्त पूर्व तथा अनुदात्त परे व्यंजन का व्यवधान होने पर स्वरित हो वहाँ तैरोव्यंजन स्वरित समझना चाहिए। यथा– दधि मधु।[1]

स्पष्ट है कि उदात्त पूर्वक अनुदात्त ही स्वरित होता है और व्यंजन के व्यवधान होने पर स्वरित होता है। वह तैरोव्यंजन स्वरित होता है। प्रायः अन्य शिक्षा–ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।

**तैरोविराम स्वरित–**

अवग्रह का व्यवधान होने पर भी उदात्त के परवर्ती आने वाला अनुदात्त स्वरित हो तो वह स्वरित तैरोविराम स्वरित संज्ञक होता है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य उपरोक्त कथन का समर्थन करता है।[2] किन्तु चतुरध्यायिका में तैरोविराम स्वरित का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

शिक्षाओं में तैरोविराम स्वरित का उल्लेख प्रधान रूप से मिलता है। अवग्रह के बाद भी जो स्वरित होता है, वह तैरोविराम संज्ञक होता है। अर्थात् विराम के व्यवधान होने पर भी अनुदात्त का स्वरितत्व स्वीकार किया गया है। यथा– प्रजापतेः।[3] माण्डूकी शिक्षा के इस सिद्धान्त को नारदीय शिक्षा[4] भी स्वीकार करती है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी तैरोविराम स्वरित का उल्लेख मिलता है।[5]

---

1. उदात्तपूर्वे सार्द्धे तु द्वितीये अक्षरे तु यः।
   तैरोव्यंजन इत्येष सारः स्याददधिमध्विति।। —मा०शि० 7/8
2. उद्वग्रस्तैरोविरामः। —वा०प्रा० 1/118
3. अवग्रहात्परं यत्र स्वरितम् स्यादनन्तरम्।
   तिरोविराम जानीयात् प्रजापति निदर्शनम्। —मा०शि० 7/8
4. अवग्रहात्परं यत्र स्वरित ठं० स्यादनन्तरम्।
   तिरोविरामं तं विद्यादुदात्तो यद्यवग्रहः। —ना०शि० 2/1/5
5. उदात्तावग्रहाद्यस्तु स्वरितः स्यादनन्तरः।
   तैरोविरामं तं विद्यात्तैरोव्यंजनमन्यथा।। —या०शि० 82 (शि०सं०)

संहिता में तो यह स्वरित तैरोव्यंजन स्वीकार किया जाता है। इसीलिए चतुरध्यायिका में तैरोविराम स्वरित का उल्लेख नहीं है। किन्तु शाखा के अनुरोध से संहिता के नियम ही प्रधान रूप से बताए गये है। अवग्रह पद पाठ में ही दोनों पदों के विच्छेद के लिए प्रयोग किया जाता है। अवग्रह विराम रूप एक मात्रा है। पद पाठ में अवग्रह हो से तैरोविराम स्वरित होता है।

**तथाभाव्य स्वरित–**

तैरोविराम की तरह ताथाभाव्य स्वरित की भी सत्ता पद पाठ में ही स्वीकृत है। चतुरध्यायिका में ताथाभाव्य स्वरित का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि जहाँ अनुदात्त अवग्रह से पूर्व तथा पश्चात् दोनों तरफ (उभयतः) उदात्त हो तो वहाँ उत्पन्न स्वरित ताथाभाव्य स्वरित होता है।[1] माण्डूकी शिक्षा में ताथाभाव्य का उल्लेख है किन्तु उसमें कम्प विचार ही किया गया है। ताथाभाव्य स्वरित है अथवा नहीं। यह प्रश्न मन को आन्दोलित करता है। माण्डूकी शिक्षा के अनुसार दोनों उदात्तों के मध्य जो अनुदात्त अवग्रह होने पर भी स्वरित नहीं होता है; तब वह स्वरित ताथाभाव्य स्वरित होता है।[2] यथा– तनूनपात्।

माण्डूकी शिक्षा में उक्त स्वरितों की संख्या 8 है। और चतुरध्यायिका में स्वरितों की संख्या 6 है। उनमें जात्य नित्य स्वरित है। अभिनिहित, प्राश्लिष्ट, क्षैप्र सन्धिज स्वरित एवं पादवृत्त, तैरोव्यंजन, तैरोविराम, ताथाभाव्य स्वतंत्र स्वरित है। इनमें प्रधान स्वरित जात्यादि चार ही है। सन्धि से जायमान होने पर संधिज स्वरित कहलाते है। तैरोविराम एवं ताथाभाव्य स्वरित पद पाठ में ही उपकारक होते है। माण्डूकी शिक्षा में स्वरितों का उत्तरोत्तर मृदुत्व भी प्रतिपादित है। स्वरितो में

---

1. उदात्ताक्षरयोर्मध्ये भवेन्नीचस्त्ववग्रः।
   ताथाभाव्यो भवेत्स्वारस्तनूनप्त्रे निदर्शनम्।। –या०शि० 84
2. द्वयोरूदात्तयोर्मध्ये नीचोऽस्ति यदवग्रहः।
   ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनपान्निदर्शनम्।। –मा०शि० 7/9

अभिनिहित तीक्ष्ण, प्रश्लिष्ट मृदु, जात्य एवं क्षैप्र मृदुतर कहा गया है। इसी प्रकार अन्य स्वरितों के बलावल के विषय में समझना चाहिए।[1] अतः इनके उच्चारण में मृदुता अपेक्षित है।

**प्रचय स्वर–**

प्रचय पद की निष्पत्ति 'प्र' पूर्वक √आच्वि धातु से होती है। जिसका अर्थ आधिक्य होता है। स्वरित से अनेक अनुदात्त प्रचय होते है। स्वरों के आधिक्य से ही इसकी प्रचय संज्ञा मानी गई है। इसमें पूर्व स्वरित के प्रभाव से अनुदात्त भी उदात्त सुना जाता है। अनुदात्त में उदात्त अंश के आधिक्य से प्रचय स्वर होता है। चतुरध्यायिका में प्रचय स्वर उदात्त श्रुति संज्ञक कहा गया है।[2] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में उदात्त युक्त शब्द का प्रयोग प्रचय के लिए किया गया है।[3] ऋक् प्रातिशाख्य[4] एवं तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[5] में भी ऐसा उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। ऋक् तन्त्र में प्रचय को उच्च श्रुति कहा गया है।[6]

---

1. सर्वतीक्ष्णोऽभिनिहितस्ततः प्राश्लिष्ट उच्यते।
   ततो मृदुतरौ चैव जात्यः क्षैप्रश्च तावुभो।। —मा०शि० 8/2
   ततो मृदुतरः स्वारस्तैरोव्यंजन उच्यते।
   पादवृत्तो मृदुतर इति स्वारबलाबलम्।। —मा०शि० 8/3
2. स्वरितात्ऽनुदात्तः उदात्त श्रुति। —च०अ० 3/3/71
3. स्वरितात्परमनुदात्तमुदात्तमयम्। —वा०प्रा० 4/141
4. स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः।
   उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनिवा।। —ऋ०प्रा० 3/19
5. स्वरितात्संहितायां अनुदात्तानां प्रचयः उदात्तश्रुतिः। —तै०प्रा०
6. तस्मादुच्चश्रुतीनि। —ऋ०तं० 6/1

शिक्षा–ग्रन्थों में प्रचय स्वर के विषय में कहा गया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है, कि स्वरित के परवर्ती आने वाला एक या अनेक अनुदात्त को प्रचय कहते है।[1] माण्डूकी शिक्षा के अनुसार, जब स्वरित से परे अनुदात्त होता है, तब वह प्रचय स्वर होता है। किन्तु उदात्त स्वर से परे वह अनुदात्त ही होता है।[2] शिक्षानुसार स्वरित से परे जितने भी अनुदात्त होते है वे सभी प्रचय संज्ञक होते है यदि उदात्त उनके बाद न हो।[3] यथा– ते पितामहः। यहाँ 'ते' इसका स्वरित से अनुदात्त प्रचय जानना चाहिए किन्तु 'हः' इस अनुदात्त में 'म' यहाँ अनुदात्त होता है।

प्रचय का उच्चारण उदात्त के समान होता है। जैसा कि नारदीय शिक्षा में कहा गया है कि प्रचय का उच्चारण उदात्त के समान करना चाहिए।[4] याज्ञवल्क्य शिक्षा उदात्त और अनुदात्त के ऐक्य को प्रचय स्वीकार करती है।[5] किन्तु दोनों में यही सार्थक है जो उदात्त किसी भी अवस्था में अनुदात्त को नहीं भजता किन्तु प्रचय उदात्त स्वरित के परे रहते अनुदात्त होता है। सामान्य स्थिति में उदात्त और प्रचय चिन्ह रहित होते है।

---

1. स्वरितादुत्तरे ये च प्रचयास्तान्प्रचक्षते।
   एकस्वरानपि च तानाहुस्तत्वार्थचिन्तकाः।। –या०शि० 109 (शि०सं०)
2. स्वरित प्रभवं प्रचितात्स्वरितंमेव उदात्तम् वा।
   अनुदात्तमेव तद्विद्यादृतम् च तद्विहि यत्प्रचितम्।। –मा०शि० 5/6
3. स्वरितात्पराणि यानि स्युरनुदात्तान्युदात्तवत्।
   सर्वाणि प्रचयं यान्तिह्युपोदात्तं न विद्यते।। –मा०शि० 5/7
4. य एवोदात्त इत्युक्तः स एव स्वरितात्परः।
   प्रचयः प्रोच्यते तज्ज्ञै ..........................। –ना०शि० 1/8/2
5. उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वार उच्यते।
   ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः सन्धिरेष मिथोद्भुतः।। –या०शि० 228 (शि०सं०)

त्रिविक्रम विचार–

प्रायः अन्य शिक्षा–ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्यों में त्रिविक्रम के स्वरूप का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। किन्तु माण्डूकी शिक्षा के अनुसार स्वरित से परे अनुदात्त त्रिपूर्ण उदात्त से परे त्रिविक्रम संज्ञक होते है। यहाँ यह विक्रम स्वर होता है। एवं वह पाद भी विक्रम नाम से जाना जाता है।[1]

कम्प विचार–

कम्प धातु से कम्प शब्द निष्पन्न होता है। कम्पन ही कम्प है। जब दो ध्वनियों के मध्य में किसी ध्वनि के उच्चारण में कम्पन होता है, वही कम्पन कम्प कहा जाता है। वस्तुतः कम्प विशिष्ट अनुदात्त का दूसरा पर्याय है। कम्प स्वर कोई स्वतन्त्र स्वर नहीं है। यह स्वर स्वतन्त्र स्वरों के ही विशिष्ट अवस्था में ही उच्चारण का ही दूसरा नाम है। प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा–ग्रन्थों में कम्प के विषय में उल्लेख मिलता है। चतुरध्यायिका में कम्प के विषय में अभाव देखा जाता है। किन्तु कम्प का काल ही अभिनिहित है।[2] ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार स्वरित के परे अवशिष्ट अनुदात्त अंश उदात्त के समान सुना जाता है। स्वरित का अनुदात्त अंश तभी उदात्त के समान सुना जाता है यदि उस स्वरित के बाद में विद्यमान अक्षर उदात्त या स्वरित उच्चारित न हो।[3] नारदीय शिक्षा में ह्रस्व एवं दीर्घ कम्प दो प्रकार का कहा गया है।[4]

---

1. स्वरितावधृत उदात्ते परस्त्रिपूर्वो विक्रमोच्यते।
   स्वरितावधृत उदात्ते पादः स्यात्सहि विक्रमः।। —मा०शि० 5/8
2. अभिनिहितप्राशिलष्टजात्यक्षैप्राणामुदात्तस्वरितोदया–
   नामणुमात्रा निधाता विकम्पितं तत्कवयो वदन्ति।। —च०अ० 3/2/65
3. अनुदात्तः परः शेषः स उदात्त श्रुतिर्नचेत्।
   उदात्तं वोच्यते किंचित् स्वरितं वाऽक्षरं परम्।। —ऋ०प्रा० 3/5–6
4. ह्रस्व कम्पं विजानीयान्मेधावो नात्र संशयः। —ना०शि० 2/1/1
   इकरान्ते पदे चैवोकारद्वयपदे परे।
   दीर्घं कम्पं विजानीयाच्छगध्यष्विति निदर्शनम्।। —ना०शि० 2/1/2

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा के अनुसार जात्य, अभिनिहित, प्रश्लिष्ट एवं क्षैप्र स्वरित का स्वर प्रकम्पित होता है यदि बाद में उदात्त अथवा अनुदात्त हो।[1] माण्डूकी शिक्षा के अनुसार जात्यादि स्वरित के एक भाग में ही कम्पन करके उच्चारण करना चाहिए।[2] किन्तु ताथाभाव्य में कितना अंश कम्प होता है। ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा गया है कि तालब्य व्यंजनों के परे रहते तालव्य स्वर ही कम्पित होता है। अर्थात् उसकी अपेक्षा कण्ठ स्वर कम्पनीय है।[3]

स्पष्ट है कि स्वरित के पूर्व की मात्रा ह्रस्व हो तो एक बार तथा दीर्घ होने पर तीन बार कम्प होता है। परन्तु शिक्षाओं में शाखानुसार कम्प का स्वरूप भिन्न–भिन्न कहा गया है। शिक्षा–ग्रन्थों में ह्रस्व दीर्घ के भेद से कम्प द्विविध स्वीकृत है।

**हस्त प्रचालन–**

स्वर प्रयोग के समय तत् – तत् स्वरों की अभिव्यक्ति अनिवार्य है। उसी प्रकार से उदात्तादि स्वरों षड़जादि के उच्चारण में हस्त चालन आवश्यक है। वेदाध्ययन में उदात्तादि स्वरों को हस्त प्रचालन द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार जो वेदपाठी बिना हस्त चालन हीन एवं स्वर हीन वेदाध्ययन करता है, वह उन्हीं वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) के द्वारा दग्ध होकर वियोनि को प्राप्त होता है।[4]

---

1. जात्योऽभिनिहितः क्षैप्रः प्रश्लिष्टश्च चतुर्थकः।
   एते स्वरा प्रकम्पते दृष्टवोदात्तं पुनः स्थितम्।। —वर्ण०र०प्र०शि० 73
2. प्राश्लिष्ट जात्यक्षैप्राश्च यश्चाभिनिहितश्चयः।
   उदात्तोपस्थिते तेषामेकदेशं प्रकल्पयेत्।। —मा०शि० 8/5
3. ताथाभाव्यस्तु तालव्यो न कम्पः स्वरसंज्ञकः।
   स तालव्यो भवेत्कम्प एजातोति निदर्शनम्।। —मा०शि० 7/10
4. हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।
   ऋग्यजुःसामभिर्दद्ग्धो वियोनिमुपगच्छति।। —या०शि० 40

किन्तु जो पाठी हस्त चालन द्वारा सस्वर वेदाध्ययन करता है वह वेदों के द्वारा पवित्र होकर ब्रह्म लोक की प्राप्ति करता है।[1] पाणिनीय शिक्षा में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[2] माण्डूकी शिक्षा में हस्त चालन का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि स्वरों का उच्चारण हस्त चालन के साथ करना चाहिए। हस्त अथवा स्वर से भ्रष्ट पाठक इष्ट को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् वेदाध्ययन के फल को नहीं प्राप्त करता, जो स्वर हीन और हस्त हीन वेद की शिक्षा देता है वह वेदों के द्वारा शीघ्र ही अग्नि में दग्ध होकर नष्ट हो जाता है; और स्वर्ग लोक जाने पर नीच योनि को प्राप्त करता है।[3] शिक्षानुसार जो ब्राह्मण वेदों को हस्त चालन रहित पाठ करता है वह तब तक ब्राह्मणत्व को नहीं प्राप्त करता जब तक हस्त चालन में क्षमा नहीं प्राप्त करता।[4] किन्तु हस्त के अधीन जो स्वरों को प्रयुक्त करता है। वह वेदों के द्वारा पवित्र होकर

---

1. ऋचो यजूंषि सामानि हस्तहीनानि यः पठेत्।
   अनृचो ब्राह्मणस्तावद्यावत्स्वारं न विन्दति।। —या०शि० 42
   हस्तेनाधीयमानस्य स्वर वर्णान्प्रयुंजतः।
   ऋग्यजुः सामभिः पूतो ब्रह्मलोकमवाप्नुयात्।। —या०शि० 44
2. हस्तहीनन्तु योऽधीते स्वरवर्ण विवर्जितम्।
   ऋग्यजुः सामभिर्दग्धो वियोनिमधि गच्छति।। —पा०शि० 54
   हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थ संयुतम्।
   ऋग्यजुः सामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते।। —पा०शि० 55
3. स्वरश्चैव तु हस्तश्च द्वावेतौ युगपदभवेत्।। —मा०शि० 3/2
   हस्ताद् भ्रष्टः स्वराद् भ्रष्टो न वेदफलमश्नुते।
   हस्तहीनन्तुं योऽधीते स्वर वर्ण विवर्जितम्। —मा०शि० 3/3
4. ऋग्यजुः सामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति।
   ऋग्यजुः साममादीनि हस्तहीनानि यः पठेत्।। —मा०शि० 3/4

ब्रह्मलोक जाता है।[1] अर्थात् हस्त चालन के बिना वह वैदिक नहीं हो सकता।

शिक्षाओं में हस्त चालन की विधि है। यााज्ञवल्क्य शिक्षा में उदात्त के उच्चारण के समय हस्त को आँख के भौंह (भ्रूः) अनुदात्त के उच्चारण में हृदय तक तथा स्वरित के उच्चारण में हाथ को तिर्यक तथा प्रचय के उच्चारण में नासिकाग्र तक ले जाया जाता है।[2] यहीं अङ्गुलि प्रदर्शन भी कहा गया है।[3] पाणिनीय शिक्षानुसार उदात्त के उच्चारण में हाथ को मूर्धा तक, अनुदात्त के उच्चारण में हृदय तक तथा स्वरित के उच्चारण में कर्ण मूल तक तथा प्रचय के उच्चारण में मुख तक ले जाया जाता है। एवं अङ्गुलि प्रचालन के समय अनुगुष्ठाग्र के प्रदेशिनी मूल में तर्जनी मूल में स्पर्श से उदात्त अनामिका मध्य में स्पर्श से स्वरित कनिष्ठा में स्पर्श से अनुदात्त प्रदर्शनीय होता है।[4]

---

1. अनृचो ब्राह्मणस्तावद्यावत्स्वारं न विन्दति।
   हस्ते नाधीयमानो यः स्वर वर्णान्प्रयोजयेत्।। —मा०शि० 3/5
   ऋग्यजुः सामभिः पूतो ब्रह्मलोकं स गच्छति।
   स्वरात्स्वरं सङ्क्रमते स्वरसन्धिमनुल्वणम्।। —मा०शि० 3/6
2. उदात्तम्भ्रुवि पातव्यं प्रचं नासाग्र एव च।
   हृत्प्रदेशेऽनुदात्तं च तिर्य्यग्जात्यादिकाः स्वराः।। —या०शि० 51 (शि०सं०)
3. स्वरिते अङ्गुलं विद्यान्निपाते तुं षडङ्गुलम्।
   उत्थाने तु नवाङ्गुल्यमेतत्स्वारस्य लक्षणम्।। —या०शि० 52 (शि०सं०)
   षडङ्गुलं तु जात्यस्य हस्तस्यानुपथस्य च।
   तच्चतुर्भागमात्रं तु भूयस्तेनैव वर्तयेत्।। —या०शि० 53 (शि०सं०)
   अङ्गुऽस्तोत्तरं पर्व यवस्योपरि यङ्गवेत।
   प्रादेशस्य तु यो देशस्तन्मात्रं चालयेत्करम्।। —या०शि० 50 (शि०सं०)
4. उदात्तमाख्याति वृषोङ्गुलीनां प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा।
   उपान्तमध्येस्वरितं धृतं च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव।। —पा०शि० 43
   अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
   स्वरितःकर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः।। —पा०शि० 48

माण्डूकी शिक्षा में कहा गया है कि यथा स्थान स्वर को जान करके हाथ को निकाल और उसमें दृष्टि का निवेश करके हस्त चालन करना चाहिए।[1] श्वास को भर कर हाथ उठाकर एवं दृष्टि को निपात करके सभी अङ्गुलियों को फैलाकर ही करमण्डल का चालन करना चाहिए।[2] हस्त चालन के समय अङ्गुलियों के द्वारा अङ्गुष्ठ को और अङ्गुष्ठ के द्वारा अङ्गुलियों को स्पर्श नहीं करना चाहिए। मात्र अङ्गुली के अग्र भाग को समेट कर उसमें अङ्गुष्ठ ही स्थापित करना चाहिए।[3] सिर को न झुकाये और न ही अङ्गुलियों को अधिक विस्तृत करें, हाथ को झुकाकर और अङ्लियाँ पर्णाकृति करके हस्त चालन करना चाहिए।[4] उच्चारण में स्वरों का प्रादेश मात्र ही चालन होना चाहिए।[5]

शिक्षानुसार क्रुष्ट का उच्चारण वाह्य अङ्गुष्ठ, मध्यम का अङ्गुष्ठ में, प्रादेश में गान्धार का, मध्यमा में पंचम का, अनामिका में षड्ज का, कनिष्ठिका में धैवत का एवं निषाद का कनिष्ठिका के अधोभाग में उच्चारण होता है। अर्थात् इन

---

1. स्वरे ज्ञात्वा यथा स्थानम् हस्तस्य स्यन्दनम् स्मृतम्।
   निष्कृष्य हस्तम् विन्यतम् पाणौ दृष्टि निवेशयेत्।। —मा०शि० 2/6
2. किंचिद्यो नभसः स्वांसाद्वाहुदृष्टिं निपातयेत्।
   प्रसार्य चाङ्गुलीः सर्वाश्चालयेत् करमण्डलम्।। —मा०शि० 2/7
3. न चाङ्गुलीभिरङ्गुष्ठसुपेयाद्दोष वित्ततः।
   ऊर्ध्वमायुस्तमाकुंचमङ्गुष्ठंस्थापयेद् बुधः।। —मा०शि० 2/8
4. नाधः शिरस्ताद्वामे वा नाङ्गुल्यः प्रतराः स्मृताः।
   उत्तानं सोन्नतं किंचित्संयुक्ताङ्गुलिरंजितम्।। —मा०शि० 2/9
5. स्वरविद्वं करं कुर्यात्प्रादेशोद्देशगामिनम्।
   अङ् गुष्ठस्योत्तरे पूर्वे यवस्योपरियद्भवेत।। —मा०शि० 2/10

स्वरों का उच्चारण उपर्युक्त स्थानों को स्पर्श करने का आशय है।[1] मकारान्त के उच्चारण में मुष्ट्याकृति, तकारान्त के उच्चारण में उसका विश्लेषण कहा गया है। नकारान्त मुख के दक्षिण पार्श्व से समझा गया है, कटान्त के उच्चारण में अङ्गुलियों के अग्रभाग का आकुंचन ङ् णान्त का कटान्त की तरह पकारान्त के उच्चारण में अङ्गुलियों का पीडन कहा गया है।[2] उदात्त रूप की मात्रा के उच्चारण में तर्जनी और अनुदात्त मात्रा के उच्चारण में कनिष्ठिका का एवं प्रचित होने पर दोनों (तर्जनी कनिष्ठिका) का निःसारण कहा गया है।[3] यद्यपि इस स्वरित मात्रा के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया तथापि सम्भवतः प्रचित स्वर ही होता है। ऐसा मान करके उसका स्वतन्त्र रूप से व्यवहार है। स्वरित के उच्चारण में तर्जनी कनिष्ठिका का ही निःसारण बताया गया है। ह्रस्व अनुस्वार के उच्चारण काल में अङ्गुष्ठ के अग्र भाग का प्राकुंचन एवं दीर्घ का उच्चारण तर्जनी कहा गया है।[4]

---

1. वाह्याङ्गुष्ठं तु क्रष्टंस्यादङ्ष्ठेमध्यमः स्वरः।
   प्रादेशिन्यां तु गन्धारो मध्यमायां तु पंचमः।। —मा०शि० 2/1
   अनामिकायां षड्जस्तु कनिष्ठायां तु धैवतः।
   तस्याधस्तातु योऽन्त्यः स्यान्निषादइति तं विदुः।। —मा०शि० 2/2
2. मान्ते मुष्टयाकृतिङ् कुर्यात्तकारान्ते विश्लेषयेत्।
   नखस्य दक्षिणे पार्श्वे नकारान्ते प्रयोजयेत्।। —मा०शि० 4/10
   कटान्तयोस्तुकर्तव्यमङ्गुल्यग्र प्रकुंचनम्।
   ङणनान्त तथैवस्यात्पान्तेत्वङ्गुलिपीडनम्।। —मा०शि० 4/11
3. ऊर्ध्व क्षेपाच्च या मात्रा अधः क्षेपाऽपि या भवेत्।
   एकैकामुत्सृजेद्धोरः प्रचिते तृभयं तथा।। —मा०शि० 4/12
4. ह्रस्वानुस्वारकरणेत्वङ्गुल्याश्च प्रकुंचनम्।
   दीर्घे तु सूरयः प्राहुर्देशिन्याः सुप्रसारणम्।। —मा०शि० 4/13

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा–ग्रन्थों में हस्त प्रदर्शन के सम्बन्ध में विशद् विधान प्राप्त होते है। हस्त प्रदर्शन प्रतीकात्मक है। उदात्त के उच्चारण में प्रयत्न उच्च भाग की ओर, अनुदात्त के उच्चारण में प्रयत्न निम्न भाग की ओर एवं स्वरित के समाहारात्मक स्वर होने के कारण इसके उच्चारण में प्रयत्न की दिशा मध्यम अथवा केन्द्रीय होती है।

********

# नवम अध्याय

## (सन्धि प्रकरण)

जब दो शब्द समीप आते हैं, तब एक दूसरे के समीप होने के कारण पहले शब्द के अन्तिम वर्ण में अथवा दूसरे शब्द के प्रथम वर्ण में अथवा दोनों में ही कुछ परिवर्तन (विकार) हो जाया करता है। वर्णो के इस परिवर्तन (विकार) को ही सन्धि कहते है।

'सम्' उपसर्ग पूर्वक धारणार्थक √धा धातु से सन्धि पद निष्पन्न होता है। सन्धि पद का अर्थ एकत्रीकरण होता है। जैसा कि अनुप्रदान प्रयत्न एवं स्थान वर्णों के श्रुति विशेष में परिगणन किया गया है। उसी प्रकार वर्णान्तर सम्बन्ध भी वर्णों का श्रुति विशेषक होता है। कथन का आशय है कि वर्णान्तर के समीप्य से वर्ण की ध्वनि में जो परिवर्तन होता है, उसी परिवर्तन को सन्धि पद से कहा गया है। इस प्रकार प्रयत्न स्थान की तरह सन्धि का अर्न्तभाव उच्चारण विधि में ही कर सकते है। जिसके कारण उच्चारण विधि प्रतिपादक शिक्षा–शास्त्रों का भी प्रतिपाद्य विषय है। प्रातिशाख्य–ग्रन्थों में भी सन्धि शब्द का विवेचन मिलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 'संधान' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है।[1] ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 'सन्धि'[2] एवं 'सन्धान'[3] शब्द प्रयुक्त किया गया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में सन्धि शब्द का विवेचन दृष्टिगोचर होता है।[4]

---

1. वायु शरीर समीरणात् कष्ठोरसोः सन्धाने। —तै०प्रा० 2/2
2. अथाभिनिहितः संधिरेतैः प्राकृतवैकृतैः।
   एकी भवति पादादिरकारस्तेऽत्र संधिजा।। —ऋ०प्रा० 2/34
3. इति पूर्वेषु संधानं पूर्वैः स्वः स्यादसंहितम्।
   तदवग्रहवद् ब्रुयात्। —ऋ०प्रा० 10/17
4. पदान्तपदाद्योः संधिः। —वा०प्रा० 3/3

शिक्षा–ग्रन्थों में 'सन्धि' शब्द का उल्लेख मिलता है। नारदीय शिक्षा में सन्धि का आंशिक विधान दृष्टिगोचर होता है।[1] पाणिनीय शिक्षा में भी सन्धि का आंशिक उल्लेख प्राप्त होता है।[2] गौतमी शिक्षा में यदा–कदा सन्धि पद द्वित्व के रूप में द्रष्टव्य है।[3] किन्तु वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा में सन्धि के लिए 'संस्कार' शब्द का उल्लेख किया गया है। जिसका शाब्दिक अर्थ है– एकत्र रखा हुआ।[4]

---

1. आपद्यते मकारो रेफोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारम्।
   यलवेषु पर सवर्णं स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिम्।। –ना०शि० 2/3/4
   ओभावश्च विवृत्ति श् च शषसा रेफ एव च।
   जिह्  वामूलमुपधमाच गतिरष्टविधोष्मणः।। –ना०शि० 2/4/5
   प्रथमानुष्म संयुक्तां द्वितीयानिव दर्शयेत्।
   न चैनान्प्रतिजानीयाद्यथा मतृस्यः क्षुरोऽप्सरा इति। –ना०शि० 2/4/11
2. ओभावश्च विवृत्तिश् च शषसा रेफ एव च।।
   जिह्वामूलमुपधमाच गतिरष्टविधोष्मणः।। –पा०शि० 14
3. अथ सर्वेषां व्यंजनां द्विर्भावो भवति।
   द्वादशाक्षर वर्जंते खछठथफा घ झ ढ ध भा रहयोश्चेति।। –गौ०शि० 3
   अथ द्व्यक्षराणामुदाहरणं द्वौ तकारौ तस्माप्ते सप्तमाः
   यथा प्रैयवेत्तेव भवति। –गौ०शि० 4
4. अथाऽतः संस्कार विधि कथ्यते योमयाऽधुना।
   लोपागमौ विकारश्च प्रकृत्या भवनं तथा।। –वर्ण०र०प्र०शि० 106
   ज्ञातव्यो निपुणैरेवं संस्कारोऽसौ चतुर्विधः।
   स्वरयोर्वा हलोर्वाऽपि स्वर व्यंजनयोरुतं।। –वर्ण०र०प्र०शि० 107

याज्ञवल्क्य शिक्षा में सन्धि का उल्लेख एकत्रीकरण के अर्थ में प्राप्त होता है।[1] माण्डूकी शिक्षा में सन्धि विषयक विचार का अभाव नहीं है। शिक्षानुसार पुनर् अन्तर सवितर एवं प्रातर सन्धि जन्य रेफ संहिता में ये सभी पद रेफ वाले कहे गये है।[2]

शिक्षा–ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में वर्णों के पास–पास (समीप) आने को ही सन्धि कहा जाता है। कालान्तर में अर्थ संकोच वश सन्धि वर्ण विकार अर्थ में ही सीमित रह गया।

---

1. सन्धिश्चतुर्विधो भवति।

लोपागमविकाराः प्रकृतिभावश्चेति।। –या०शि० 93

द्वयोस्तु स्वरयोर्म्मध्ये सन्धिर्य्यत्र न दृश्यते।

विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया यऽईशेति निदर्शनम्।। –या०शि० 94

ककारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते।

खसवर्णं विजानीयाङ्गि षक्क्सीसेन दर्शनम्।। –या०शि० 128

तकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते।

थसवर्णं विजानीयात्तत्सवितुर्निदर्शनम्।। –या०शि० 130

नैतन्माध्यन्दिनीयानां सस्थानेऽपि द्वितीयं स्यादापस्तम्बस्य

यन्मतम्। –या०शि० 131

टकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते।

ठसवर्णं विजानीयात्सम्राट् सम्भृत इति निदर्शनम्।। –या०शि० 132

पकारान्ते पदे पूर्वे शकारे परतः स्थिते।

फसवर्णं विजानीयात् नुष्टुप्पशारदी यथा।। –या०शि० 135

2. पुनरन्तश्च सवितश्च प्रातर्या रेफिता च संहिता यत्र।

रेफान्ति पदान्यस्य स्याद्वै तद्रिफितं पदम्।। –मा०शि० 8/8

**सन्धि विभाजन –**

शिक्षा ग्रन्थों में सन्धि का विभाजन वर्णित है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में लोप, आगम, विकार एवं प्रकृति भाव ये चतुर्विध सन्धियां कही गई है।[1] वर्ण रत्न प्रदीपिका शिक्षा भी याज्ञवल्क्य शिक्षा के इस कथन से सहमत है। शिक्षानुसार सन्धि चतुर्विध होती है।[2] किन्तु वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा में ही प्रकारान्तर से स्वर, व्यंजन एवं स्वर–व्यंजन सन्धि ये त्रयविध मानी गई है।[3] संस्कृत भाषा में वर्णान्तरवत् विसर्ग सन्धि का भी महत्वपूर्ण स्थान दृष्टिगोचर होता है। शिक्षा–ग्रन्थों में सन्धि प्रधान रुप से तीन ही दृष्टिगत होती है– स्वर, व्यंजन एवं विसर्ग सन्धि।

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में शिक्षा ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक बृहद एवं सम्यक् रुप से सन्धियों का विवेचन किया गया है। यद्यपि शिक्षा–ग्रन्थों के प्रातिशाख्यों में सन्धि विभाजन का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। फिर भी शिक्षा–ग्रन्थों के विभाजन को ही ध्यान में रखकर प्रातिशाख्यकारों ने सन्धि–नियम का विधान किया है। शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में सन्धि नियमों का नाम निर्देश के सम्बन्ध में परस्पर मतैक्यता नहीं है। इन ग्रन्थों में सन्धि–नियमों का नाम निर्देश भिन्न–भिन्न है परन्तु सन्धि नियम प्रायः एक ही है। ऐसा दृष्टिगत होता है कि शिक्षा–ग्रन्थों में जिस सन्धि भेद का प्रतिपादन किया गया है उसी भेद के अर्न्तगत प्रातिशाख्यों में वर्णित समस्त सन्धियाँ समाहित है। लोप, आगम, विकार तथा प्रकृति भाव ये चार भेद शिक्षा–ग्रन्थों में वर्णित है। प्रातिशाख्यों में वर्णित भेद प्रकृति भाव सन्धि के अर्न्तगत ही समाहित है। स्थानाभाव एवं विस्तृत वर्णन होने के कारण यहाँ उल्लेख करना सम्भव नहीं है। फिर भी प्रातिशाख्यों में वर्णित

---

1. सन्धिश्चतुर्विधो भवति।
   लोपागमविकाराः प्रकृति भावश्चेति।। –या०शि० 93
2. लोपागमौ विकारश्च प्रकृत्या भवनं तथा। –वर्ण०र०प्र०शि० 106
   ज्ञातव्यो निपुणैरेवं संस्कारोऽसौ चतुर्विधः।। –वर्ण०र०प्र०शि० 107
3. स्वरयोर्वा हलोर्वाऽपि स्वर व्यंजनयोरुत।। –वर्ण०र०प्र०शि० 107

सन्धियों को शिक्षाओं में वर्णित सन्धि के चार भेद के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है।
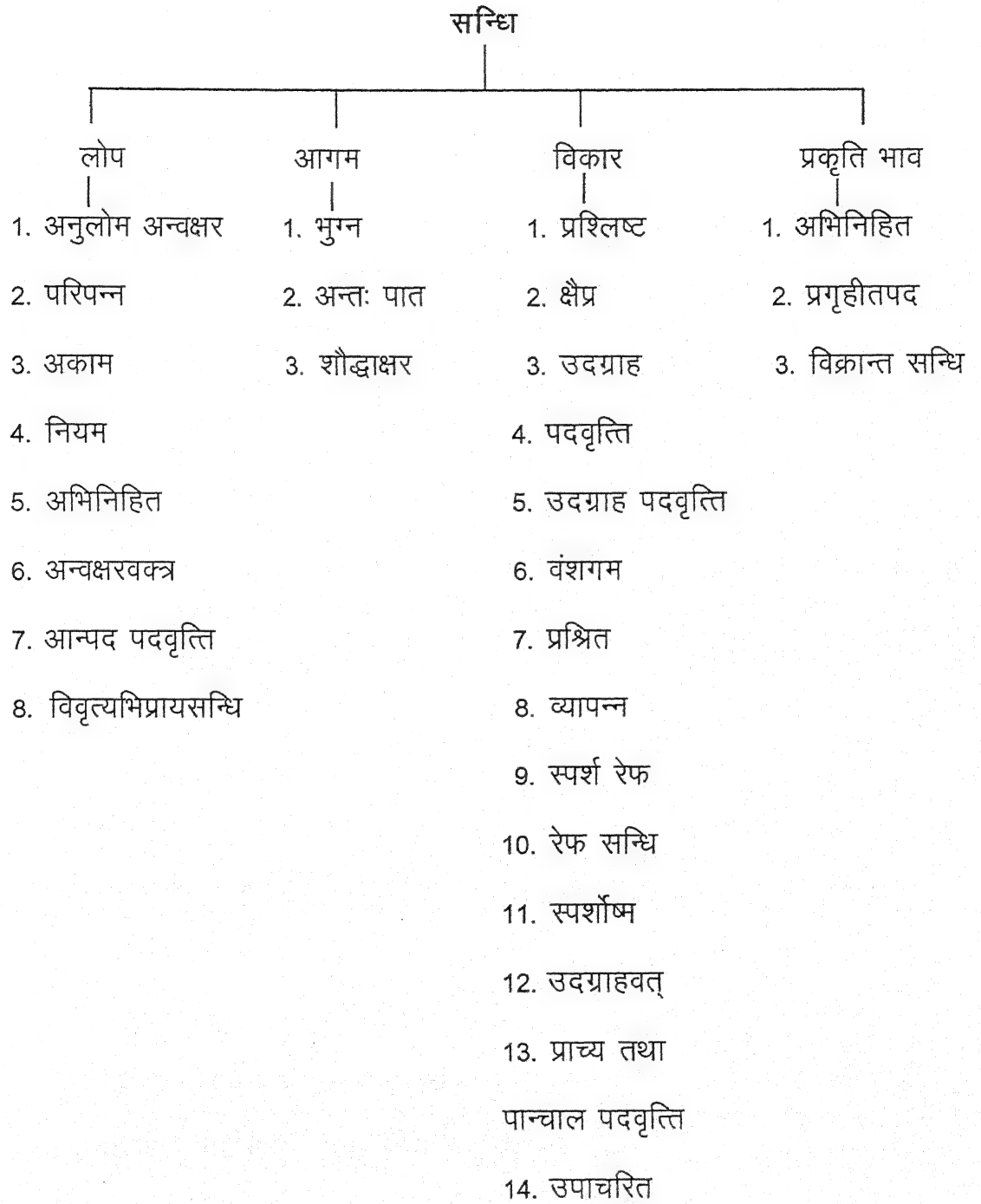
प्रातिशाख्य ग्रन्थों में सन्धियों का विवेचन बृहद एवं सम्यक् रूप से वर्णन किया गया है। किन्तु सभी शिक्षा–ग्रन्थों में सन्धि का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता है। कतिपय शिक्षा–ग्रन्थों में ही सन्धि का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। किन्तु माण्डूकी शिक्षा में अनुस्वार एवं विसर्ग सन्धि का ही उल्लेख प्राप्त होता है।

अनुस्वार सन्धि–

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में अनुस्वार सन्धि का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्यानुसार रेफ एवं ऊष्म वर्ण बाद में हो, तो मकार अनुस्वार हो जाता है।[1] यथा– ''होतारं रत्नधातमम्'' में होतारम् का मकार बाद में 'रत्नधातमम्' का पदादि रेफ होने से अनुस्वार हो गया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के अनुसार र एवं ऊष्म वर्ण बाद में होने पर मकार अनुस्वार हो जाता है।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में रेफ एवं ऊष्म वर्ण बाद में होने पर मकार का लोप जो जाता है।[3] तत्पश्चात् मकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है।[4] यथा–'प्रत्युष्टम् + रक्षः = प्रत्युष्टं रक्षः।' चतुरध्यायिका के अनुसार नकार एवं मकार का लोप होने पर उसके पूर्व स्वर अनुनासिक कहा गया है।[5]

शिक्षा–ग्रन्थों में अनुस्वार सन्धि के नियमों का विधान किया गया है। नारदीय शिक्षा के अनुसार रेफ एवं ऊष्म वर्ण बाद में हो तो मकार का अनुस्वार हो जाता है।[6] वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा में कहा गया है कि ऊष्म तथा अन्तःस्थ वर्ण बाद में हो तो मकार का अनुस्वार हो जाता है।[7]

---

1. रेफोष्मणोरुदयोर्मकारोऽनुस्वारं ...................... । —ऋ०प्रा० 4/15
2. अनुस्वार रोष्मसु मकारः। —वा०प्रा० 4/1
3. अथ मकार लोपः। रेफोष्मपरा। —तै०प्रा० 13/1–2
4. नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च
   मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः। —तै०प्रा० 15/1
5. नकारमकारयोलोपे पूर्वस्यानुनासिकः। —च०अ० 1/67
6. आपद्यते मकारो रेफोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारम्।
   यलवेषु परसवर्णं स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिम्।। —ना०शि० 2/3/4
7. अनुस्वारश्च रोष्मसु मकारस्येति यो विधिः।
   पदयोरन्तरे सः स्यात्पदमध्ये तु नस्य च।। —वर्ण०र०प्र०शि० 140
   पदान्तीयमकारस्य त्वन्तस्थाः परतो यदि।
   नासिक्यमुपधापूर्वं सोऽन्तस्थात्वमवाप्नुयात्।। —वर्ण०र०प्र०शि० 142

माण्डूकी शिक्षा के मतानुसार य र व तथा ऊष्म वर्ण बाद में हो तो मकार का अनुस्वार हो जाता है।[1] यथा–'उपसंयन्तु।' यहाँ पर यकार के परे रहते मकार अनुस्वार हो गया है। इसी प्रकार ''संरय्या'' में रकार के परे मकार अनुस्वार हुआ। ''संवत्सरान्'' में वकार के परे मकार अनुस्वार में परिवर्तित हुआ है। ''मनांसि'' में ऊष्म संज्ञक ''स'' के परे रहते मकार अनुस्वार हो गया है।

शिक्षानुसार मकार के स्थान में लकार के परे रहते अनुस्वार निषिद्ध है।[2] किन्तु यहाँ यदि अनुस्वार न होता तो क्या होता, ऐसी उत्कंठा होने पर चतुरध्यायिका में कहा गया है, कि मकार का लकार के परे रहते लकार अनुनासिक समझना चाहिए।[3] यथा–'तलंलोकम्।' शिक्षानुसार स्पर्श वर्णों के परे रहते मकार तद्वर्गीय पंच वर्णों को प्राप्त होता है। अर्थात् मकार स्पर्श वर्णों के परे रहते तत्–तत् वर्णों के पंचम वर्ण कहे गये है।[4] माण्डूकी शिक्षा में जहाँ मकार के स्थान में साक्षात् अनुस्वार अथवा परसवर्णता बताई गई है, वही चतुरध्यायिका में पूर्व मकार का लोप उसके बाद तत् पूर्व स्वर कहीं अनुनासिक कहा गया है और कहीं मकार की परसवर्णता एवं कहीं लकारता स्वीकृत की गई है।

**विसर्ग सन्धि–**

माण्डूकी शिक्षा में यद्यपि विसर्ग का वृहद विवेचन नहीं किया गया, किन्तु संस्कृत भाषा में दूसरे वर्णों की तरह विसर्ग का भी महत्व है। यह विसर्ग किस वर्ण के संयोग होने पर किस अवस्था को प्राप्त करता है, अर्थात् विसर्ग का प्रतिनिधित्व किन वर्णों से और कहाँ–कहाँ किया जाता है। इत्यादि सभी विसर्ग सन्धि का विषय है।

---

1. आपद्यते मकारो यरवोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारम्। –मा०शि० 9/7
2. न भवति लकारे ........................................। –मा०शि० 9/7
3. उभयोर्लकारे लकारोऽनुनासिकः। –च०अ० 2/35
4. .......................... परसवर्णस्पर्शेषु चोत्तमापत्तिः। –मा०शि० 9/7

शिक्षा–ग्रन्थों में प्रतिपादन किया गया है कि ओभाव, विवृत्ति, शकार, षकार, सकार, रेफ, जिह्वामूल, उपध्मानीय इत्यादि विकार विसर्ग के ही कहे गये है।[1]

जब पदान्त रेफ से पूर्व ह्रस्व अकार और बाद में ह्रस्व अकार अथवा घोष व्यंजन होता है। वहाँ पूर्व अकार के साथ रेफ ओकार रुप हो जाता है। यही विसर्ग सन्धि माण्डूकी शिक्षा में ओभाव रुप कही गई है। यथा–'छन्दांसि कवयो वियेतिरे।'[2] यही ओभाव रूप सन्धि चतुरध्यायिका में ''अकारोपधस्योकारोऽकारे घोषवति च''[3] इस सूत्र के द्वारा प्रदर्शित की गई है। यहाँ रेफ से पूर्व ह्रस्व आकार दीर्घ आकार अथवा प्लुत आकार उससे अतिरिक्त कोई भी स्वर अथवा घोष व्यंजन रेफ प्लुत होता है। सन्धि अभाव को विवृत्ति कहा जाता है अर्थात् यहाँ विसर्ग के लोप हो जाने से सन्धि नहीं होती है। यथा–'जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टौ।'[4] चतुरध्यायिका में यही विवृत्ति रूप विसर्ग सन्धि समझा जाता है।[5]

---

1. ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
   जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः।। –या०शि० 143
   ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
   जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः।। –ना०शि० 2/4/5
   ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
   जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः।। –पा०शि० 14
   ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
   जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः।। –मा०शि० 10/4
2. अ०सं० 8/17/1
3. च०अ० 2/53
4. अ०सं० 4/5/7
5. च०अ० 2/22

जहाँ अघोष वर्णों से परे स्थित विसर्गों के स्थान में सकार होता है। वहाँ सकार रुप को विसर्ग सन्धि समझा गया है। यथा–'रायस्पोषेण।'[1] यहाँ विसर्ग सकार हुआ है इसीलिए यहाँ सकार रूप विसर्ग सन्धि है। चतुरध्यायिका में भी सकार रूप विसर्ग सन्धि कही गई है।[2] यह विसर्ग सकार रुप है। जहाँ शत्व और षत्व में परिगणित होता है वहाँ क्रमशः शकार अथवा षकारात्मक विसर्ग सन्धि है। यथा–'प्रदिश्शचस्त्रः।'[3] यहाँ शकार में विसर्ग परिवर्तित हुआ है। यथा–'भूमिष्ट्वा पातु।'[4] यहाँ विसर्ग षकार में परिवर्तित हुआ है। चतुरध्यायिका में उन स्थानों को परिगणित किया गया है जहाँ सकार और षकार होता है किन्तु विसर्ग का श ष रूप विकार यहाँ नहीं कहा गया। क्योंकि ये विकार तत्–तत् वर्णों में होते है।

विसर्ग सन्धि के रेफ की दो प्रकार से गति होती है। अनन्य प्रकृति रूप और अन्य प्रकृति रूप। जहाँ मूलतः ही रेफान्त पद हो वहाँ अनन्य प्रकृति होती है। और जहाँ सकार के स्थान में रेफ हो वहाँ अन्य प्रकृति रेफ की होती है। इस प्रकार ओभाव विवृत्य आदि स्थल के परिहार्य से घोष व्यंजन अथवा स्वर से परे विसर्ग की रेफ गति ही होती है। यथा–'गर्भे न नो जनिता दम्पती कदेवस्न्क्ष्टा;।'[5] चतुरध्यायिका में उन स्थलों को परिगणित किया गया है। जहाँ विसर्ग रेफ में होता है इसमें विसर्ग के रेफ बोधक नियम बताये गये है।[6] जहाँ विसर्ग रेफ नहीं समझा जाता।[7]

---

1. अ०सं० 3/15/8
2. समासे सकारः कपयोरनन्तः सद्य श्रेयश्छन्दसाम्। –च०अ० 2/62
3. अ०सं० 2/6/1
4. अ०सं० 5/28/5
5. अ०सं० 18/1/5
6. च०अ० 2/ 42–49
7. च०अ० 2/ 50–51

किन्तु अघोष से परे रेफ विसर्ग भाव को प्राप्त होता है। यथा–'धेनवः स्यन्दमाना।'[1] अघोष से परे रेफ विसर्ग भाव को प्राप्त होता है अथवा जहाँ सर्वथा वर्णों का अभाव हो वहाँ भी रेफ विसर्ग भाव को प्राप्त होता है। यथा–'जग्मुरावः।'[2] यहाँ वर्णों के अभाव से ही रेफ विसर्ग हो गया है।

अघोषों में भी जब विसर्ग से उत्तर अघोष क वर्ग अर्थात् ककार खकार होते है तब विसर्ग के स्थान में जिह्वामूलीय होता है और जब अघोष पवर्ग पकार और फकार होते है तब उपध्मानीय होता है। यथा–'रथकाराः कर्मारा।'[3] 'पुंसः परिजातोऽश्वत्थः।'[4] चतुरध्यायिका में विसर्ग के जिह्वामूलीय उपध्मानीय भावो के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया इसीलिए माण्डूकी शिक्षा के सिद्धान्त समझने योग्य है। यद्यपि जिह्वामूलीय का स्वरूप ≍ क, ≍ ख और उपध्मानीय ≍ प, ≍ फ कहा गया है। अथर्व संहिता में उपध्मानीय के इस स्वरूप का उल्लेख विसर्ग के रूप में परे भी नहीं प्राप्त होता है फिर भी वहाँ उपध्मानीय और जिह्वामूलीय के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।

**द्वित्व विचार–**

शिक्षा–ग्रन्थों में द्वित्व विषयक वृहद विवेचन किया गया है। शिक्षा–ग्रन्थों में इक्कीस वर्णों का द्वित्व होता है। ये वर्ण हैं– प्रथम क च ट त प, मध्यम ग ज ड द ब, अन्त्य ङ ञ ण न म तथा य व ल, श ष स।[5]

---

1. अ०सं० 2/5/6
2. अ०सं० 2/5/6
3. अ०सं० 3/5/6
4. अ०सं० 3/6/1
5. वर्णा विंशतिरेकश्च येषां द्विर्भाव इष्यते।

   अथमान्त्यास्तृतीय श्च यलवाः शषसैः सह।। –लो०शि० 2/6

   वर्णा विंशति रेकश्च येषां द्विर्भाव इष्यते।

   प्रथमा मध्यमा चान्त्या यलवाः शषसास्तथा।। –मा०शि० 11/8

'वाचस्पति': यहाँ सकार का दो बार उच्चारण किया है। जिस कारण इसका उच्चारण 'वाचस्स्पति' होता है। चतुरध्यायिका में वर्णों के द्वित्व का सम्यक् विवेचन किया गया है। यथा–पद के अन्त में व्यंजन दो बार उच्चरित होता है।[1] यथा–'तृषत्' इसका उच्चारण 'तृषत्त्' होता है। ह्रस्व स्वर उपधा में होता है। ऐसे वर्ण ङ ण न स्वर परे रहते दो बार उच्चरित होते है। यथा–'उद्यन्नादित्यः'। यहाँ ह्रस्व स्वर से परे नकार दो बार उच्चरित होता है।

माण्डूकी शिक्षा एवं गौतमी शिक्षा में उपर्युक्त नियमों का अपवाद दृष्टिगोचर होता है।[2] जहाँ वर्णों का द्वित्व भाव स्वीकृत नहीं है। ये वर्ण हैं– ख, छ, ठ, थ, फ, घ, झ, ढ, ध, भ, र तथा ह। शिक्षानुसार इन वर्णों का द्वित्व उचित नहीं है।

**द्वित्व के नियम–**

माण्डूकी शिक्षा में संयोगावस्था में चतुर्थ वर्णों को तृतीय में एवं द्वितीय वर्णों को प्रथम में पीडित करके उच्चारण करना चाहिए। क्योंकि वर्गो के आदि मध्य और अन्त्य वर्ण स्वनुरूप ही द्वित्व को प्राप्त करते है।[3] यथा–'मध्युत्तम्।' इसका उच्चारण 'अद्ध्युत्तम' होता है। ऐसा शिक्षाकार का मत है।

---

1. पदान्ते व्यंजनं द्विः। —च०अ० 3/26
2. न रेफे वा हकारे वा द्विर्भावो जायते क्वचित।
   न च वर्ग द्वितीयेषु न चतुर्थे कदाचन।। —मा०शि० 11/10
   अथ सर्वेषां व्यंजनानां द्विर्भावो भवति।
   द्वादशाक्षरवर्जंते ख छ ठ थ फा घ झ ढ ध भा रहयोश्चेति।। —गौ०शि० 3
3. चतुर्थं तु तृतीयेन द्वितीयं प्रथमेन तु।
   आद्यमन्त्यं तृतीयं च स्वाक्षरेणैव पीडयेत।। —मा०शि० 11/11

शिक्षानुसार सकार आदि के परे प्रथम वर्ण द्वितीय वर्ण के समान उच्चरित होते है। किन्तु यह उच्चारण द्वितीय अक्षर की तरह स्फुट नहीं करना चाहिए। यथा–'मत्स्यान' को 'मथ्स्यान' की तरह उच्चारण करना चाहिए। 'अप्सरान' को 'अफ्सरान' इस प्रकार से उच्चारण करना चाहिए।[1] चतुरध्यायिका में भी शषस के परे रहते प्रथम द्वितीय इस प्रकार होते है।[2] यथा–'अत्वां वत्सो।' इसका उच्चारण 'वथ्सो' की तरह होता है। शिक्षानुसार पंचम वर्णों का जहाँ ऊष्म के परे रहते जो जागरण होता है। वहाँ भी आगम वर्ण द्वितीय वर्ण की तरह उच्चारण करने योग्य है। यथा–'यस्मिन्त्सीतेति।'[3] यहाँ तकार का उच्चारण शिक्षानुसार थकार के समान होता है। कारिका में सन्धि विषयक दो सिद्धान्त समझने चाहिए। प्रथम सिद्धान्त में पंचम वर्णों का ऊष्म वर्णों में आगम होता है। और द्वितीय में आगम द्वितीय के समान उच्चारण योग्य है। श्लोक के प्रथम सिद्धान्त को मान करके पाणिनि ने "ङणोः कुक्टुक् शरि"[4] "नश्च"[5] "शितुक्"[6] इन सूत्रों की रचना की। चतुरध्यायिका में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।[7] चतुरध्यायिका पाणिनि से प्राचीन प्रतीत होती है। माण्डूकी शिक्षा से यह सिद्धान्त चतुरध्यायिका में विहीत है। चतुरध्यायिका से पाणिनि ने संगृहीत किया है।

---

1. प्रथमानूष्मसम्पन्नान्द्वितीयानिव दर्शयेत्।
   तथैतान्प्रतिजानीयाद्यथा मत्स्यान्क्षरोऽप्सरान्।। —मा०शि० 12/9
2. द्वितीयाः शषसेषु। —च०अ० 2/6
3. तथैव पंचमानाहुरागमो यत्र दृश्यते।
   द्वितीयानेव तान्कुर्याद्यस्मन्त्सीतेति निदर्शनम्।। —मा०शि० 12/10
4. अष्टा० 8/3/28
5. अष्टा० 8/3/30
6. अष्टा० 8/3/31
7. ङणनेभ्यः कटतैः शषसेषु। —च०अ० 11/9

शिक्षानुसार, जहाँ ककारान्त पद पूर्व में हो वहाँ ङकार प्रत्यय के परे रहते ङकारस्थ आगम समझना चाहिए। यथा–'बाङक्म्।'[1] शिक्षानुसार, णकार प्रत्यय के परे रहते पूर्व पदान्तस्थ टकार णकार का आगम होता है। यथा–'बण्ण्महाँ।'[2]

तकारान्त पद के पूर्व रहने पर नकार प्रत्यय के परे रहते नकार का आगम स्वीकार किया गया है। अर्थात् नकार के परे रहते पूर्व पदान्तस्थ तकार का नकार आगम कहा गया है। यथा–'यन्न।' इसका उच्चारण यन्न्न होता है।[3] शिक्षानुसार पकारान्त पद पूर्व हो वहाँ मकार का आगम होता है। यथा–'त्रिष्टुपम्।' इसके स्थान पर 'त्रिष्टुम्म' उच्चारण होता है।[4] इसी प्रकार क ट त प वर्ण पदान्त में हो वे सभी ङ ण न म वर्णों के परे रहते अपने वर्गों के परे पंचम वर्णों को प्राप्त करते है।[5] अर्थात् वहाँ क ट त प उत्तम होते है। यद्यपि शिक्षा में क ट त प इन वर्णों में चकार का परिगणन नहीं किया गया, किन्तु अन्य शिक्षाओं में चकार का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। वर्ण रत्न प्रदीप

---

1. ककारान्ते पदे पूर्वे ङकारे प्रत्यये परे।
   ङकारस्यागमं कुर्याद्वाङ्क्म इति निदर्शनम्।। —मा०शि० 14/2
2. टकरान्ते पदे पूर्वे णकारे प्रत्यये परे।
   णकारस्यागमं कुर्याद्बस्महाँ इति निदर्शनम्।। —मा०शि० 14/3
3. तकारान्ते पदे पूर्व नकारे प्रत्यये परे।
   नकारस्यागमं कुर्यादयन्न इति निदर्शनम्।। —मा०शि० 14/4
4. मकारान्ते पदे पूर्वे मकारे प्रत्यये परे।
   मकारस्यागमं कुर्यात् त्रिष्टुम्म इति निदर्शनम्।। —मा०शि० 14/5
5. अन्त्यं क ट त पं दृष्टवा परं ङ ण न मं तथा।
   आत्मपंचम संयोगमाहुरक्षरचिन्तकाः।। —मा०शि० 14/6

शिक्षा में क ट त प के साथ चकार का भी पंचम वर्णों में पंचम भाव स्वीकृत है।[1] चतुरध्यायिका में भी उत्तमों में अघोष वर्ण उत्तम कहे गये है।[2] यथा–'ऋधङ मन्त्रों।' लौकिक संस्कृत व्याकरण में पाणिनि ने यही सिद्धान्त ''यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा'' इस सूत्र के द्वारा प्रतिपादित किया है।[3]

यद्यपि सन्धि का मुख्य रूप से व्याकरण का प्रतिपाद्य विषय होने के कारण शिक्षा शास्त्रों में न्यूनतम विवेचन मिलता है। किन्तु उच्चारण विधि में अर्न्तभाव होने के कारण सन्धि जन्य विकारों में किस प्रकार का उच्चारण अपेक्षित है। इस प्रकार चिन्तन करके माण्डूकी शिक्षा में भी विचार किया गया है।

**संयोग विचार–**

'सम' उपसर्ग पूर्वक √युज धातु से ''धञ्'' प्रत्यय करने पर संयोग पद बनता है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'मेल' होता है। अर्थात् जहाँ स्वर अव्यवहित व्यंजन होते है, वहाँ संयोग होता है। व्यंजनों के सम्मेलन अर्थ में पद का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण में मिलता है।[4] चतुरध्यायिका में पद का अर्थ स्मरण किया गया है। क्योंकि स्वरों से अव्यवहित व्यंजन समूह संयोग संज्ञक होता है।[5] प्रातिशाख्यों में संयोग के अनेक पर्याय दृष्टिगोचर होते है।[6] चतुरध्यायिका में संयुक्त व्यंजनों के पूर्व भाग की पूर्व स्वराङ्गता

---

1. वर्ण० र० प्र० शि० ।
2. उत्तमा उत्तमेषु। —च०अ० 2/5
3. अष्टा० 8/4/45
4. कतिपदः कः संयोगः ....................। —गो०ब्रा० 1/1/24
5. व्यंजनान्य व्यवेतानि स्वरैः संयोगः। —च०अ० 1/98
6. संयोगस्तु व्यंजन सन्निपातः। —ऋ०प्रा० 1/37

   संयोगं विद्याद्व्यजंन संगमम्। —ऋ०प्रा० 18/40

   संयोगो व्यंजनसंघात। —तै०प्रा० 21/4(वै०भ0)

उत्तर की पर स्वराङ्गता स्वीकृत है।[1]

शिक्षा–ग्रन्थों में संयोग का विवेचन प्राप्त होता है। नारदीय शिक्षानुसार, जहाँ संयोग में उत्तर पद के द्वारा असंलग्न व्यंजन पूर्व पद के अंग की तरह और जिस व्यंजन के द्वारा उत्तर पद का आरम्भ हो, उसको पराङ्ग कहते है।[2] शिक्षानुसार संयोग का पर भाग स्वर युक्त कार्य है। स्वर का उसमें प्रधानत्व होने से पूर्व व्यंजन संयुक्त के पूर्व व्यंजन स्वर को प्रयोग करना चाहिए।[3] याज्ञवल्क्य शिक्षा में अनेक व्यंजनों के संयोग होने पर पूर्व पराङ्गता करके पूर्व अंग के साथ और उत्तर का पराङ्ग स्वर के साथ उच्चारण समझा गया है।[4] संयोग परे रहते पराङ्ग भूत संयोग ही स्वर युक्त अपेक्षित है। क्योंकि पर स्वर ही उसके संयोग का नायक होता है। इसीलिए संयुक्त वर्णों में पूर्व संयोग वर्ण को उत्तर संयोग वर्ण के स्वर के साथ नहीं करना चाहिए।[5] माण्डूकी शिक्षा के अनुसार स्वरित अनुदात्त उदात्त प्रचय इत्यादि स्वर एक ही पद में पराङ्ग स्वर के परे रहते ही होते है। एवं पूर्वाङ्ग में नहीं करना चाहिए, ऐसा शिक्षाकार का मत है।[6]

---

1. परस्य स्वरस्य व्यंजनानि, संयोगादि पूर्वस्य। —च०अ० 1/55–56
2. संयोगे यत्र दृश्यते व्यंजनं विरते पदे।
   पूर्वाङ्ग तद्विजानीयाद्येनारम्भस्तत्पराङ्गम्।। —ना०शि० 2/1/13
3. संयोगात्तु परं स्वर्यं परं संयोगनायकम्।
   संयुक्तस्य तु वर्णस्य स्वरितं पूर्वमक्षरम्।। —ना०शि० 2/1/14
4. पराङ्गस्य तु यत्पूर्वं पूर्वाङ्गस्य तु यत्परम्।
   उभयोरर्द्ध सँय्योगे स्वारं कुर्याद्विचक्षणः।। —या०शि० 106
5. सँय्योगे तु परं स्वार्य्यं परं सँय्योगनायकम्।
   सँय्युक्तस्य तु वर्णस्य न स्वार्य्यं पूर्वमक्षरम्।। —या०शि० 107
6. स्वरणं पतनं चैव वोत्थानेषु समेषु च।
   एकमेव पदे दृष्टं न पूर्वाङ्गे क्वचिद् भवेत्।। —मा०शि० 11/7

यहाँ पूर्वाङ्ग शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि पद में भी संयुक्त व्यंजनों का मध्य में पूर्व स्वर अङ्गता अथवा पर स्वराङ्गता स्वीकृत की गई है। संयुक्त व्यंजनों का किस प्रकार से उच्चारण करना चाहिए। ऐसी उत्कंठा होने पर माण्डूकी शिक्षा में अति सुन्दर उत्तर प्राप्त होता है। संयोग भाव उपागत वर्णों का उच्चारण एक वर्ण की तरह एक साथ करना चाहिए। किन्तु संयुक्त वर्णों का स्वरूप उसी प्रकार होना चाहिए जिस प्रकार लकड़ियाँ आपस में संश्लिष्ट होती है।[1] अर्थात् दारू संधात की तरह संयोग भाव से उत्पन्न वर्णों को एक वर्ण की तरह उच्चारण करना चाहिए।

संयोग के स्वरूप को प्रतिपादित करके शिक्षा में उन स्थलों का परिगणन किया गया है। जिसमें संयोग का अस्तित्व प्रधान रुप से स्वीकार किया जाता है। जिस स्थल में दो तकार और थकार हो, यम रहित पंचम वर्ण इत्यादि स्थलों में शिक्षाविदों ने संयोग की सत्ता स्वीकार की है।[2]

********

---

1. दारू सङ्धातवत्श्लिष्टं संयोगवशवर्तिनाम्।
   वर्णानां युग सम्पन्नमेकं वर्णमिवोत्सृजेत्।। —मा०शि० 11/8
2. द्वौ तकारौ थकारौ यमोनेति च पंचमः।
   श्रत्स्नाइति च संयोगमाहुरक्षरचिन्तकाः।। —मा०शि० 14/1

# दशम अध्याय

## (उच्चारण वैशिष्ट्य)

विवृत्ति–

विवृत्ति पद वि पूर्वक √वृतु वर्तने धातु से निष्पन्न होता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कहा गया है कि दो स्वरों के मध्य व्यवधान को विवृत्ति कहते है।[1] उपर्युक्त कथन से प्रतीत होता है, कि जहाँ पर दो स्वरों के मध्य संधि स्थल में सन्धि नहीं की जाती है, वहाँ उच्चारण करते समय काल का व्यवधान होता है। एक स्वर के उच्चारण के बाद किचिंत काल का व्यवधान किये ही दूसरा स्वर उच्चरित कर दिया जाता है। परिणाम स्वरुप सन्धि–विकार उत्पन्न हो जाता है। किन्तु यदि एक स्वर के पश्चात् दूसरे स्वर का उच्चारण इस प्रकार किया जाए, जिससे उनके मध्य सन्धि–विकार न हो सके। तो प्रथम स्वर के उच्चारण के बाद अल्प विराम करके द्वितीय स्वर का उच्चारण किया जायेगा। अतः इस अनुच्चारण काल को ही विवृत्ति का काल कहा गया है। चतुरध्यायिका में भी स्वरों के मध्य में काल के व्यवधान को विवृत्ति कहा गया है।[2]

शिक्षा–ग्रन्थों में भी विवृत्ति पद का उल्लेख प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में विवृत्ति के विषय में कहा गया है कि जहाँ दोनों स्वरों के मध्य में सन्धि का अभाव हो, वहाँ विवृत्ति समझनी चाहिए।[3] यद्यपि माण्डूकी शिक्षा में विवृत्ति पद का लक्षण नहीं कहा गया है। किन्तु विवृत्ति के भेद अवश्य कहे गये हैं।[4] अन्य शिक्षा–ग्रन्थों के अनुसार चतुर्विध विवृत्ति कही गई है।

---

1. स्वरान्तरं तु विवृत्तिः। —ऋ०प्रा० 2/3
2. विवृतौ पादवृत्तः। —च०अ० 3/63
3. द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते।
   विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया यऽईशेति निदर्शनम्।। —या०शि० 94
4. पिपीलिका पाकवती तथा वत्सानुसारिणी।
   अनुसृतवत्सां चैत्र चतस्त्रो हि विवृत्तयः।। —मा०शि० 9/1

वे इस प्रकार है–पिपीलिका, पाकवती, वत्सानुसारिणी एवं वत्सानुसृता।[1] याज्ञवल्क्य शिक्षा में वत्सानुसृता का अन्त स्वर ह्रस्व होता है। यथा– तानऽआवोढमश्विना।[2] माण्डूकी शिक्षानुसार वत्सानुसृता पूर्व पदान्त स्वर ह्रस्व होता है। अर्थात् जघन रूपा है।[3] वत्सानुसारिणी में पूर्वान्त स्वर दीर्घ होता है। यथा–ताऽअस्येति।[4] पाकवती के दोनों ह्रस्व होते है। यथा–व्विनऽइन्द्र।[5] पिपीलिका आद्यन्त दीर्घ होती है। यथा–नाव्भ्याऽआसीत्।[6]

वस्तुतः विवृत्ति वैदिक वाङ्मय की विशिष्टता है, क्योंकि लौकिक संस्कृत में जहाँ सामान्य रूप से सन्धि अवसर में सन्धि प्राप्त होती है। वैदिक वाङ्मय में सन्धि के अभाव में विवृत्ति समझनी चाहिए। सम्भवतः उच्चारण में कठिनता के दोष को समाप्त

---

1. पिपीलिका पाकवती यथा वत्सानुसारिणी।
   वत्सानुसृजिता चैव चतस्त्रस्ता विवृत्तयः।। —या०शि० 95
   सा विवृत्ति बुंधैर्ज्ञेया स एवेति च पश्यति।
   एषा चतुर्द्धा विज्ञेया प्रथमा तु पिपीलिका।। —स्व०भ०ल०शि० 32
   परा पाकवती चैव तथा वत्सानुसारिणी।
   वत्सानुत्सृजिता चैव चतस्त्रस्ता विवृत्तयः।। —स्व०भ०ल०शि० 33
2. वत्सानुसृजिता चान्ते। —या०शि० 97
3. वत्सानुसृता ह्रस्वा जघने। —मा०शि० 9/3
4. वत्सानुसारिणी चाग्रे। —मा०शि० 9/3
   तृतीया चोदिता दीर्घा ताऽअस्येति। —स्व०भ०ल०शि० 35
5. पाकवत्युभयोर्ह्रस्वा। —या०शि० 97
   पाकवती चोभयतः। —मा०शि० 9/3
   द्वितीया तूभया ह्रस्वा व्विनऽइन्द्रेति दर्शनम्। —स्व०भ०ल०शि० 34
6. पिपीलिकाऽघन्तदीर्घा। —या०शि० 96
   पिपीलिकाऽऽद्यन्त दीर्घा नाभ्याऽआसीन्निदर्शनम्। —स्व०भ०ल०शि० 34
   पिपीलिक मध्याऽप्युभयदीर्घा। —मा०शि० 9/3

करने के लिए ही सन्धि की प्राप्ति में उसका अभाव ही स्वीकार किया गया है।

माण्डूकी शिक्षानुसार जहाँ पूर्व पद में ह्रस्व और उत्तर पद में दीर्घ स्वर हो एवं दोनों के अव्यवहित होने पर भी यदि सन्धि न हो तो वहाँ अनुसृतवत्सा विवृत्ति समझना चाहिए। वत्सानुसृत का स्वरूप जघन की तरह माना गया है अर्थात् जघन का पूर्व भाग क्षीण होता है। एवं उत्तर भाग स्थूल होता है। उसी प्रकार से इसे भी समझना चाहिए।[1]

अनेक शिक्षा–ग्रन्थों में विवृत्ति को काल कहा गया है। यथा–मेघ में जितने समय तक विद्युत दिखाई देती है, एवं कर्तरी में कट इस ध्वनि का जितना काल है, उतना ही विवृत्ति का भी अपेक्षित है।[2]

**स्वर भक्ति–**

स्वर भक्ति दो शब्दों के योग से बना है– स्वर एवं भक्ति। स्वर भक्ति का शाब्दिक अर्थ स्वर के द्वारा विभक्त किया हुआ। 'भक्ति' शब्द विभक्त करने इस अर्थ में √भज् धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से बनता है। स्वर का तात्पर्य अकारादि वर्णों से है, जबकि भक्ति की तात्पर्य अंश या भाग है। इस प्रकार स्वर भक्ति का व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है–

---

1. पूर्व ह्रस्वं परं दीर्घमक्षरं यत्र दृश्यते।
   सा वत्सानुस्मृता ज्ञेया व्यत्यासेत्यनुसारिणी।। –मा०शि० 9/4
2. आकाशस्था यथा विद्युत्स्फुटिता मणिसूत्रवत्।
   एषच्छेदो विवृत्तीनां यथा बालेषु कर्त्तरि।। –या०शि० 9/3
   अभ्रमध्ये यथा विद्युद्दृश्यते मणिसूत्रवत्।
   एषच्छेदो विवृत्तीनां यथा बालेषु कर्त्तरि।। –ना०शि० 1/6/11
   अभ्रमध्ये यथा विद्युद्दृश्यते मणिसूत्रवत्।
   एषच्छेदो विवृत्तीनां यथा बालेषु कर्त्तरि।। –मा०शि० 9/6

(1) जो भज्य है, वह भक्ति है। इस अर्थ को स्वीकार करके स्वर भक्ति पद से स्वर का अंश अथवा धर्म ही बोध्य है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्वर भक्ति इस शब्द का अर्थ इसी पक्ष में किया गया है।[1]

(2) स्वर से जो विभाजित किया जाता है, वह स्वर भक्ति पद से कहा जाता है, अर्थात् यहाँ भक्ति पद विभाग अर्थ में प्रयुक्त है। रेफ लकार के व्यंजनों में जब उच्चारण में कठिनता का अनुभव किया जाता है, तब उस कठिनता (असुविधा) को समाप्त करने हेतु संयुक्त व्यंजनों के मध्य में अति ह्रस्व स्वरागम के प्रमाण से उसमें युक्त व्यंजन विभाजित होता है, स्वर के द्वारा विभाग होने के कारण स्वर भक्ति संज्ञा दी गई है। चतुरध्यायिका में रेफ से स्वर ऊष्म परे रहते स्वर भक्ति कही गई है।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में केवल रेफ के परे स्वर भक्ति कही गई है।[3] ऋग्वेद प्रातिशाख्य के भाष्यकार उवट का कथन है कि रेफ के परे स्वर भक्ति रेफ सदृश एवं लकार परे स्वर भक्ति लकार सदृश कही गई है।[4] वाजसनेयि प्रातिशाख्य के अनुसार जिसके बाद में स्वर हो तथा ऊष्म वर्ण के परे होने पर रेफ एवं लकार सर्वत्र ऋवर्ण और लृवर्ण ध्वनियों से सर्वत्र व्यवहित हो जाते है, वहाँ स्वर भक्ति समझनी चाहिए।[5] ऋग्वेद प्रातिशाख्य के भाष्यकार उवट ने स्वर भक्ति को

---

1. भज्यते इति भक्तिः धर्मः। स्वरस्यैव च
   भक्तिर्यस्य स तथोक्तः स्वरधर्मो। भवतीति यावत्। —तै०प्रा० 21/15 (वै०भ०)
2. रेफादुष्मणि स्वरपरे स्वरभक्तिः............................। —च०अ० 1/102
3. रेफोष्मसंयोगे रेफस्वर भक्तिः। —तै०प्रा० 21/15
4. सा स्वर भक्तिः पूर्वं रेफं लकारं वा भजते।
   रेफादुत्तरा रेफ सदृशी भवति लकारादुत्तरा
   लकार सदृशी भवति। —ऋ०प्रा० 1/32 (उ०भा०)
5. रत्नावृलृवर्णाभ्यामूष्मणिस्वरोदये सर्वत्र। —वा०प्रा० 4/17

स्वर का प्रकार कहा है।[1]

**स्वर भक्ति का उच्चारण–**

शिक्षाओं में भी स्वर भक्ति का उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार, जहाँ रेफ एवं लकार के परे स्वर ऊष्म वर्ण हो, वहाँ पर ऊष्म–वर्ण और रेफ या लकार के पश्चात् उसी रेफ अथवा लकार के बाद उसी रेफ अथवा लकार के सदृश स्वर भक्ति का उच्चारण होता है।[2] माण्डूकी शिक्षा में रेफ लकार से ऊष्म एवं स्वर के परे रहते दोनों के मध्य में ऋ लृ वर्ण स्वर भक्ति पद से ज्ञेय है।[3] केशवी शिक्षा में कहा गया है कि स्वर भक्ति का उच्चारण एकार के समान करना चाहिए।[4] लोमशी शिक्षानुसार स्वर भक्ति का उच्चारण अकार रूप में करना चाहिए।[5] किन्तु माण्डूकी शिक्षा में इसका निषेध प्राप्त होता है क्योंकि ये स्वर भक्ति अकार, उकार के उच्चारण को सदोष स्वीकार करती है।[6] नारदीय शिक्षा में स्वर भक्ति के अकार, इकार एवं उकार इन दोषों से

---

1. स्वरभक्तिः स्वर प्रकार इत्यर्थः। –ऋ०प्रा० 1/32 (उ०भा०)
2. रलाभ्यां पर ऊष्माणो यत्र स्युः स्वरितोदयाः।
   स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठयते।। –या०शि० 102 (शि०सं०)
3. ऊष्मस्थौ यत्र दृश्येते स्वरवर्णौ स्वरोदयौ।
   ऋलृवर्णौ तथा ज्ञेयौ स्वरभक्तीति संस्थितौ।। –मा०शि० 9/8
4. अह्लशल्यूर्ध्वरेफस्य सैकारः प्राक्च। –के०शि० 4
5. ......................................स्वर भक्तेस्तथैव च।
   अवर्णवत् प्रयोगः.........................................। –लो०शि० 5/4
6. तां ह्रस्वां प्रतिजानी याद्यथा मात्रा भवेद्यदि
   सम्यगेनां विजानीयाद् द्वौ दोषौ परिवर्जयेत्।। –मा०शि० 9/9
   सम्यगेनां यदा पश्येच्छतवलिशेति निदर्शनम्।
   अकारं चाप्युकारं च विच्छिन्नं विवृतन् तथा।। –मा०शि० 9/10

बचने का निर्देश प्राप्त होता है।[1] याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार स्वर भक्ति का प्रयोग कर्ता अकार, इकार एवं उकार का उच्चारण रूप त्रिदोषों से बचना चाहिए।[2]

**स्वर भक्ति का उच्चारण काल–**

शिक्षा–ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में स्वर भक्ति के उच्चारण सम्बन्धी मतवैविध्य प्राप्त होते है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में स्वर भक्ति का उच्चारण ऋकार रूप में होता है।[3] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्वर भक्ति का उच्चारण रेफ के रूप में होता है।[4] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में ऋकार तथा लृकार रूप में स्वर भक्ति का उच्चारण किया जाता है।[5] चतुरध्यायिका में स्वर भक्ति का काल भी बताया गया है। रेफ से ऊष्म स्वर (वर्ण) परे रहते अकार का अर्द्ध भाग स्वर भक्ति का काल माना गया है। एवं अन्य व्यंजनों के परे रहते रेफ से अकार का चतुर्थ भाग अथवा अष्टम् भाग काल समझा गया है। किन्तु अन्य विद्धानों के मत में रेफ से ऊष्म स्वर परे रहते स्वर भक्ति का काल अकार का चतुर्थांश ही होता है।[6]

---

1. स्वर भक्तिं प्रर्युजानस्त्रीन्दोषान् परिवर्जयेत्।
   इकारं चाप्युकारं च ग्रस्त दोषं तथैव च।। –ना०शि० 2/5/9
2. स्वर भक्तिं प्रयुंजानस्त्रीन्दोषान्परिवर्जयेत्।
   इकारं चाप्युकारं च ग्रस्तदोषं तथैव च।। –या०शि० 103 (शि०सं०)
3. रेफात्स्वरोपहिताद् व्यंजनोदया दृकारवर्णा
   स्वरभक्तिरूत्तरा। –ऋ०प्रा० 6/46
4. रेफोष्म संयोगे रेफस्वर भक्तिः। –तै०प्रा० 21/15
5. रत्नावृलृवर्णाभ्यामूष्मणिस्वरोदये सर्वत्र। –वा०प्रा० 4/17
6. रेफादूष्मणि स्वरपरे स्वरभक्तिरकारयार्धं
   चतुर्थमित्येके अन्यस्मिन्व्यंजने चतुर्थमष्ट्यं वा। –च०अ० 1/101–102

शिक्षा–ग्रन्थों में विविध प्रकार के विधान दृष्टिगोचर होते है। इन विविध विधानों में मतभेद का कारण शाखा भेद ही है। स्वर भक्ति का उच्चारण वेदों की शाखाओं के कारण विभिन्न प्रकार से किया गया है। नारदीय शिक्षा में स्वर भक्ति के उच्चारण काल का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ऋवर्ण में रेफ पृथक हो जाने पर यदि वह ऊष्म वर्ण से संयुक्त होता है, तो स्वर भक्ति का उच्चारण काल लघु होता है, एवं जब ऋवर्ण ऊष्म वर्ण से संयुक्त होता है, तब स्वर भक्ति का उच्चारण काल गुरु होता है।[1] इसी प्रकार का उल्लेख माण्डूकी शिक्षा में भी मिलता है। यहाँ कहा गया है कि स्वर भक्ति का उच्चारण काल ह्रस्व होता है।[2]

माण्डूकी शिक्षा में स्वर भक्ति का अति मनोरम विवेचन किया गया है। माण्डूकी शिक्षा में मात्रा के अनुसार ह्रस्व स्वर भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। यथा– 'शतवल्शः' के स्थान में 'शतवलिशः' पढा जाता है।[3]

---

1. ऋवर्णं स्वरभक्तिं च छन्दोमानेन निर्दिशेत्।
   प्रत्ययेन सहारेफं मिमीत स्वर भक्तिषु।। —ना०शि० 2/5/2
   ऋवर्णे तु पृथग्रेफः प्रत्ययस्तु पृथग्भवेत्।
   विद्याल्लघु मृकारं तु यदि त्ष्माण संयुतः।। —ना०शि० 2/5/3
   ऊष्मणैव हि संयुक्तऋकारो यत्र पीड्यते।
   गुरूर्वर्णः सविज्ञेयस्तृचं चात्रानुदर्शनम्।। —ना०शि० 2/5/4
2. ऊष्मस्थौ यत्र दृश्येते स्वरवर्णौ स्वरोदयौ।
   ऋलृवर्णौ तथा ज्ञेयौ स्वर भक्तीति संस्थितौ।। —मा०शि० 9/8
   तां ह्रस्वां प्रतिजानीया द्यथा मात्रा भवेद्यदि। —मा०शि० 9/9
3. तां ह्रस्वां प्रतिजानीयाद्यथा मात्रा भवेद्यदि। —मा०शि० 9/9
   सम्यगेनां यदा पश्येच्छत वलिशेति निदर्शनम्।। —मा०शि० 9/10

यहाँ अति ह्रस्व स्वर इकार देखा जाता है। अतः ह्रस्व अस्वर भक्ति यहाँ विद्यमान है। लकार से शकार परे रहते अति ह्रस्व इ रूपा स्वर भक्ति होती है। यथा– शतवलिशः। माण्डूकी में 'शतवलिशः' यहाँ वकार पाठ शिक्षाकार के प्रमाद से हुआ है। अथवा संहिता के अनुसार भी वकार हुआ है। शिक्षानुसार स्वर भक्ति के उपर्युक्त उदाहरण में पूर्ण उच्चारण इ होता है। यद्यपि माण्डुकी शिक्षा के ही उच्चारण निर्देश पद के स्वरूप से उच्चारण होता है। किन्तु तत्कालिक उच्चार्यमाण स्वर भक्ति को जान करके ही विशिष्ट ध्वनि उच्चारण की विधि का प्रतिपादन है। कब किस अर्थ में 'इ' स्वर ही स्वर भक्ति के लकार 'श' के परे रहते शुद्ध उच्चारण होता है। इस प्रकार कथन कठिन है। इसके अतिरिक्त माण्डूकी शिक्षा में रेफ और ऊष्मों के संयोग होने पर द्वित्व के न होने पर भी स्वर भक्ति कही गई है। यथा– वर्षोबर्हिश्च। यहाँ 'वर्ऋहि' यह उच्चारण 'बर्हि' के स्थान में होता है।[1] शिक्षानुसार रेफ के स्वर परे ऊष्म वर्णों के संयोग होने पर रेफात्मिका स्वर भक्ति होती है।[2] यथा– वार्षिकी।[3] यहाँ रेफात्मिका स्वर भक्ति है। रेफ से व्युजन व्यवध ाान रहित श ष स इनसे परे रहते अर्थात् व्यंजन से परे श ष स ऋवर्णात्मिका स्वर भक्ति मानी गई है।[4] यथा–पार्श्वम्।[5] शिक्षानुसार 'परऋश्वम' यह उच्चारण होता है। किन्तु

---

1. रेफोष्मणां संयोगे स्वरभक्तिरक्रमश्चैव।
   तत्रोदाहरणानि प्रदर्शनम् वर्षोबर्हिश्च।। —मा०शि० 10/2
2. रेफं स्वरोदये विद्यात्। —मा०शि० 10/3
3. अ०सं० 1/6/4
4. ऋकारम् व्यंजनोदये। —मा०शि० 10/3
5. अ०सं० 4/14/17

स्वर व्यंजन के मध्य में रेफ ही कहा गया है।[1] यथा–दर्शन्नु पद में रेफात्मिका स्वर भक्ति अभिप्सित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि माण्डूकी शिक्षा में ल श की इकारात्मिका र श ष स और ह के परे रेफात्मिका स्वर भक्ति यदि ऊष्माण स्वर परे हो एवं व्यंजन व्यवहित ऊष्मों में ऋकारात्मिका स्वर भक्ति होती है। स्वर व्यंजन के मध्य में रेफात्मिका स्वर भक्ति ही अभिलषित है।

**स्वर भक्ति के प्रकार–**

शिक्षा–ग्रन्थों में स्वर भक्ति के विभाजन में पर्याप्त उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में स्वर भक्ति के पाँच प्रकारों का उल्लेख है– करिणी, कुर्विणी,हरिणी, हरिता एवं हंसपदा इत्यादि।[2] स्वर भक्ति से तत्–तत् ऊष्म वर्णो के संयोग के अनुसार करिणी, कुर्विणी, हरिणी, हरिता एवं हंसपदा नामों के द्वारा भेद कहे गये है।[3] किन्तु त्रयोदश श्लोक के उत्तरार्द्ध में काकिनी स्वर भक्ति को देखकर कह सकते है कि यहाँ षड् संख्यक स्वर भक्तियाँ अभिप्सित है। माण्डूकी शिक्षा में पूर्व पाँच स्वर भक्ति होती है, इस प्रकार काकिनी स्वर भक्ति का उल्लेख कैसे किया गया है? इस प्रकार की उत्कंठा में कहा जाता है कि संहिता में रेफ शकार संयोग को स्वर भक्ति के सिद्धान्ते न्यूनता का अनुभव करके एवं उस असुविधा को दूर करने के लिए काकिनी का स्वर

---

1. स्वर व्यंजनयोर्मध्ये रेफमव विनिर्दिशेत।। –मा०शि० 10/3
2. करिणी कुर्विणी चैव हरिणी हरिता तथा।
   तद्वत् हंसपदा नाम पंचैताः स्वर भक्तयः।। –या०शि० 98
3. करिणीं कुर्विणीं चैव हारिणी लहकारयोः।
   हरिणी ऋषयो र्विद्या द्वारितां लशकारयोः।। –मा०शि० 9/11
   या· तु हंसपदा नाम सा तु रेफ षकारयोः।
   या तु रेफशकारो स्यात्काकिनीं तां विनिर्द्दिशेत्।। –मा०शि० 9/13

भक्तियों में परिगणन किया गया है। काकिनी का यह परिणन महर्षि मण्डूक के विशिष्ट सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

याज्ञवल्क्य शिक्षा में रेफ और हकार के मध्य करिणी स्वर भक्ति है।[1] यथा—देवं बर्हिरिति।[2] माण्डूकी शिक्षा में भी रेफ और हकार के संयोग होने पर करिणी स्वर भक्ति कही गई है।[3] यथा—बर्हिर्लोमानि।[4]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि लकार और हकार के मध्य होने वाली स्वर भक्ति कुर्विणी संज्ञक होती है।[5] यथा—उपवल्हेति।[6] माण्डूकी शिक्षा में भी लकार और हकार के संयोग होने पर कुर्विणी स्वर भक्ति कही गई है।[7] यथा—बल्हिकेषु न्योचरः।[8] याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार रेफ और शकार के मध्य होने वाली स्वर भक्ति हरिणी है।[9] यथा—दर्शतम्।[10] किन्तु माण्डूकी शिक्षा में ऋकार और षकार के संयोग से निष्पन्न हरिणी स्वर भक्ति कही गई है।[11] यथा—बृषण्यत्तयाः।[12]

---

1. करिणी रहयोर्योगे। —या०शि० 99 (शि०सं०)
2. या०शि० 100
3. करिणी रहयोर्विद्यात्। —मा०शि० 9/12
4. अ०सं० 10/9 /2
5. कुर्विणी लहकारयोः। —या०शि० 99 (शि०सं०)
6. या०शि० 100
7. कुर्विणी लहकारयो। —मा०शि० 9/12
8. अ०सं० 5/22/5
9. हरिणी रशयोर्योगे। —या०शि० 99 (शि०सं०)
10. या०शि० 101
11. हरिणी ऋषयो विद्याद्वारितां............................। —मा०शि० 9/12
12. अ०सं० 6/9/1

याज्ञवल्क्य शिक्षा में लकार और शकार के मध्य उत्पन्न होने वाली स्वर भक्ति हरिता कही गई है।[1] यथा—शतवल्शः।[2] माण्डूकी शिक्षा का भी कथन है कि लकार और शकार के संयोग होने पर जो स्वर भक्ति होती है वह हरिता संज्ञक कहलाती है।[3] यथा—शतवल्शा विरोह।[4] याज्ञवल्क्य शिक्षा में रेफ और षकार के मध्य होने वाली स्वर भक्ति हंसपदा कही गई है।[5] यथा—व्वर्षोव्वर्षीयसि।[6] माण्डूकी शिक्षानुसार रेफ और षकार के मध्य हंसपदा स्वर भक्ति कही गई है।[7] यथा—वर्षाः।[8] रेफ एवं शकार के संयोग होने पर काकिनी स्वर भक्ति कही गई है।[9] यथा—पार्श्वाभ्याम्।[10] याज्ञवल्क्य शिक्षा में काकिनी स्वर भक्ति का उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु लोमशी शिक्षा में काकिनी स्वर भक्ति का उल्लेख प्राप्त होता है।[11]

यदि सूक्ष्मतम् गवेषणात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षाग्रन्थों में प्रायः स्वर भक्ति के पाँच प्रकार ही स्वीकृत है। संयुक्त व्यंजन के उच्चारण में कठिनता

---

1. हरिता लशकारयोः। —या०शि० 99 (शि०सं०)
2. या०शि० 101
3. हरिता लशकारयोः। —मा०शि० 9/12
4. अ०सं० 6/30/2
5. या तु हंसपदानाम सा तु रेफषकारयोः। —या०शि० 100 (शि०सं०)
6. या०शि० 101
7. या तु हंसपदानाम सा तु रेफषकारयोः। —मा०शि० 9/13
8. अ०सं० 6/55/2
9. या तु रेफशकारो स्यात्काकिनी तां विनिर्दशेत्। —मा०शि० 9/13
10. अ०सं० 2/33/3
11. या तु रेफषकारोस्यात्काकिनी तां विनिर्दशेत्। —लो०शि० 2/4

का अनुभव किया जाता है। उसे समाप्त करने के लिए ही दोनों व्यंजनों में स्वर का आगम होता है। यह स्वरागम स्वर भक्ति पद से शिक्षा ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्यों में स्वर भक्ति का निरूपण किया गया है, किन्तु इसके उच्चारण काल की न्यूनता होने से स्वतन्त्र अक्षर का अभाव ही प्राप्त होता है।

**रङ्ग—**

रङ्ग शब्द की निष्पत्ति √रन्ज धातु में 'धञ्' प्रत्यय करने पर होती है। रङ्ग का शाब्दिक अर्थ रङ्गने का मसाला या रोगन है अर्थात् स्वर का अनुनासिक उच्चारण करना अर्थात् जिस वर्ण के उच्चरण में मुख में स्थित उच्चारणाङ्गों के साथ नासिका की भी अपेक्षा होती है। एवं जिसमें अनुनासिकत्व सदैव विद्यमान रहता हो, वह रङ्ग है।

प्रातिशाख्यों में अनुनासिक स्वर के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है।[1] किन्तु ऋग्वेद प्रातिशाख्य में अनुनासिक वर्णों के लिए 'रक्त' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[2] शिक्षा–ग्रन्थों में रङ्ग शब्द का भी उल्लेख मिलता है। अनुनासिक विशिष्ट वर्ण रङ्ग पद से कहा गया है। यहाँ रङ्ग से तात्पर्य है कि सभी अनुनासिक वर्ण रङ्ग पद से नहीं कहे गये अपितु जो नकार विकार के द्वारा अनुनासिक होता है वही

---

1. नकारस्य लोपरेफोष्मभावे पूर्वस्त स्थानादनु नासिकः स्वर। —ऋ०प्रा० 4/80

   नासिकयोत्वनु षङगेऽनुनासिकम्। —ऋ०प्रा० 14/9

   नाकारं प्रागतोऽननुनासिकम्। —ऋ०प्रा० 10/10

   नकारस्य रेफोष्मयकार भावाल्लुप्यते च मलोपाच्च पूर्व स्वरोऽनुनासिकः। —तै०प्रा० 15/1

   उकारोऽपृक्तो दीर्घमनुनासिकम्। —वा०प्रा० 4/92

   न करम कारयोलोपे पूर्व स्यानुनासिकः। —च०अ० 1/67

2. रक्त संज्ञोऽनुनासिकः। —ऋ०प्रा० 1/36

रङ्ग पद से कहा गया है। नारदीय शिक्षा में अनुनासिक वर्णों के लिए रक्त संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[1] माण्डूकी शिक्षा में रङ्ग के स्थान पर रक्त संज्ञा का व्यवहार किया गया है। यहाँ पूर्व में नकार पद और बाद में स्वर हो, उस समय जो अनुनासिक होता है, वही रक्त पद से समझा जाता है। किन्तु पूर्व अक्षर ग्रसनीय नही है ऐसा भी शिक्षाकार का निर्देश है।[2] यथा–ब्रह्म देवाँ अनु।[3] यहाँ अनुनासिक रक्त होता है। शिक्षानुसार रङ्ग वर्ण जब विवृत्ति के साथ होता है। वहाँ अन्य व्यंजन को ही पद समझना चाहिए।[4] यथा–गोमानश्ववानयमस्तु।[5] याज्ञवल्क्य शिक्षा[6] एवं पाणिनीय शिक्षा[7] में रङ्ग पद को नासिकीकृत स्वर कहा गया है। जिसमें पूर्ववर्ती वर्ण स्वर का ग्रहण नहीं होता है। अनुनासिकी कृत स्वर का प्रथम वर्ण प्रायः दीर्घ होता है। इसमें स्वर का उच्चारण पहले तथा नासिक्य ध्वनि का उच्चारण बाद में होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नासिक्य गुण से युक्त स्वर नासिक्य के प्रभाव से रङ्गत्व को प्राप्त हो जाता है जो रङ्ग कहलाता है।

---

1. नकारान्ते पदे पूर्व स्वरे च परतः स्थिते।
   अकारं रक्तमित्या हुर्नकारेण तु रज्यते।। —ना०शि० 2/3/5
2. नकारान्ते पदे पूर्वे स्वरे च परसंस्थिते।।
   रक्तं वर्णं विजानीयान्न ग्रसेत्पूर्वमक्षरम्।। —मा०शि० 10/7
3. अ०सं० 10/2/23
4. व्यंजनान्तं विजानीयाद्गोमाँ इति निदर्शनम्। —मा०शि० 10/8
5. अ०सं० 6/68/3
6. रङ्गे चैव समुत्पन्नेन ग्राह्य पूर्वमक्षरम्।
   स्वरं दीर्घं प्रयुज्जोत पश्चात्नासिक्यमाचरेत्।। —या०शि० 189 (शि०सं०)
7. रङ्ग वर्णं प्रयुज्जोरन्नोग्रसेत्पूर्वमक्षरम्।
   दीर्घ स्वरं प्रयुजोयात्पश्चान्नासिक्यमाचरेत्। —पा०शि० 27

रङ्ग का उद्भव स्थान–

रङ्ग की उत्पत्ति नासिका से कही गई है। जैसा कि प्रातिशाख्यों में उल्लेख मिलता है कि रक्त वर्णों का मुख एवं नासिका दोनों के सहयोग से उच्चरित होने वाला स्वीकार किया गया है।[1] शिक्षाओं में भी रङ्ग का उद्भव स्थान कहा गया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में रङ्ग नासिका मूल से उद्भृत है।[2] किन्तु पाणिनीय शिक्षा[3] एवं नारदीय शिक्षा[4] के अनुसार रङ्ग का उद्भव ह्रदय से होता है। माण्डूकी शिक्षा में रङ्ग की उत्पत्ति नासिका से कही गई है। किन्तु इनका उच्चारण काँस्यपात्र ध्वनि की तरह मृदु (स्निग्ध) एवं द्विमात्रिक होना चाहिए। यथा–वृष्टिमां।[5] नारदीय शिक्षा[6], पाणिनीय शिक्षा[7] एवं याज्ञवल्क्य शिक्षा[8] में भी रङ्ग का उच्चारण द्विमात्रिक काल वाला कहा गया है।

---

1. रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम्। —ऋ०प्रा० 13/20

   अनुनासिकानां मुखनासिकम्। —च०अ० 1/27

   नासिकाविवरणादानुनासिक्यम्। —तै०प्रा० 2/52

   मुखनासिकाकरणोऽनुनासिकः। —वा०प्रा० 1/75

2. द्विमात्रो मात्रिको वाऽपि नासामूलं समाश्रितः। —या०शि० 191 (शि०सं०)

3. ह्रदयादुत्करे तिष्ठन्काँस्येन........................। —पा०शि० 29

4. ह्रदयादुत्तिष्ठते रङ्ग कांस्येन....................। —ना०शि० 2/3/8

5. नासादुत्पद्यते रङ्ग कांसेन समनिस्वनः।

   मृदुश्चैव द्विमात्रं स्यात् वृष्टिमाँ इति निदर्शनम्।। —मा०शि० 10/10

6. ह्रदयादुत्तिष्ठते रङग कांस्येन समनिः स्वरः।

   मृदुश्चैव द्विमात्रश्च दधन्वां इति दर्शनम्।। —ना०शि० 2/3/8

7. ह्रदये चैक मात्रस्तु अर्धमात्रस्तु मूर्धनि।

   नासिकायां तथार्धं च रङ्गस्यैवं द्विमात्रता।। —पा०शि० 28

8. द्विमात्रो मात्रिको वाऽपि नासामूलं समाश्चितः।

   अन्ते प्रयुज्यते रङ्ग पंचमैः सानुनासिकः।। —या०शि० 191 (शि०सं०)

किन्तु व्यास शिक्षा में रङ्ग का उच्चारण एक मात्रिक कहा गया है।[1]

रङ्ग का व्यवहार वेद में ही होता है, अतः रङ्गोच्चारण का विचार वेदों के उपकारक शास्त्रों में ही होता है। वस्तुतः अनुनासिक विशेष को मान करके कुछ विशेष उच्चारण विधि को प्रतिपादित करने के लिए एक रूप से अनुनासिक विशेषों के संग्रह के लिए ही रक्त अथवा रङ्ग शब्द शिक्षाओं एवं प्रातिशाख्यों में प्रतिपादित किया गया है।

रङ्ग वर्ण समाम्नाय के वर्णों से अतिरिक्त विजातीय वर्ण नहीं है किन्तु धर्म विशेष विशिष्ट वर्ण समाम्नायिक के ही वर्ण को माण्डूकी शिक्षा में रक्त या रङ्ग माना गया है। अतः स्पष्ट है कि रङ्ग का उद्भव स्थान हृदय एवं उच्चारण स्थान नासिका है। क्योंकि हृदयाकाश से उद्भूत यह मूर्धा से होकर परवर्ती नासिक्य ध्वनि के प्रभाव से नासिका से उच्चरित होता है।

**रङ्ग की उच्चारण विधि–**

रङ्ग के उच्चारण में शिक्षा–ग्रन्थों में पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। रङ्ग वर्ण किस प्रकार उच्चारण करने योग्य होता है? इस उत्कंठा में माण्डूकी शिक्षा में कहा गया है कि सौराष्ट्र देश की नारियाँ सम्बोधन के विषय में ङकारहीन 'अराँ' इस प्रकार बोलती है, उसी प्रकार से रङ्ग भी उच्चरित होता है।[2] इसी प्रकार का उल्लेख अन्य शिक्षाओं में भी मिलता है। जहाँ कहा गया है कि सौराष्ट्र देश की नारियाँ 'अराँ' इस प्रकार का उच्चारण करती थी उसी प्रकार से रङ्ग का उच्चारण करना चाहिए।

---

1. व्यास शिक्षा 4/5
2. यथा सौराष्ट्रिका नारी अराँइत्यभिभाषते।

   एवं रङ्ग प्रयोक्तव्या ङकार परिवर्जिताः।। —मा०शि० 10/9

किन्तु यहाँ भी ङकार का निषेध किया गया है।[1] सम्भवतः पदान्त अनुनासिक का उच्चारण सौराष्ट्र देश की नारियाँ अत्यधिक शुद्धता से किया करती थी, इसलिए रङ्ग का उच्चारण इसी रूप को आदर्श मानकर प्रायः सभी शिक्षा–ग्रन्थों में स्वीकार किया गया है।

**अभिनिधान–**

'अभि' एवं 'नि' उपसर्ग पूर्वक √धा धातु के योग से 'अभिनिधान' शब्द निष्पन्न होता है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'समीप में रखना' है। अर्थात् जब संयोग का प्रथम व्यंजन समीपता को प्राप्त करता है, तब उसका उच्चारण परवर्ती व्यंजन से संयुक्त करके नहीं किया जाता हैं। तब उस समय प्रथम व्यंजन के पश्चात् अल्प विराम के बाद परवर्ती वर्ण का उच्चारण किया जाता है। प्रथम व्यंजन को परवर्ती व्यंजन से संयुक्त करके उसे मात्र उसके समीप रख दिया जाता है। प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा–ग्रन्थों में अभिनिधान का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में अभिनिधान आगम माना गया है। अतः उसका निर्वचन वहाँ आरोपण प्रक्षेप शब्द के द्वारा किया गया है।[2] जिसका अर्थ समीप स्थान होता है अर्थात् संयुक्त का प्रथम व्यंजन उससे परे व्यंजन के साथ नहीं होता है। इसीलिए प्रथम व्यंजन द्वितीय से असंयुक्त होने के कारण विद्वानों ने अभिनिधान कहा है।

---

1. यथा सौराष्ट्रिकानार्य अरौँ इत्यभिभाषते।
   एवं रङ्गः प्रयोक्तव्यो नारदस्यमतं यथा।। –ना०शि० 2/3/9
   यथा सौराष्ट्रिकानारी अराँऽइत्यभिभाषते।
   एवं रङ्गः प्रयोक्तव्यो...............................।। –या०शि० 190(शि०सं०)
   यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्राँऽइत्यभिभाषते।
   एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः रवेअराँ इव रवेदया।। –पा०शि० 26
2. अभिनिधीयते इति अभिनिधानः। आरोपणीय इत्यर्थः।–तै०प्रा० (त्रि०र०) 14/9
   अभिनिधीयते प्रक्षिप्यते इत्यभिनिधानः।। –तै०प्रा० (वै०) 14/9

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में विच्छेद शब्द अभिनिधान के लिए प्रयोग किया गया है।[1] चतुरध्यायिका में अभिनिधान को आस्थापित नाम से माना गया है।[2] चारायणीय शिक्षा में 'भक्ष्य' या 'भुक्त' का प्रयोग किया गया है।[3] यहाँ भुक्त पद का क्या आशय है? इस प्रश्न के समाधान में कथन है कि अभिनिधान को प्राप्त होने वाला वर्ण अपने समीप वाले वर्ण के द्वारा कुछ अंशो में भुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अपने उच्चारण का कुछ भाग या अंश अपने समीपस्थ व्यंजन या विराम को अर्पण कर देता है। माण्डूकी शिक्षा में केवल जहाँ अभिनिधान अभिप्सित नहीं है। उन्हीं स्थलों को ही शिक्षाकार ने लिया है। यथा—दृप्सो, अप्सराय, अपशब्दे, विश्वप्स्न्या, विरप्शिने, काश्यप, इत्यादि पदों में अभिनिधान का प्रतिषेध किया गया है।[4] यहाँ भी अभिनिधान का आगम स्वीकार किया गया है। माण्डूकी शिक्षा में इसके अतिरिक्त अन्य कोई विशेष उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता है। परन्तु चतुरध्यायिका की सहायता से अभिनिधान के स्वरूप के विषय में कहा जाता है। सामान्य रूप से वर्णो का संधारण एवं संवरण अभिनिधान के लिए प्रयोग किया गया है। अर्थात् वेद में संयुक्त पद के स्पष्ट उच्चारण के लिए विच्छेद होता है। तभी दोनों वर्णों में प्रथम का उच्चारण मन्द स्वर से एवं अन्य का उच्चारण उच्च स्वर से होता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में स्पर्श वर्णों एवं रेफ—व्यतिरिक्त अन्तस्थ (य्,ल्,व्) वर्णों के अभिनिधान कहे गये है[5],

---

1. विच्छेदात्स्पर्शोष्मपराच्चघोषिणः। —ऋ०प्रा० 6/47
2. आस्थापितं च। —च०अ० 1/48
3. ......................भुक्ता भुक्ताश्चैव....................। —चारा०शि० 8/8

   ....................भक्ष्य........................................। —चारा०शि० 8/8
4. दृप्सौऽप्सरायामप् शब्दे विश्वप्स्यनात्र विरप्शिने।

   काश्यपोऽभिनिधातानामागमं प्रतिषेधनात्।। —मा०शि० 12/1
5. अभिनिधानं कृतसंहितानां स्पर्शान्तस्थानामपवाद्यरेफम्।

   संधारणं संवरणं श्रुतेश्च स्पर्शोदयानाम्। —ऋ०प्रा० 6/17

किन्तु चतुरध्यायिका में स्पर्श वर्ण का स्पर्श से परे अभिनिधान समझा गया है।[1] यथा—मरूद्भिः। इस पद के द्वारा अभिनिधान देखा जाता है। व्यंजन का पृथक्करण अभिनिधान होता है। अभिनिहित और ध्वनि पीड़ित श्वासनाद हीन बोध्य है।[2] यहाँ स्पर्श के परे रहते पदान्त और अवग्रहों में भी अभिनिधान होता है।[3] चतुरध्यायिका में लकार ऊष्मों में भी अभिनिधन माना है।[4] यथा—विहल्होनाम।[5] यही हकार के परे ङ,ण,न ये अभिनिहित होते हैं।[6] यथा—प्रत्यङ्हि।[7] णकार, हकार के परे रहते अथर्व संहिता में अप्राप्त होता है। तो कैसे चतुरध्यायिका में णकार का हकार के परे रहते अभिनिधान कहा गया है। यह विषय अवश्य गवेषणा योग्य है। सम्भवतः अन्य शाखाओं में इस स्थल को प्राप्त करके ही अभिनिधान कहा गया है।

अभिनिधान में संयुक्त व्यंजनों में प्रथम के उच्चारण के बाद थोड़ा विराम लेकर द्वितीय का उच्चारण होता है। जिससे दोनों में कुछ पृथक करण विराम देखा जाता है, इसीलिये अभिनिधान के लिये आस्थापित विच्छेद का प्रयोग देखा जाता है। वस्तुतः अभिनिधान संयुक्त वर्णों का ही विशिष्ट रूप है। किन्तु दोनों में एकता नहीं है, क्योंकि संयुक्तों का परस्पर व्यवधान रहित उच्चारण होता है अर्थात् प्रथम व्यंजन के उच्चारण के बाद दूसरे का उच्चारण होता है। किन्तु अभिनिधान में प्रथम के उच्चारण के बाद कुछ विराम लिया जाता है, इसके बाद द्वितीय उच्चारित होता है। इसीलिए दोनों व्यंजनों में कुछ व्यवधान आ जाता है, इस प्रकार अभिनिधान संयुक्त वर्णों का असंयुक्त उच्चारण होता है। यथा—मरूद्भिः। इस पद में दकार एवं भकार को बिना किसी प्रकार के अन्तर्वर्ती

---

1. स्पर्शस्य स्पर्शेऽभिनिधानः। —च०अ० 1/44
2. व्यंजनविधारणमभिनिधानः पीडितः सन्नतरोहीनश्वासनादः। —च०अ० 1/43
3. पदान्तावग्रहयोश्च। —च०अ० 1/45
4. लकारस्योष्मसु। —च०अ० 1/46
5. अ०सं० 6/16/2
6. ङ्ण्नानां हकारे। —च०अ० 1/47
7. अ०सं० 4/19/7

विराम के उच्चरित किया जायेगा, तब उनमें अभिनिधान नहीं होगा। किन्तु जब दकार को भकार से कुछ अलग करके थोड़ा दबाकर उच्चरित करेंगे तब दकार का अभिनिधान हो जायेगा। इस प्रकार उच्चारण में दकार तथा भकार के मध्य अत्यल्प विराम का आगम हो जाने से दकार का पूर्ण उच्चारण नहीं हो पाता है।

अभिनिधान में प्रथम व्यंजन ध्वनि को मिलाकरके उसके स्पष्ट उच्चारण में आश्चर्य नहीं हैं। क्योंकि वर्णों के उच्चारण में जो तीव्रता होती है, वह स्वर के योग से ही होती है। अन्यथा अर्द्ध मात्रिक व्यंजन का अस्पष्ट ही उच्चारण होता है, इसीलिए व्यंजन अवरोध ध्वनि सम्पीडित अस्पष्ट उच्चारण आदि गुणों से युक्त अभिनिधान संयुक्त व्यंजन का ही विशिष्ट उच्चारण है। इस कथन के कहने में कोई क्षति नहीं है। यद्यपि माण्डूकी शिक्षा में अभिनिधान के लक्षण का अभाव दृष्टिगोचर होता है। किन्तु चतुरध्यायिका में निहित अभिनिधान विषयक सिद्धान्त माण्डूकी शिक्षा में भी स्वीकार किए गए है।

**अवग्रह–**

वैदिक वाङ्मय में मन्त्रों के पद पाठ में असमस्त पदों की प्रकृति प्रत्यय प्रदर्शन के लिए विच्छेद किया जाता है। और समस्त पदों के पूर्व उत्तर विभाग के प्रदर्शनार्थ मध्य में जायमान विच्छेद ही अवग्रह नाम से ज्ञेय है। शिक्षा–ग्रन्थों में अवग्रह पद का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।[1]

---

1. उदात्तावग्रहाद्यस्तु.................................। –या०शि० 82

.................................भवेन्नीचस्त्ववग्रह।। –या०शि० 84

अवग्रहात्परं.......................................।

.........................................यद्यवग्रहः।। –ना०शि० 2/1/4

..............................नीचावग्रहमेव च।। –मा०शि० 6/5

...........................यस्तुंपदादवग्रहेषु च। –मा०शि० 8/6

...........................नीचोऽस्ति यदवग्रहः।। –मा०शि० 7/9

..............................संयोगावग्रहेषु च।। –मा०शि० 8/7

माण्डूकी शिक्षा में अवग्रह के विषय में कहा गया है कि अवग्रह जहाँ होता है वहाँ उच्चारण अर्द्ध मात्रिक काल विराम होता है।[1] चतुरध्यायिका में अवग्रह के काल विचार का अभाव देखा जाता है तथापि इस प्रकार का विवेचन अवश्य है कि जिस पद में दो अथवा उससे अधिक उपसर्ग हो वहाँ प्रथम उपसर्ग ही अवग्रह से पृथक होता है।[2] यथा–उपाऽवेति = उप+अव+एति। यहाँ तीनों अंश विद्यमान है। उनमें दोनों उपसर्ग उनके मध्य में प्रथम अवग्रह के बाद प्रथम होने पर उपऽअवेति होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण पाद अवग्रह से ही विवेचित है। किन्तु कहीं अवग्रह का एक मात्रिक काल भी कहा गया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में अवग्रह ह्रस्व समकाल माना गया है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से शिक्षा प्रातिशाख्यों में काल के विषय में अवग्रह की विषमता को देखा जाता है। किन्तु शाखानुरोध से यह विषमता दृष्टिगोचर होती है।

**समापाद्य–**

समपूर्वक आ पूर्वक पद् धातु में 'ल्यप्' प्रत्यय करने पर समापाद्य शब्द निष्पन्न होता है। सामान्य रूप से संहिता पाठ में विकारत्व को उत्पन्न करने वाले पद पाठ में अपने मूल रूप को प्राप्त होते है, तब वह समापाद्य संज्ञक होता है।

माण्डूकी शिक्षा में समापाद्य का उल्लेख प्राप्त होता है। शिक्षानुसार जिस पद में षत्व, णत्व, उपाचार दीर्घी भाव इत्यादि होते है तो ऐसे पद समापाद्य संज्ञक होते है।[4] माण्डूकी शिक्षा में समापाद्य के विषय में दिशा मात्र प्रदर्शित की गई है। किन्तु समापाद्य का वृहद विवेचन चतुरध्यायिका में मिलता है। इस प्रातिशाख्य में समापाद्य को

---

1. अवग्रहेऽर्द्ध मात्रम् स्यात्........................। –मा०शि० 13/2
2. पूर्वेणावग्रहेण। –च०अ० 4/7
3. समासेऽवग्रहो ह्रस्व समकालः। –वा०प्रा० 5/1
4. षत्वणत्वमुपाचारो दीर्घीभावस्तथैव च।
   यस्मिन् पदे निपद्यन्ते तत्समापाद्य लक्षणम्।। –मा०शि० 10/6

समापत्ति संज्ञा दी गई है।[1] समापाद्य के स्वरूप के विषय में यह प्रातिशाख्य मौन स्वीकार करता है। किन्तु ऋग्वेद प्रातिशाख्य में समापाद्य के स्वरूप का विवेचन किया गया है। प्रातिशाख्यानुसार व्यालि, शाकल्य, एवं गार्ग्य आदि आचार्य णत्व तथा णतव सामवशीय भूत सन्धियों के उपाचार को समापाद्य संज्ञक कहा गया है।[2]

चतुरध्यायिका में प्रधान रूप से समापत्ति ही समझी गई है। प्रातिशाख्यानुसार पद पाठ में षत्व, णत्व का उपाचार दीर्घत्व टुत्व लोप इत्यादि के चर्चा के परिहार्यो का प्रकृति दर्शन समापत्ति होता है।[3] अर्थात् संहिता पाठ में सकार के स्थान पर षत्व, नकार के स्थान पर णत्व, कवर्ग एवं पवर्ग से पूर्व के विसर्जनीय का सकार भाव दन्त्य मूल की मूर्धन्यता, नकार का लोप इत्यादि विकार होता है। किन्तु पदपाठ में और क्रमपाठ में ये विकार मूल रूप को प्राप्त करते है। तब वह समापत्ति संज्ञक होता है। समापाद्य एवं समापत्ति में क्या भेद है? इस जिज्ञासा के समाधान में कहा जाता है कि संहिता पाठ में विकारत्व उपलप्स्यमान पदों का मूल रूप ही समापत्ति कहा गया है। एवं इसे ही समापाद्य पद से कहा गया है।

माण्डूकी शिक्षा में भी उपाचार की समापाद्य संज्ञा कही गई है परन्तु उपाचार शब्द का क्या अर्थ है? इस जिज्ञासा के समाधान में यह शिक्षा मौन हो जाती है फिर भी प्रातिशाख्य ग्रन्थों को देख करके कहा जा सकता है कि जहाँ उपाचरित सन्धि के कारण परिवर्तन हो जाए वही उपाचार नाम से समझा जाता है। एवं उपाचरित सन्धि में विसर्जनीय सकार होता है।

********

---

1. ........................समापाद्यान्तगतानाम्......................। —च०अ० 4/117

2. समापाद्यं नाम वदन्ति षत्वम् तथा णत्वं सामवशान् सन्धीन्।
उपाचारं लक्षणतश्च सिद्धमाचार्या व्यालिशाकल्य गार्ग्याः।। —ऋ०प्रा० 13/31

3. षत्वणत्वोपाचार दीर्घ टुत्वलोपान्पदानानां चर्चा परिहारयोः समापत्तिः।
—च०अ० 4/74

# सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


| क्र0सं0 | ग्रन्थनाम | लेखक/सम्पादक, प्रकाशक तथा प्रकाशन वर्ष |
|---|---|---|
| 1. | अष्टाध्यायी | –मोतीलाल बनारसी दास, चौक, वाराणसी |
| 2. | अमर कोश | –सम्पादक, कृष्ण जी गोविन्द, ओके पूना (1913) |
| 3. | अथर्व परिशिष्ट | –सम्पादक राम कुमार राय चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी |
| 4. | आपस्तम्ब धर्मसूत्र | –चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी |
| 5. | अथर्ववृहत्सर्वानुक्रमणिका | –चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी |
| 6. | अथर्व संहिता | –स्वाध्यायमण्डल पारडीनगर गुजरात प्रदेश |
| 7. | आपिशलि शिक्षासूत्र | –शिक्षासूत्र, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत हरियाणा |
| 8. | आपिशल शिक्षा | –सम्पादक युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर |
| 9. | आरण्य शिक्षा | –हस्तलिखित सरस्वती बिहार पुस्तकालय, हौज खास, नई दिल्ली |
| 10. | अमोघानन्दिनी शिक्षा | –शिक्षा संग्रह, सम्पादक युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृज सिरीज, वाराणसी |
| 11. | अवसान निर्णय शिक्षा | –शिक्षा संग्रह, सम्पादक युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी |
| 12. | अथर्व प्रातिशाख्य | –सम्पादक –सूर्यकान्त, मेहर चन्द्र लक्ष्मीदास दिल्ली, (1986) |
| 13. | अथर्ववेद परिशिष्टम् | –हस्तलिखित, सरस्वती बिहार पुस्तकालय, हौजखास, नई दिल्ली |

14. ऋक्तन्त्र —सम्पादक —डा0सूर्यकान्त, मेहर चन्द्र लक्ष्मीदास, दरियागंज, दिल्ली – 6 (1970)
15. ऋग्वेद संहिता —सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी
16. ऋग्वेद प्रातिशाख्य —सम्पादक —डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, 1970
17. ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी —सम्पादक —डा0 विजयपाल सावित्री देवी बागडिया ट्रस्ट, कलकत्ता (कोलकाता)
18. ऐतरेयाण्यक —आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना (पुणे)
19. ऐतरेय ब्राह्मण —सम्पादक —डा0 सुधाकर मालवीय, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी
20. ए क्रिटिकल स्टडी आफ संस्कृत फोनिटिक्स —डॉ0 विधाता मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
21. क्रिटिकल स्टडीज् इन फोनेटिक्स आव्जर्वेशन आफ इण्डियन ग्रामेरियन —डॉ0 सिद्धेश्वर वर्मा मंशीराम मनोहरलाल दिल्ली (1961)
22. क्रम सन्धान शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक —युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी (1893)
23. क्रम कारिका शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक —युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी (1893)
24. काल निर्णय शिक्षा —हस्तलिखित, सरस्वती बिहार पुस्तकालय, हौज खास, नई दिल्ली
25. काशिका —सम्पादक— स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी
26. कौहली शिक्षा —हस्तलिखित, सरस्वती बिहार पुस्तकालय हौजखास नई दिल्ली

27. केशवी शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक —युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी

28. कौशिक गृह्य सूत्र —तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना (पुणे)

29. गलदृक शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक —युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी

30. गणरत्नमहोदधि —श्री वर्धमान विरचित मोतीलाल वनारसी दास, दिल्ली

31. गोपथ ब्राह्मण —डा० इन्द्र दयाल सेठ अथर्ववेद भाष्य कार्यालय, 34, लूकर गंज, इलाहाबाद

32. गौतमी शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक— युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी

33. चान्द्रवर्ण सूत्र शिक्षा —सम्पादक —युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, हरियाणा

34. चरण ब्यूह —सम्पादक —अनन्त राम डोगरा शास्त्री, प्रकाशक— चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

35. चतुरध्यायिका —सं० विलियम डी० ह्विट्नी चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी (1962)

36. चरक संहिता —सं० डा० गंगासहाय पाण्डेय, ए०एम०एस०, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी

37. छान्दोग्योपनिषद् —उपनिषद संग्रह, मोतीलाल वनारसी दास, दिल्ली

38. छन्द सूत्र —चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी

39. तैत्तिरीय ब्राह्मण —आनन्दाश्रम, संस्कृत ग्रन्थावली, पूना (पुणे)

40. ताण्डय ब्राह्मण —चौखम्भा संस्कृत सिरीज वाराणसी

41. तैत्तिरीयारण्यक —आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना (पुणे)

42. तैत्तिरीयोपनिषद् —मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली

43. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य —सं0 आर0 साम शास्त्री एवं रङ्गाचार्य (वैदिकाभरण एवं त्रिभाष्यरत्न सहित) मोतीलाल बनारसी दास, बगलोरोड जवाहर नगर, दिल्ली 19

44. तैत्तिरीय संहिता —गंगाधर बापूराव, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली (1961)

45. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (माहिषेय भाष्य) —वी0 वैकटराम शर्मा, मद्रास विश्व विद्यालय, 1930

46. निरुक्त —सं0 —डा0 लक्ष्मण स्वरूप पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर

47. नाट्य शास्त्र —सं0 पं0 केदार नाथ, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी

48. नारदीय शिक्षा —शिक्षा संग्रह सं0 युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी

49. पाणिनीय शिक्षायाः शिक्षान्तरैः सह समीक्षा —डा0 मधुकर फाटक, चौखम्भा विद्या भवन , चौक, वाराणसी

50. पाणिनीय शिक्षा सूत्र —शिक्षा सूत्र, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ सोनीपत, हरियाणा

51. पाणिनीय शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक— पं0युगल किशोर व्यास बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी

52. पारि शिक्षा —हस्त लिखित, सरस्वती बिहार पुस्तकालय, नई दिल्ली

53. पाराशरी शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक— पं0 युगल किशोर व्यास बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी

54. पदकारिका रत्नमाला शिक्षा —हस्त लिखित सरस्वती बिहार पुस्तकालय नई दिल्ली

55. प्रश्नोपनिषद् —उपनिषत्संग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

56. भरद्वाज शिक्षा —प्रकाशक —भण्डारकर, प्राच्य विद्या मन्दिर, पूना (पुणे)

57. भगवद् गीता —गीता प्रेस, गोरखपुर

58. मनः स्वार शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक—पं0 युगल किशोर व्यास, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी

59. मल्लशर्म शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक— पं0 युगल किशोर व्यास, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी

60. माडव्य शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक— पं0 युगल किशोर व्यास, चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी

61. माण्डूक्योपनिषद् —उपनिषत्संग्रह, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली

62. महाभाष्य —सम्पादक —गुरू प्रसाद शास्त्री, काशी

63. महाभारत —गीता प्रेस, गोरखपुर

64. माध्यनन्दिनी शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक— पं0 युगल किशोर व्यास चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी

65. माण्डूकी शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक— पं0 युगल किशोर व्यास चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी

66. माण्डूकी शिक्षा —पाणिनि, 4225— ए0 स्ट्रीट नं0 1, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली

67. मीमांस सूत्र —चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी

68. याज्ञवल्क्य शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक— पं0 युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज वाराणसी 1893

69. लोमशी शिक्षा –शिक्षा संग्रह, सम्पादक– पं0 युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी 1893

70. लक्ष्मीकान्त शिक्षा –हस्तलिखित, सरस्वती बिहार पुस्तकालय, हौजखास, नई दिल्ली

71. लघु माध्यनन्दिनी शिक्षा –शिक्षा संग्रह, सम्पादक– पं0 युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी (1893)

72. लध्वमोघानन्दिनी शिक्षा –शिक्षा संग्रह, सम्पादक– पं0 युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी (1893)

73. वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा –शिक्षा संग्रह, सम्पादक– पं0 युगल किशोर व्यास, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी (1893)

74. वासिष्ठी शिक्षा –शिक्षा संग्रह, सम्पादक– पं0 युगल किशोर व्यास, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी (1893)

75. व्यास शिक्षा –हस्तलिखित, सरस्वती विहार पुस्तकालय हौजखास, नई दिल्ली

76. वाजसनेयि प्रातिशाख्य –सम्पादक –डॉ0 वी0के0 वर्मा, ज्ञान प्रकाशन प्रतिष्ठान सी0के0 1/12 गंगमहल पटनीटोला, वाराणसी

77. वाजसनेयि प्रातिशाख्य –सम्पादक –वेंकटाराम शर्मा, मद्रास वि0वि0 1934

78. वाजसनेयि संहिता –सम्पादक –वेवर, वर्लिन, 1852

79. वायु पुराण –गुरूमण्डल ग्रन्थमाला, 5–क्लाइव रोड, कलकत्ता (कोलकाता)

80. विष्णु पुराण –गीता प्रेस, गोरखपुर

81. वेद सूत्र परिभाषा शिक्षा –शिक्षा संग्रह, सम्पादक– पं0 युगल किशोर व्यास, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी (1893)

82. वेदलक्षणानुक्रमणिका –हस्तलिखित, सरस्वती बिहार पुस्तकालय, हौजखास, नई दिल्ली

83. वैदिक ध्वनि विज्ञान –डॉ0 विजय शंकर पाण्डेय,अक्षयवट प्रकाशन, 26, बलराम पुर हाउस, इलाहाबाद–2 (1987)

84. वेद परिभाषा कारिका शिक्षा –शिक्षा संग्रह, सम्पादक– पं0 युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज वाराणसी (1893)

85. वैदिक स्वरित मीमांसा –पं0 ब्रज बिहारी चौबे, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी

86. वैदिक छन्दो मीमांसा –युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, हरियाणा

87. वैदिक वाङ्मय का इतिहास –पं0 भगवद् दत्त, प्रणव प्रकाशन, 1/28 पंजाबी बाग, नई दिल्ली

88. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति –आचार्य बलदेव उपध्याय, शारदा संस्थान, 37–वी, रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

89. वैदिक स्वर मीमांसा –युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, हरियाणा

90. वैदिक व्याकरण –डॉ0 रामगोपाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (1969)

91. वृहदारण्यकोपनिषद् –उपनिषत्संग्रह, मातीलाल बनारसी दास, दिल्ली

92. वैदिक व्याकरण (छात्र संस्करण) –ए0ए0 मैक्डानल, हिन्दी अनुवादक– डॉ0 सत्यव्रत शास्त्री प्रकाशक– मोतीलाल बनारसी दास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली – 1971

93. शैशरीय शिक्षा –हस्तलिखित, सरस्वती विहार पुस्तकालय हौजखास, नई दिल्ली

94. शमान शिक्षा —हस्तलिखित, सरस्वती विहार पुस्तकालय हौजखास, नई दिल्ली

95. शम्भु शिक्षा —हस्तलिखित, सरस्वती विहार पुस्तकालय हौजखास, नई दिल्ली

96. शतपथ ब्राह्मण —आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना (पुणे)

97. शौनक चतुरध्यायिका —हस्तलेख, सरस्वती भवन सं0सं0 वि0वि0 वारणसी

98. शिक्षा ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन —डॉ0 रामेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, वेदमणि प्रकाशन 141 / 59, आलोपीबाग, इलाहाबाद

99. षोडशश्लोकी शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक— युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी 1893

100. स्वरांकुश शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक— युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी 1893

101. स्वराष्टक शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक—युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी (1893)

102. स्वर भक्ति लक्षण शिक्षा —शिक्षा संग्रह, सम्पादक— युगल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सिरीज, वाराणसी (1893)

103. स्वर व्यंजन शिक्षा —भण्डारकर प्राच्य अनुसन्धान संस्थान, पूना(पुणे)

104. सर्व सम्मत शिक्षा —हस्तलिखित, सरस्वती विहार पुस्तकालय, हौजखास, नई दिल्ली

105. सिद्धान्त शिक्षा —हस्तलिखित, सरस्वती विहार पुस्तकालय , हौजखास, नई दिल्ली

106. सिद्धान्त कौमुदी —भट्टोजि दीक्षित चौखम्भा संस्कृत सिरीज वाराणसी 1959